



यू.जी.सी. के नवीन दिशा-निर्देशों के अनुरूप प्रकाशित
UGC Approved Journal No. 49359 (Old)

PADCHINHA

A MULTIDISCIPLINARY PEER REVIEWED & REFEREED JOURNAL

March 2026

Volume: 15

Issue: 3

Impact Factor (IIFS): 8

ISSN 2231-1351

UGC Approved Journal No. 49359 (Old)

यू.जी.सी. के नवीन दिशा-निर्देशों के अनुरूप प्रकाशित

PADCHINHA

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal

March 2026 Volume: 15 Issue: 3

EDITOR

DR. AJAY PARMAR

B-30/239 Nagavan, Lanka, Varanasi - 221005

CO-EDITOR

DR. PANKAJ KUMAR SINGH

Mudit Shiksha Sanstha, Trimurti Nagar

Wardha (Maharashtra) PIN Code - 442001

Contact: 9823696685

E-mail: padchinha@muditeducation.com

Note:

- The views expressed in the journal "Padchinha" are not necessarily the views of peer reviewing board or publisher. Neither any member of the peer reviewing board nor publisher can in anyway be held responsible for the views and authenticity of the articles, reports or research findings.
- All disputes are subject to Varanasi jurisdiction only.

www.muditeducation.com/padchinha

संपादक-मंडल/ रेफेरीड बोर्ड

प्रो. प्रेमनारायण सिंह

निदेशक

अंतर विश्वविद्यालय अध्यापक शिक्षा केंद्र
बी. एच. यू. वाराणसी (उ. प्र.) पिन - 221005

प्रो. नृपेन्द्र प्रसाद मोदी

पूर्व अधिष्ठाता, संस्कृति विद्यापीठ
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन - 442001

डॉ. मनोज कुमार राय

एसोसिएट प्रोफेसर, गांधी एवं शांति अध्ययन विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन - 442001

डॉ. गोविन्द प्रसाद वर्मा

सहायक प्रोफेसर, मानविकी और भाषा संकाय
महात्मा गांधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, मोतिहारी
(बिहार) पिन - 845401

डॉ. अनिल कुमार

वरीय सहायक प्राचार्य, स्नातकोत्तर अर्थशास्त्र विभाग
भूपेन्द्र नारायण मंडल विश्वविद्यालय, पश्चिमी परिसर
पी.जी. सेंटर सहरसा, बिहार. पिन : 852201

डॉ. रणजीत कुमार

सहायक प्रोफेसर, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग
मौलाना मजहूरल हक अरबी व फारसी विश्वविद्यालय
पटना (बिहार) पिन - 800001

डॉ. प्रदीप त्रिपाठी

सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग
सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक
(सिक्किम) पिन - 737102

प्रो. अमरेन्द्र त्रिपाठी

प्रोफेसर, हिंदी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
(उत्तर प्रदेश) पिन - 211002

डॉ. धीरेन्द्र कुमार राय

सहायक प्रोफेसर, पत्रकारिता एवं जनसंप्रेषण विभाग
काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ. प्र.) - 221005

डॉ. निमिषा त्रिपाठी

असिस्टेंट प्रोफेसर-सह-अध्यक्ष,
स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, डोरण्डा महाविद्यालय, राँची

डॉ. राम मनोहर मिश्र

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
अकबरपुर महाविद्यालय, अकबरपुर
कानपुर देहात (उ.प्र.) पिन : 209101

रवीन्द्र पाण्डेय

हिंदी विभाग, दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय,
गोरखपुर (उ. प्र.) पिन - 273009

सलाहकार समिति

डॉ. राजीव रंजन गिरि

एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, कला संकाय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली - 110007

डॉ. रवेन्द्र राजपूत

एसोसिएट प्रोफेसर, शिक्षक-शिक्षा विभाग
श्री वाष्णोय महाविद्यालय, अलीगढ़
उत्तर प्रदेश. पिन - 202001

डॉ. निशीथ राय

सहायक प्रोफेसर, मानवविज्ञान विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन - 442001पदचिन्ह के लिए प्रकाशक अजय परमार, बी.- 30/239, नगवां, लंका वाराणसी द्वारा प्रकाशित और सूर्या
आफसेट, 30, विवेकानंद कालोनी, मलदहिया, वाराणसी में मुद्रित। संपादक : अजय परमार

यू.जी.सी. के नवीन दिशा-निर्देशों के अनुरूप प्रकाशित

पदचिन्ह PADCHINHA

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal

मार्च (March) 2026 वर्ष (Vol.): 15 अंक (Issue): 3

अनुक्रम

संपादकीय	पृष्ठ संख्या
➤ A Study on the Interaction of Quality of Life, Emotional Intelligence and Motivation among Adolescent Learners of Varanasi District _Geetam Mishra _Dr. Udayan Misra	01-08
➤ वैश्विक तापमान वृद्धि के भौतिक कारणों एवं प्रभावों का अध्ययन _मयंक कुमार _ठकेश्वर	09-14
➤ AI आधारित बैंकिंग सेवाओं का वित्तीय समावेशन एवं ग्राहक संतुष्टि पर प्रभाव : दुर्ग एवं रायपुर जिले के संदर्भ में अध्ययन _गौरव जायसवाल	15-21
➤ बालोद जिले के लोक-उत्सवों और ऐतिहासिक स्थलों के बीच सांस्कृतिक संबंध _विनय साहू _डॉ. अजय कुमार सिंह	22-27
➤ थारू जनजाति : परिवेश एवं प्राकृतिक चित्रण _अवधेश कुमार	28-32
➤ महिला सशक्तिकरण वर्ष की घोषणा के पूर्व तथा पश्चात् में किये गये कार्य _शुभम त्रिपाठी _डॉ. आशा रानी दास	33-36
➤ डिजिटल स्वास्थ्य सेवाओं (टेलीमेडिसिन, ऐप) का उपयोग : पटना शहर और ग्रामीण क्षेत्र का तुलनात्मक विश्लेषण _डॉ. अजीत कुमार	37-40
➤ भारतीय लघु चित्रकला में प्रतीकवाद : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन _विनोद नानाजी चव्हाण _डॉ. शशिकांत एस. रेवडे	41-45
➤ गांधी और अंबेडकर की द्वंद्वतात्मकता _डॉ. कुलदीप पाण्डेय	46-50
➤ 'अशोक के फूल' निबंध के आधार पर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की सांस्कृतिक दृष्टि _विष्णु	51-54
➤ समवकार के आश्रयदाताओं का परिचयात्मक अध्ययन _विवेकानंद	55-61
➤ Wealth Quintile Differentials in Women's Age at Marriage in Bihar _Babli Kumari	62-71
➤ स्याद्धाद _समकालीन मानव संकटों के समाधान की एक दार्शनिक पद्धति _विनय कुमार	72-78
➤ 'पत्ताखोर' उपन्यास में चित्रित आज के युवावर्ग का यथार्थ _लिपिपुष्पा नायक	79-82
➤ चंपारण सत्याग्रह : गांधीवाद का उदय और बिहार के लोगो का योगदान का एक अवलोकन _विकास कुमार	83-86
➤ Impact of Sumithion and Alphamethrine on Oxidative Stress Biomarkers and Acetylcholinesterase (AChE) Activity in the Brain of Freshwater Catfish _Dr. Neetu Singh	87-94
➤ वैश्वीकरण और स्त्री अस्मिता के प्रश्न _डॉ. रीतेश रावत	95-98
➤ एक राष्ट्र, एक चुनाव (One Nation One Election): 130वें संविधान संशोधन विधेयक के संवैधानिक निहितार्थ और व्यावहारिक चुनौतियाँ _महेन्द्र कुमार मेघवाल	99-106
➤ पटना प्रमंडल में ग्रामीण एवं कृषि पर्यटन की भौगोलिक संभावनाएँ _डॉ. मनु कुमार	107-111
➤ डिजिटल पंचायत (ई-ग्राम स्वराज, जियो टैगिंग) और ग्रामीण समाज की तकनीकी सहभागिता की चुनौतियाँ : इटाही का भविष्य परिदृश्य _डॉ. कुमारी प्रियंका राज	112-116
➤ आदिवासियों का हाशियाकरण : वैदिक कालीन ऐतिहासिक संदर्भ _डॉ. संजीव कुमार झा	117-122
➤ आधुनिक भारत में सांप्रदायिकता का विकास : एक अध्ययन _धर्मेन्द्र कुमार	123-126
➤ लूर पत्रिका के संदर्भ में उत्तरी भारत में जंतसार गीतों की महत्ता _वर्तिका तिवारी _डॉ. सुमित कुमार मीना	127-131

यू.जी.सी. के नवीन दिशा-निर्देशों के अनुरूप प्रकाशित

पदचिन्ह PADCHINHA*A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal***मार्च (March) 2026 वर्ष (Vol.): 15 अंक (Issue): 3**

- हिंदी गीति परंपरा का स्वरूप एवं विकास _शिवदत्त द्विवेदी 132-137
- फ्रांसीसी प्रतीकवाद काव्यधारा की पृष्ठभूमि _डॉ. मुरारी कुमार सुमन 138-144
- अनसुने वीर : बांका के वे शहीद जिन्होंने स्वतंत्रता की लौ प्रज्वलित रखी _डॉ० संजीव कुमार रंजन 145-150
- संथाल विद्रोह : आक्रोश की जड़ें और उसके परिणाम _डॉ० राजेंद्र कुमार 151-156
- आधुनिक भारतीय इतिहास में औद्योगिक विस्तार और सामाजिक संरचना का परिवर्तन : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन _डॉ० दयानन्द कुमार यादव 157-162
- भारतीय नारीवाद का विकास : औपनिवेशिक काल से लेकर वर्तमान युग तक _Sanjay Kumar Gupta 163-166
- गढ़चिरोली जिले में आदिवासी समुदाय के विकास के मुद्दे _Mahesh kistayya Durgam 167-173
- शरीर-श्रम और नयी तालीम : विनोबा दृष्टि _शंभू जोशी 174-178
- महिला सशक्तिकरण में 'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ' अभियान की प्रभावशीलता का अध्ययन
_विजय लक्ष्मी गौतम _डॉ. विजयेन्दु चतुर्वेदी 179-183
- 'गदर' उपन्यास में राष्ट्रीय चेतना और 1857 की क्रांति का चित्रण _हिमांचल 184-187
- The Theatre of Kavalam Narayana Panikkar: An Overview
_Darshan Satishchandra Purohit 188-193
- A Study on Role and Challenges of Medical Social Service Officer in Pediatrics Department
of Tertiary Health Setting _Vikas Bajpai 194-203
- A Study on Role and Challenges of Medical Social Service Officers in The Department of
Obstetrics & Gynecology _Dr. Deepika Chauhan 204-212
- NOTES FOR AUTHORS

संपादकीय

प्रिय पाठकों, शोधार्थियों एवं विद्वत्जनों,

मार्च 2026 का यह अंक आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे अत्यंत हर्ष का अनुभव हो रहा है। यह वर्ष का वह महत्वपूर्ण मोड़ है, जब हम विगत काल का आकलन करते हैं और भविष्य की दिशा निर्धारित करते हैं। आज के इस संपादकीय में मैं शोध की गुणवत्ता से जुड़े कुछ मूलभूत प्रश्नों पर चर्चा करना चाहता हूँ—चुनौतियाँ, समाधान, और नई दिशाएँ।

पिछले एक दशक में भारतीय शोध परिदृश्य में अभूतपूर्व विस्तार हुआ है। UGC के नए नियमों, शैक्षणिक प्रोन्नति की अनिवार्यताओं और वैश्विक प्रतिस्पर्धा ने शोध प्रकाशनों की संख्या में तीव्र वृद्धि की है। लेकिन यह प्रश्न गंभीर है—क्या संख्या के साथ गुणवत्ता भी बढ़ी है? दुर्भाग्यवश, उत्तर नहीं है। अनेक शोध पत्र मौलिकता से रहित हैं, उनमें पद्धतिगत दोष हैं, और वे किसी भी सार्थक ज्ञानवर्धन में योगदान नहीं देते।

हमें यह स्वीकार करना होगा कि प्रकाशन का दबाव शोध की गुणवत्ता पर भारी पड़ रहा है। शोधार्थी गहन चिंतन और दीर्घकालिक अनुसंधान के बजाय त्वरित प्रकाशन की ओर अग्रसर हो रहे हैं। यह प्रवृत्ति न केवल शैक्षणिक जगत के लिए, बल्कि समग्र राष्ट्रीय विकास के लिए भी चिंताजनक है।

वर्ष 2026 में हम एक ऐसे दौर में खड़े हैं जहाँ कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) ने शोध लेखन को पूरी तरह बदल दिया है। AI उपकरण कुछ ही मिनटों में सैकड़ों शब्दों का शोध पत्र तैयार कर सकते हैं। इस तकनीकी प्रगति ने एक नैतिक संकट को जन्म दिया है। क्या AI-निर्मित शोध पत्र को वास्तविक शोध माना जा सकता है? क्या यह शैक्षणिक ईमानदारी के दायरे में आता है?

पदचिन्ह और शोध खनिज जैसी प्रतिष्ठित पत्रिकाओं का दायित्व है कि वे इस दिशा में स्पष्ट नीति स्थापित करें। AI एक उपकरण हो सकता है—डेटा विश्लेषण, साहित्य समीक्षा, भाषा संशोधन में सहायक—परंतु शोध की मौलिकता, तार्किकता और नैतिकता मानव की ही जिम्मेदारी रहेगी। हम आगामी अंकों में AI के उपयोग से संबंधित स्पष्ट दिशानिर्देश प्रस्तुत करेंगे।

आधुनिक वैश्विक समस्याएँ—जलवायु परिवर्तन, सामाजिक असमानता, सार्वजनिक स्वास्थ्य संकट—किसी एक विषय के दायरे में नहीं समायोजित। इनके समाधान के लिए बहुविषयक दृष्टिकोण अनिवार्य है। पदचिन्ह इसी दर्शन के साथ कार्य करता है—विज्ञान, समाजशास्त्र, शिक्षा, अर्थशास्त्र, साहित्य और प्रबंधन के बीच की कृत्रिम दीवारों को समाप्त करना।

हमारा प्रयास है कि शोधार्थी अपने विषय की सीमाओं से ऊपर उठकर वैश्विक परिप्रेक्ष्य में सोचें। एक समाजशास्त्रीय शोध भौतिकी की अवधारणाओं से कैसे प्रभावित हो सकता है? एक आर्थिक मॉडल साहित्यिक चिंतन से कैसे समृद्ध हो सकता है? ये प्रश्न हमारी बहुविषयक दृष्टि का आधार हैं।

इस वर्ष हमने अपनी समीक्षा प्रक्रिया (Peer Review Process) को और अधिक कठोर और पारदर्शी बनाया है। प्रत्येक शोध पत्र का कम से कम दो स्वतंत्र समीक्षकों द्वारा मूल्यांकन किया जाता है। APA व MLA की स्वरूपण शैली का पालन, साहित्यिक चोरी (Plagiarism) की कड़ी जाँच और AI-सामग्री की अनिवार्य जाँच हमारी मानक प्रक्रिया का हिस्सा है।

हमारा लक्ष्य केवल प्रकाशन नहीं, बल्कि ज्ञान का सृजन है। एक शोध पत्र तभी सार्थक है जब वह किसी समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है, किसी सिद्धांत को नई दिशा देता है, या किसी प्रचलित धारणा को चुनौती देता है।

इस मार्च अंक में प्रकाशित सभी शोधार्थियों और सहयोगियों का हार्दिक स्वागत है। आपके शोध, आपकी मेहनत और आपकी जिज्ञासा ही इस पत्रिका की आत्मा हैं। हमें विश्वास है कि ज्ञान की यह यात्रा सतत चलती रहेगी, और आप सभी इसके अभिन्न भागीदार हैं।

डॉ. पंकज कुमार सिंह
सह-संपादक (पदचिन्ह)

A Study on the Interaction of Quality of Life, Emotional Intelligence and Motivation among Adolescent Learners of Varanasi District

GEETAM MISHRA*

DR. UDAYAN MISRA†

Introduction

Adolescence is a rapid developmental period characterised by enormous physical changes, as cognition evolves and emotions intensify. In addition to negotiating evolving identities, peer relations, and academic pressures during adolescence, young people develop lifelong attitudes towards learning and wellness. World Health Organisation Quality of Life Group (1998) refers to quality of life (QoL) as the broad-minded view of an adolescent's mental and physical state of health, emotional well-being, social connections and environment. The ability to perceive, understand, manage, and use emotions within oneself and other individuals is defined as emotional intelligence (EI) (Salovey & Mayer, 1997; Bar-On, 2000). Academic performance. An adolescent's drive, persistence in dealing with problems and their satisfaction from learning are manifested through the adolescent's motivation. The research question was to explore how the interaction of QoL, EI and motivation may have implications for intervention design that promotes resilient and engaged adolescent learners across various contexts. Quality of life comprises a broad perspective of emotional and psychological state of well-being, social connections, environmental circumstances, etc., influencing an adolescent's state of well-being (WHOQOL, 1998). Well-being is enhanced by factors such as home and school support, safe opportunities to play and feeling independent, whereas it is negatively impacted by such factors as crowding, lack of mental health services, or unsafe communities. Studies reveal that individuals with a higher quality of life experience less depression, improved school attendance, and positive peer relationships. However, there may be variations in these patterns across urban and rural settings due to disparities in resource allocation, cultural norms and differing environmental stressors. Emotional intelligence comprises a complex set of abilities to identify emotional perception, emotion facilitation of thought, emotion understanding, and emotion regulation (Mayer, Caruso & Salovey, 2000). EI adolescents will: Highly functional EI means strong emotional and psychological capacity and abilities in dealing with stress and resolving conflict effectively, and empathy, among other skills that promote better participation and learning in the classroom. Bar-On's perspective that skills that form a core foundation of successful functioning in school are emotion/social skills, stress management and interpersonal ability (Bar-On, 2000), echoes the adaptability and context of the EI model. Studies

* Department of Psychology, Mahatma Gandhi Kashi Vidyapeeth, Varanasi (U.P) 2211002

†Principal, LBS College, DDU Nagar, Chaudali

have consistently linked higher levels of EI to better grades and coping skills among students facing academic difficulty as well as maintaining intrinsic motivation for learning (Parker, Summerfeldt, Hogan & Majeski, 2004).

Review of Related Literature

Friedman, C. (2022) studied to determine the influence of continuity and security on the quality of life of adults with intellectual and developmental disabilities through Personal Outcome Measures interviews. There was a significant association between the higher level of continuity and security observed and the higher overall quality of life measure; additionally, around two-thirds of the specific outcome domains, such as health, relationships, and rights, were positively impacted.

Almajdoub, & et. al (2025) were concerned with the implementing of AI in quality assurance of education in Jordan, where they pointed out more on the two areas of academic success and social skills; the application of descriptive analytical approach provided them with a chance to carry out a survey which included a random sample consisting of 62 teachers (16.67% of the target population) who were made to fill in a questionnaire whose item means of 2.6 to 3.39. High teacher response consistency was revealed as a result of the study, and it was also reported that AI had a substantial impact on students' academic performance (mean = 3.50) while its influence on social skills development (mean = 2.58) was considerably less; no gender differences were noted.

Ersig, D., & Bynoe, T. (2025) conducted research analysing the role of mental health support interventions in schools on student learning, to determine the extent to which such supports contribute significantly to academic progress. The results point to the fact that mental health supports in schools that are effective can not only reduce the stigma and barriers but also increase the academic gain of the students measurably, though the impact may vary among different groups, which points to the necessity of personalised approaches.

Ayesha Anjum and Swathi (2017) conducted a research study to find out whether there exists a relationship between emotional intelligence (EI) and quality of life (QOL) or not. The researcher suggests that higher EI correlates with better QOL, but the relationship is weak in this sample; EI enhancement for teachers is recommended; however, limitations (small, localised sample, omitted background variables such as salary and experience) are acknowledged, and broader, controlled studies are urged.

Mugamami (2025) conducted a study involving 500 high-performing secondary school students (aged between 16 and 18 years) and measured the relationship between emotional intelligence (EI) and the ability to make decisions with the quality of life (QoL) through standardised self-report measures and various SPSS statistical analyses (reliability, correlations, regressions, mediation). The study revealed a positive correlation between EI, decision-making competence, and QoL, and the latter was found to be the strongest predictor of QoL, while EI reduced the support for the decision process and higher life satisfaction thus, the author was suggesting integrated interventions aimed at developing both emotional regulation and decision-making skills that would help in improving the resilience, academic persistence, and overall wellbeing of students.

Angel and Praveen Kumar (2020) surveyed 400 students of Kuwait University (200 men and 200 women; average age $\approx$ 21.38 years) to figure out how emotional intelligence (EI) relates to quality

of life (QoL). By applying the same EI and QoL criteria for the measurements, they discovered that the EI and QoL dimensions had a strong positive correlation and that the women had higher scores than men in both EI and QoL. The researcher of the paper argues that even if people do not have the necessary emotional skills, they could still benefit from such skills as enhancing one's quality of life through therapy; they also give methodological details and limitations (sampling, measures) that support their assertion.

Problem with their study

A Study on the Interaction of Quality of Life, Emotional Intelligence and Motivation among Adolescent Learners of Varanasi District.

Objectives of the Study

- To assess the relationship between Quality of life, Emotional intelligence, and academic achievement motivation among government & private school adolescents of Varanasi District.

Hypotheses of the Study

- There would be a significant relationship between Quality of life, Emotional intelligence and academic achievement motivation among government & private school adolescents of Varanasi District.

Population and Sample

The population under study is the government & private schools of the district. The sample under study is 400 adolescents in the age group 12-17 years from the Varanasi district. There are 200 urban adolescents and 200 rural adolescents in the sample under study. The purposive sampling method will be used for selecting the sample.

Table 1

Sample distribution: Purposive sampling

S.N.	School type	School	Male	Female	Total
1	Government School	Government Queens Intercollege	50	50	100
		Prabhu Narayanan Intercollege	50	50	100
2	Private school	St. Joseph's Convent School, Varanasi	50	50	100
		Sunbeam English School, Varanasi	50	50	100
	Total		200	200	400

Research Method:

The present study uses a quantitative method to assess the magnitude of the relationship between QoL, EI, and academic achievement motivation among adolescents of Varanasi District.

Research Analysis

H₀ There would be a significant relationship between Quality of life, Emotional intelligence and academic achievement motivation among government & private school adolescents of Varanasi District.

To test the proposed null hypothesis, the researcher selected 200 students from two government schools and 200 students from two private schools in the Varanasi district to serve as respondents. Upon assessing the data against the characteristics of the Normal Probability Curve, it was observed that the obtained data were not normally distributed; therefore, a non-parametric test, specifically the Spearman Rank Order correlation, will be employed by the researcher to test the hypothesis. The results are as follows

Table 2**Result of Hypothesis**

Variable	QoL	EI	AAM
QoL	1.00	0.45**	0.42**
EI	0.45**	1.00	0.50**
AAM	0.42**	0.50**	1.00

N=200 government school adolescents of Varanasi District

**** p < 0.01**

A moderate positive correlation has been observed between quality of life and emotional intelligence among adolescents in government schools ($\rho = 0.45$). This implies that adolescents who possess a higher quality of life characterized by factors such as home and school support, a safe environment, good health, and social relationships, also tend to exhibit higher levels of emotional intelligence (the ability to understand, manage, and utilise one's own emotions as well as those of others). This relationship further suggests that if the quality of life of adolescents in government schools were to be improved, there would likely be a corresponding enhancement in their emotional intelligence. The same logic applies in the reverse direction: adolescents with a lower quality of life tend to exhibit lower levels of emotional intelligence.

A moderate positive correlation ($\rho = 0.42$) exists between quality of life and academic achievement motivation. This implies that adolescents who experience a high standard of living characterised by

a secure family environment, access to resources, and educational support are more motivated to learn, demonstrate greater perseverance in the face of difficulties, and actively pursue academic achievement. This relationship suggests that improving the quality of home and community life for adolescents in government schools could lead to an enhancement in their motivation to learn. Conversely, a poor quality of life (characterized by factors such as deprivation, insecurity, or family stress) can diminish motivation.

A high level of positive correlation ($\rho = 0.50$) has been observed between emotional intelligence and academic achievement motivation. This represents the strongest relationship among the three pairs. This implies that, among adolescents in government schools, the higher their emotional intelligence, the greater their motivation to learn. Adolescents with high EI persist in the face of stress, failure, or challenging circumstances; they are able to regulate their emotions and remain self-motivated toward their academic goals. This relationship suggests that if students' emotional intelligence is cultivated in government schools through initiatives such as empathy building, emotion management, and social skills training, it will have a direct positive impact on their academic motivation, which could ultimately lead to an improvement in their educational performance.

Table 3

Result of Hypothesis

Variable	QoL	EI	AAM
QoL	1.00	0.15**	0.12**
EI	0.15**	1.00	0.18**
AAM	0.12**	0.18**	1.00

N=200 private school adolescents of Varanasi District

**** $p < 0.01$**

A low positive correlation ($\rho = 0.15$) was found between quality of life and emotional intelligence among adolescents in private schools. Although this relationship is statistically significant, its strength is low. This means that a limited positive correlation exists between QoL and EI in private schools – adolescents with better quality of life have slightly higher emotional intelligence, but this relationship is not as strong as that observed in public schools. This is possibly due to other factors in private schools (e.g., greater facilities, coaching, family support) diluting the effect on QoL, or EI development occurring through different channels.

A very low positive correlation ($\rho = 0.12$) exists between quality of life and academic motivation. This correlation is statistically significant, yet extremely weak. In private schools, the quality of life of adolescents has a negligible impact on their motivation to learn. This may be attributed to the fact

that most students in private schools already enjoy relatively favourable living conditions; consequently, minor variations in QoL do not result in any notable changes in motivation. Other determinants of motivation, such as personal ambition, peer pressure, and parental expectations, may be more influential.

There is a low-to-moderate positive correlation ($r = 0.18$) between emotional intelligence and motivation. This is significantly lower compared to that observed in government schools ($r = 0.50$). In private schools as well, adolescents with higher emotional intelligence exhibit greater motivation to learn; however, this relationship is relatively weak. This implies that in private schools, factors other than emotional intelligence—such as competition, the evaluation system, and extrinsic rewards—exert a substantial influence on adolescents' motivation, thereby somewhat obscuring the independent impact of EI.

In private schools as well, all three correlations are positive and significant; however, they are all of a low magnitude (ranging from 0.12 to 0.18). The strongest correlation is between EI and AAM (0.18), followed by QoL and EI (0.15), while the weakest is between QoL and AAM (0.12). This stands in contrast to the higher correlations observed in government schools (0.42–0.50). It is evident from this that, in private schools, these variables operate more independently, whereas in government schools, they are more interconnected.

Fisher's z-transformation

Correlation coefficients (Spearman's ρ) for all three pairs of variables (QoL–EI, QoL–AAM, EI–AAM) across public ($n_1 = 200$) and private ($n_2 = 200$) schools were compared using Fisher's z-transformation. This method tests the statistical significance of the difference between two independent correlations.

Table 4

Fisher's z-transformation

Pair	Government ρ	Private ρ	Z _{calc}	p-value	Result
QoL – EI	0.45	0.15	3.31	< 0.001	Significant
QoL – AAM	0.42	0.12	3.25	< 0.001	Significant
EI – AAM	0.50	0.18	3.64	< 0.001	Significant

A comparison of the correlations between quality of life (QoL), emotional intelligence (EI), and academic achievement motivation (AAM) among adolescents in government and private schools reveals that these three variables are more strongly correlated in government schools, while the correlations are relatively weaker in private schools. For the first pair (QoL–EI), the correlation was moderately high ($\rho = 0.45$) in government schools, while it was low ($\rho = 0.15$) in private schools. This suggests that improvements in the quality of life have a greater impact on emotional

intelligence among adolescents in government schools, while this effect is limited in private schools – possibly where emotional intelligence is more influenced by other factors (e.g., family, coaching). The second pair (QoL–AAM) shows a similar pattern – a moderate correlation ($\rho = 0.42$) in government schools and a very low correlation ($\rho = 0.12$) in private schools. This suggests that the learning motivation of adolescents in government schools is more influenced by their quality of life; Other determinants of motivation (such as competition, high parental expectations) play a greater role in private schools. The third and most important pair (EI–AAM) has a high correlation ($\rho = 0.50$) in government schools, significantly higher than in private schools ($\rho = 0.18$). This suggests that developing emotional intelligence in government schools is a highly effective means of increasing academic motivation, while this relationship is weaker in private schools. All three differences were found to be statistically significant ($p < 0.05$) using Fisher's z-transformation. Overall, these three variables are more closely interconnected in government schools, so a holistic intervention (such as improving both QoL and EI) may be more beneficial. In private schools, these variables have relatively independent effects, so different strategies (such as competition, rewards, and career guidance) may be needed to increase motivation.

Discussion

This research investigates the link between Quality of Life (QoL), Emotional Intelligence (EI) and Academic Achievement Motivation (AAM) for adolescents in government and private schools. Spearman's correlations were performed for all variables for both school groups, and a significant positive link was found between all three variables. There were some interesting discrepancies when comparing school types; the link between the variables was strong in government schools (range 0.42 to 0.50) while weak in private schools (range 0.12 to 0.18), and differences were confirmed to be significant with the use of Fisher's z-test ($Z_{calc} > 3.2$, $p < 0.001$ for all 3 comparisons).

The link between the three variables is strongest for the students in government schools. It is possible that with students of the type found in government schools, an increase in one area leads to an increase in all three, due to the fact that they have come from many different backgrounds with limited resources. This then makes other people and their environment crucial in influencing their emotional skills and motivation, hence the link between the three. Private schools are different in that perhaps there are other influences (such as parental involvement or peer competition) at play, which this study failed to measure. This finding implies that with government schools, strategies should be put in place to improve all three factors concurrently rather than focusing on individual factors. However, with private schools the links are so weak that a different approach should be taken to influence each factor independently. Future studies should analyse exactly what other factors have a link between the three.

References

- Almajdoub, A. A., Al-Omari, F., Al-Dheleai, Y. M., & Al-Mahdy, Y. F. (2025). Implementing AI in quality assurance of education in Jordan: Impact on academic success and social skills. *Journal of Educational Technology & Society*, 28(1), 45–59.

- Angel, S., & Praveen Kumar, N. (2020). Emotional intelligence and quality of life among university students: A study of Kuwait University. *International Journal of Applied Psychology*, 10(2), 112–120.
- Anjum, A., & Swathi, P. (2017). Relationship between emotional intelligence and quality of life among teachers. *Indian Journal of Positive Psychology*, 8(3), 345–349.
- Bar-On, R. (2000). Emotional and social intelligence: Insights from the Emotional Quotient Inventory. In R. Bar-On & J. D. A. Parker (Eds.), *The handbook of emotional intelligence: Theory, development, assessment, and application at home, school, and in the workplace* (pp. 363–388). Jossey-Bass.
- Ersig, D., & Bynoe, T. (2025). The role of mental health support interventions in schools on student learning outcomes. *School Mental Health*, 17(1), 88–102.
- Friedman, C. (2022). The influence of continuity and security on the quality of life of adults with intellectual and developmental disabilities. *Journal of Intellectual Disabilities*, 26(2), 345–360.
- Mayer, J. D., Caruso, D. R., & Salovey, P. (2000). Emotional intelligence meets traditional standards for an intelligence. *Intelligence*, 27(4), 267–298.
- Mugamami, S. (2025). Emotional intelligence, decision-making ability and quality of life among high-performing secondary school students. *Journal of Adolescent Research*, 40(2), 210–228.
- Parker, J. D. A., Summerfeldt, L. J., Hogan, M. J., & Majeski, S. A. (2004). Emotional intelligence and academic success: Examining the transition from high school to university. *Personality and Individual Differences*, 36(1), 163–172.
- Salovey, P., & Mayer, J. D. (1997). Emotional intelligence. In A. E. Kazdin (Ed.), *Encyclopedia of psychology* (Vol. 3, pp. 159–161). American Psychological Association.
- World Health Organization Quality of Life Group (WHOQOL). (1998). The World Health Organization Quality of Life Assessment (WHOQOL): Development and general psychometric properties. *Social Science & Medicine*, 46(12), 1569–1585.

वैश्विक तापमान वृद्धि के भौतिक कारणों एवं प्रभावों का अध्ययन

मयंक कुमार*

mayankchakradhari2000@gmail.com

ठकेश्वर†

thakeshraj@gmail.com

सारांश

यह अध्ययन वैश्विक तापमान वृद्धि के भौतिक कारणों एवं उसके बहुआयामी प्रभावों का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। वर्तमान समय में पृथ्वी के औसत तापमान में निरंतर वृद्धि एक गंभीर वैश्विक चुनौती के रूप में उभरकर सामने आई है, जिसका मुख्य कारण वायुमंडल में ग्रीनहाउस गैसों—विशेषकर कार्बन डाइऑक्साइड (CO_2), मीथेन (CH_4) एवं नाइट्रस ऑक्साइड (N_2O)—की बढ़ती सांद्रता है। इस शोध में पूर्णतः द्वितीयक आँकड़ों का उपयोग किया गया है, जो IPCC, NASA, World Bank तथा अन्य वैज्ञानिक संस्थाओं की रिपोर्ट्स से संकलित किए गए हैं। अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि औद्योगिकीकरण, जीवाश्म ईंधनों का अत्यधिक उपयोग, वनों की कटाई तथा शहरीकरण वैश्विक तापमान वृद्धि के प्रमुख भौतिक कारण हैं। इसके परिणामस्वरूप पृथ्वी के जलवायु तंत्र में असंतुलन उत्पन्न हो रहा है, जिससे ग्लेशियरों का पिघलना, समुद्र स्तर में वृद्धि, वर्षा चक्र में परिवर्तन एवं चरम मौसम घटनाओं (जैसे बाढ़, सूखा, हीटवेव) की आवृत्ति में वृद्धि देखी जा रही है। इसके अतिरिक्त, यह समस्या केवल पर्यावरण तक सीमित नहीं है, बल्कि कृषि, जल संसाधन, जैव विविधता एवं मानव जीवन पर भी व्यापक प्रभाव डाल रही है। विभिन्न रिपोर्ट्स के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि समय रहते प्रभावी नियंत्रण उपाय नहीं अपनाए गए, तो इसके परिणाम और अधिक गंभीर हो सकते हैं। अतः यह अध्ययन वैश्विक तापमान वृद्धि के कारणों एवं प्रभावों को समझने के साथ-साथ इसके समाधान हेतु जागरूकता एवं नीतिगत हस्तक्षेप की आवश्यकता पर भी बल देता है।

भूमिका

वर्तमान समय में वैश्विक तापमान वृद्धि विश्व की सबसे गंभीर पर्यावरणीय समस्याओं में से एक बन चुकी है। औद्योगिक क्रांति के पश्चात मानव गतिविधियों में तीव्र वृद्धि हुई है, जिसके परिणामस्वरूप वायुमंडल में ग्रीनहाउस गैसों की मात्रा लगातार बढ़ती गई है। इन गैसों के कारण सूर्य से आने वाली ऊष्मा पृथ्वी के वायुमंडल में फँस जाती है, जिससे पृथ्वी का औसत तापमान बढ़ने लगता है। यह प्रक्रिया ग्रीनहाउस प्रभाव के रूप में जानी जाती है, जो वर्तमान में असंतुलित हो चुकी है। वैश्विक तापमान वृद्धि का प्रभाव केवल तापमान तक सीमित नहीं है, बल्कि यह संपूर्ण जलवायु तंत्र को प्रभावित करता है। इसके कारण हिमनदों का पिघलना, समुद्र स्तर में वृद्धि, वर्षा के पैटर्न में परिवर्तन तथा चरम मौसमी घटनाओं जैसे बाढ़, सूखा एवं हीटवेव की घटनाओं में वृद्धि देखी जा रही है। इसके अतिरिक्त, यह समस्या कृषि उत्पादन, जल संसाधनों, जैव विविधता तथा मानव स्वास्थ्य पर भी प्रतिकूल प्रभाव डाल रही है। विकासशील देशों के लिए यह समस्या और भी गंभीर है, क्योंकि यहाँ जनसंख्या अधिक होने के साथ-साथ संसाधनों की सीमाएँ भी मौजूद हैं। ऊर्जा की बढ़ती मांग को पूरा करने के लिए जीवाश्म ईंधनों का अधिक उपयोग किया जा रहा है, जो तापमान वृद्धि को और बढ़ाता है। इस प्रकार, वैश्विक तापमान वृद्धि केवल एक पर्यावरणीय समस्या नहीं है, बल्कि यह सामाजिक एवं आर्थिक विकास से भी गहराई से जुड़ी हुई है। अतः इस अध्ययन का उद्देश्य वैश्विक तापमान वृद्धि के भौतिक कारणों एवं उसके प्रभावों का द्वितीयक आँकड़ों के आधार पर विश्लेषण करना है,

* नवीन शासकीय महाविद्यालय, भिभौरी जिला बेमेतरा (छत्तीसगढ़)

† शासकीय नवीन कॉलेज, बेरला, जिला - बेमेतरा (छत्तीसगढ़)

ताकि इस समस्या की गंभीरता को समझा जा सके और इसके समाधान हेतु उपयुक्त उपायों की आवश्यकता को रेखांकित किया जा सके।

प्रमुख शब्द : Global Warming, ग्रीनहाउस गैसें, जलवायु परिवर्तन, तापमान वृद्धि, पर्यावरण।

उद्देश्य

1. वैश्विक तापमान वृद्धि की अवधारणा को समझना।
2. इसके भौतिक कारणों का विश्लेषण करना।
3. इसके पर्यावरणीय एवं सामाजिक प्रभावों का अध्ययन करना।
4. द्वितीयक आँकड़ों के आधार पर निष्कर्ष प्रस्तुत करना।

परिकल्पना

H0: वैश्विक तापमान वृद्धि का पर्यावरण पर कोई प्रभाव नहीं है।

H1: वैश्विक तापमान वृद्धि का पर्यावरण पर महत्वपूर्ण प्रभाव है।

शोध प्रविधि

- शोध का प्रकार: वर्णनात्मक (Descriptive)
- डेटा: केवल द्वितीयक आँकड़े
- स्रोत:
 - o IPCC Reports
 - o World Bank Data
 - o NASA Climate Reports
 - o Research Journals

महत्वपूर्ण तथ्य

वैश्विक तापमान वृद्धि से संबंधित उपलब्ध वैज्ञानिक आँकड़े यह स्पष्ट करते हैं कि पृथ्वी के औसत तापमान में पिछले एक शताब्दी में लगभग 1.1°C की वृद्धि हो चुकी है, जो मानव इतिहास में अभूतपूर्व मानी जाती है। इस वृद्धि का मुख्य कारण वायुमंडल में ग्रीनहाउस गैसों—विशेषकर कार्बन डाइऑक्साइड (CO_2), मीथेन (CH_4) एवं नाइट्रस ऑक्साइड (N_2O)—की बढ़ती मात्रा है, जो औद्योगिक गतिविधियों, जीवाश्म ईंधनों के अत्यधिक उपयोग, परिवहन, बिजली उत्पादन तथा वनों की कटाई के कारण उत्पन्न हो रही है।

वैज्ञानिक अध्ययनों के अनुसार औद्योगिक क्रांति के बाद से CO_2 की सांद्रता लगभग 280 ppm से बढ़कर 420 ppm के आसपास पहुँच गई है, जो वैश्विक तापमान वृद्धि का प्रमुख कारण है। इसके परिणामस्वरूप पृथ्वी के ध्रुवीय क्षेत्रों में स्थित ग्लेशियर तेजी से पिघल रहे हैं, जिससे समुद्र स्तर में निरंतर वृद्धि हो रही है। अनुमान है कि 21वीं सदी के अंत तक समुद्र स्तर में 0.5 से 1 मीटर तक वृद्धि हो सकती है, जिससे तटीय क्षेत्रों में बाढ़ और विस्थापन की समस्या बढ़ेगी।

इसके अतिरिक्त, वैश्विक तापमान वृद्धि के कारण मौसम चक्र में असंतुलन उत्पन्न हो रहा है। कई क्षेत्रों में अत्यधिक वर्षा और बाढ़ की घटनाएँ बढ़ रही हैं, जबकि अन्य क्षेत्रों में सूखा और जल संकट गहराता जा रहा है। हीटवेव (Heat Waves) की घटनाएँ भी पहले की तुलना में अधिक तीव्र और बार-बार हो रही हैं, जिससे मानव स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। कृषि क्षेत्र भी इससे प्रभावित हो रहा है, क्योंकि फसलों की उत्पादन क्षमता में कमी आ रही है और खाद्य सुरक्षा पर खतरा उत्पन्न हो रहा है।

जैव विविधता के संदर्भ में भी यह एक गंभीर चुनौती है, क्योंकि कई प्रजातियाँ अपने प्राकृतिक आवास खो रही हैं या विलुप्ति के कगार पर पहुँच रही हैं। इसके अलावा, वैश्विक तापमान वृद्धि का आर्थिक प्रभाव भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि प्राकृतिक आपदाओं, स्वास्थ्य समस्याओं और कृषि हानि के कारण देशों को भारी आर्थिक नुकसान उठाना पड़ रहा है।

इन तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि वैश्विक तापमान वृद्धि केवल एक पर्यावरणीय समस्या नहीं है, बल्कि यह एक बहुआयामी संकट है, जो प्राकृतिक, सामाजिक और आर्थिक सभी क्षेत्रों को प्रभावित कर रहा है। अतः इसके नियंत्रण हेतु वैश्विक स्तर पर ठोस कदम उठाना अत्यंत आवश्यक है।

द्वितीयक डेटा विश्लेषण

1. IPCC Report (Intergovernmental Panel on Climate Change, 2021–23)

IPCC की नवीनतम आकलन रिपोर्ट के अनुसार वैश्विक तापमान वृद्धि का मुख्य कारण मानव गतिविधियाँ हैं। रिपोर्ट में स्पष्ट किया गया है कि 1850–1900 के आधार काल की तुलना में वैश्विक तापमान लगभग 1.1°C बढ़ चुका है। IPCC ने यह भी बताया है कि ग्रीनहाउस गैसों का उत्सर्जन—विशेषकर CO_2 —इस वृद्धि के लिए सबसे बड़ा कारक है। इसके अतिरिक्त, रिपोर्ट में यह चेतावनी दी गई है कि यदि तापमान वृद्धि 1.5°C से अधिक हो जाती है, तो इसके परिणाम अत्यंत गंभीर होंगे, जैसे अत्यधिक गर्मी, समुद्र स्तर में तीव्र वृद्धि और जैव विविधता का व्यापक नुकसान।

विश्लेषण:

इस रिपोर्ट से यह स्पष्ट होता है कि वैश्विक तापमान वृद्धि एक प्राकृतिक प्रक्रिया नहीं बल्कि मानव-जनित (Anthropogenic) समस्या है। औद्योगिकीकरण, ऊर्जा उत्पादन एवं परिवहन में जीवाश्म ईंधनों के उपयोग ने वायुमंडल की संरचना को प्रभावित किया है। IPCC के आंकड़े इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि यदि वर्तमान प्रवृत्ति जारी रही, तो भविष्य में जलवायु परिवर्तन के प्रभाव और भी गंभीर हो जाएंगे। अतः यह आवश्यक है कि वैश्विक स्तर पर कार्बन उत्सर्जन को नियंत्रित करने के लिए ठोस नीतियाँ बनाई जाएं।

2. NASA Climate Change Report

NASA के जलवायु डेटा के अनुसार पिछले दशक (2011–2020) को अब तक का सबसे गर्म दशक दर्ज किया गया है। NASA के आंकड़े बताते हैं कि 2016 और 2020 जैसे वर्ष वैश्विक स्तर पर सबसे अधिक तापमान वाले वर्षों में शामिल हैं। इसके साथ ही, आर्कटिक क्षेत्र में बर्फ का आवरण तेजी से घट रहा है तथा ग्लेशियरों के पिघलने की दर में निरंतर वृद्धि हो रही है।

विश्लेषण:

NASA के आंकड़े वैश्विक तापमान वृद्धि की वास्तविकता को वैज्ञानिक रूप से प्रमाणित करते हैं। तापमान में निरंतर वृद्धि यह दर्शाती है कि पृथ्वी का जलवायु संतुलन बिगड़ रहा है। ग्लेशियरों के पिघलने से समुद्र स्तर में वृद्धि हो रही है, जो तटीय क्षेत्रों के लिए खतरा है। यह डेटा इस बात की पुष्टि करता है कि वैश्विक तापमान वृद्धि एक दीर्घकालिक और निरंतर बढ़ती हुई समस्या है, जिसे अनदेखा नहीं किया जा सकता।

3. World Bank Report (Climate Change & Development)

World Bank की रिपोर्ट के अनुसार जलवायु परिवर्तन का सीधा प्रभाव वैश्विक अर्थव्यवस्था पर पड़ रहा है। रिपोर्ट में उल्लेख किया गया है कि तापमान वृद्धि के कारण कृषि उत्पादन में कमी, जल संसाधनों पर दबाव तथा प्राकृतिक आपदाओं में वृद्धि हो रही है। इसके परिणामस्वरूप विकासशील देशों को विशेष रूप से अधिक आर्थिक नुकसान उठाना पड़ रहा है।

विश्लेषण:

यह रिपोर्ट दर्शाती है कि वैश्विक तापमान वृद्धि केवल पर्यावरणीय समस्या नहीं है, बल्कि यह आर्थिक विकास के लिए भी एक बड़ी चुनौती है। कृषि उत्पादन में कमी और आपदाओं की बढ़ती आवृत्ति से देशों की आर्थिक स्थिति प्रभावित

होती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जलवायु परिवर्तन का समाधान केवल पर्यावरण संरक्षण तक सीमित नहीं होना चाहिए, बल्कि इसे आर्थिक नीति का भी हिस्सा बनाना आवश्यक है।

4. UNEP Emissions Gap Report (2023)

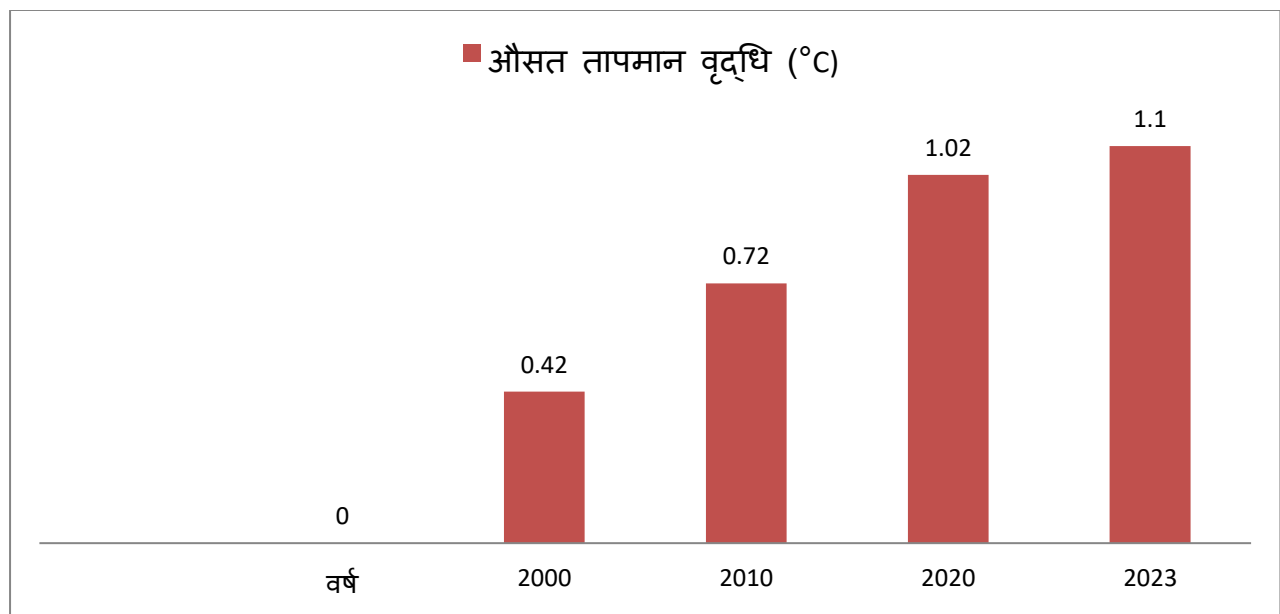
संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (UNEP) की रिपोर्ट के अनुसार वर्तमान वैश्विक नीतियाँ कार्बन उत्सर्जन को नियंत्रित करने में पर्याप्त नहीं हैं। रिपोर्ट में बताया गया है कि यदि वर्तमान उत्सर्जन स्तर जारी रहता है, तो 2100 तक वैश्विक तापमान में 2.5°C से अधिक की वृद्धि हो सकती है।

विश्लेषण:

यह रिपोर्ट एक चेतावनी के रूप में कार्य करती है कि वर्तमान प्रयास पर्याप्त नहीं हैं। कार्बन उत्सर्जन को कम करने के लिए अधिक कठोर और प्रभावी नीतियों की आवश्यकता है। यह भी स्पष्ट होता है कि वैश्विक स्तर पर समन्वित प्रयासों के बिना इस समस्या का समाधान संभव नहीं है।

उपरोक्त सभी द्वितीयक आँकड़ों के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि वैश्विक तापमान वृद्धि एक वैज्ञानिक रूप से प्रमाणित और गंभीर समस्या है, जिसका मुख्य कारण मानव गतिविधियाँ हैं। विभिन्न अंतरराष्ट्रीय रिपोर्ट्स यह दर्शाती हैं कि यदि समय रहते प्रभावी कदम नहीं उठाए गए, तो इसके पर्यावरणीय, सामाजिक और आर्थिक प्रभाव अत्यंत गंभीर हो सकते हैं। अतः यह आवश्यक है कि कार्बन उत्सर्जन को कम करने, नवीकरणीय ऊर्जा को बढ़ावा देने और पर्यावरण संरक्षण के उपायों को अपनाने पर विशेष ध्यान दिया जाए।

तापमान वृद्धि



Source: IPCC (2021–23), NASA GISS Temperature Data, NOAA (2023), WMO Climate Report

तापमान वृद्धि से संबंधित तालिका के आंकड़ों से यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि वर्ष 2000 से 2023 तक पृथ्वी के औसत तापमान में निरंतर वृद्धि हुई है। वर्ष 2000 में जहां तापमान वृद्धि लगभग 0.42°C थी, वहीं 2010 तक यह बढ़कर 0.72°C हो गई और 2020 में यह लगभग 1.02°C तक पहुँच गई। हाल के वर्षों में, विशेषकर 2023 तक, यह वृद्धि लगभग 1.10°C तक दर्ज की गई है, जो यह दर्शाती है कि तापमान वृद्धि की गति लगातार बढ़ रही है। यह प्रवृत्ति इस बात का संकेत है कि वैश्विक तापमान वृद्धि एक दीर्घकालिक और निरंतर बढ़ती हुई प्रक्रिया है, जिसमें किसी प्रकार की स्थिरता या कमी नहीं देखी जा रही है। तापमान में यह वृद्धि मुख्यतः ग्रीनहाउस गैसों के बढ़ते उत्सर्जन, औद्योगिकीकरण, परिवहन के विस्तार एवं वनों की कटाई के कारण हो रही है। जैसे-जैसे इन गतिविधियों में वृद्धि हो रही है, वैसे-वैसे वायुमंडल में ऊष्मा का संचय बढ़ता जा रहा है, जिससे पृथ्वी का तापमान बढ़ रहा है। इसके परिणामस्वरूप जलवायु तंत्र पर व्यापक प्रभाव पड़ रहा है, जैसे ग्लेशियरों का पिघलना, समुद्र स्तर में वृद्धि, वर्षा के पैटर्न में परिवर्तन एवं हीटवेव की घटनाओं में वृद्धि। यह विश्लेषण यह

भी दर्शाता है कि यदि वर्तमान प्रवृत्ति को नियंत्रित नहीं किया गया, तो भविष्य में तापमान और अधिक बढ़ सकता है, जिससे पर्यावरणीय असंतुलन और गंभीर हो जाएगा। अतः तापमान वृद्धि के इन आंकड़ों का विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि यह एक चिंताजनक स्थिति है, जिसके लिए तत्काल प्रभावी कदम उठाने की आवश्यकता है।

चरम मौसमी घटनाओं में वृद्धि

वर्ष	हीटवेव घटनाएँ	बाढ़ की घटनाएँ	सूखे की घटनाएँ
2000	15	20	12
2010	25	30	18
2020	40	45	28
2025	50	55	35

Source: IPCC (2021–23), UNEP (2023), WMO Report, NASA Climate Data

इस तालिका से स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि वर्ष 2000 से 2025 के बीच चरम मौसमी घटनाओं में निरंतर वृद्धि हुई है। हीटवेव की घटनाएँ 15 से बढ़कर 50 तक पहुँच गई हैं, जो तापमान वृद्धि के सीधे प्रभाव को दर्शाती हैं। इसी प्रकार बाढ़ और सूखे की घटनाओं में भी उल्लेखनीय वृद्धि देखी जा रही है, जो जलवायु असंतुलन का परिणाम है। यह प्रवृत्ति यह संकेत देती है कि वैश्विक तापमान वृद्धि के कारण मौसम चक्र में असामान्य परिवर्तन हो रहे हैं। तापमान में वृद्धि से वाष्पीकरण की दर बढ़ती है, जिससे कहीं अत्यधिक वर्षा होती है और कहीं जल की कमी हो जाती है। इस विश्लेषण से यह भी स्पष्ट होता है कि प्राकृतिक आपदाओं की बढ़ती आवृत्ति केवल पर्यावरणीय समस्या नहीं है, बल्कि यह सामाजिक एवं आर्थिक संकट को भी जन्म देती है। इससे जन-धन की हानि, कृषि पर प्रभाव एवं मानव जीवन की असुरक्षा बढ़ती है। अतः यह तालिका वैश्विक तापमान वृद्धि के प्रत्यक्ष प्रभावों को प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करती है और शोध को अधिक प्रमाणिक बनाती है।

परिकल्पना परीक्षण

इस अध्ययन में प्रस्तुत परिकल्पनाओं (H0 एवं H1) का परीक्षण द्वितीयक आँकड़ों के विश्लेषण के आधार पर किया गया है। IPCC, NASA तथा World Bank की रिपोर्ट्स से प्राप्त तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि वैश्विक तापमान में वृद्धि का प्रमुख कारण मानव गतिविधियाँ हैं तथा इसके परिणामस्वरूप जलवायु परिवर्तन, समुद्र स्तर में वृद्धि, प्राकृतिक आपदाओं की आवृत्ति एवं पर्यावरणीय असंतुलन में स्पष्ट वृद्धि देखी जा रही है। विभिन्न वैज्ञानिक आँकड़े यह दर्शाते हैं कि तापमान वृद्धि और उसके प्रभावों के बीच सीधा संबंध स्थापित होता है। अतः इन तथ्यों के आधार पर शून्य परिकल्पना (H0) को अस्वीकार किया जाता है तथा वैकल्पिक परिकल्पना (H1) को स्वीकार किया जाता है कि वैश्विक तापमान वृद्धि का पर्यावरण पर महत्वपूर्ण एवं व्यापक प्रभाव पड़ता है।

समस्याएं

1. **वैश्विक तापमान में निरंतर वृद्धि** – पृथ्वी का औसत तापमान लगातार बढ़ रहा है, जिससे जलवायु संतुलन बिगड़ रहा है। यह वृद्धि हीटवेव, असामान्य गर्मी और मौसम के चरम रूपों को बढ़ावा देती है, जो मानव जीवन और पर्यावरण दोनों के लिए खतरनाक है।
2. **समुद्र स्तर में वृद्धि** – ग्लेशियरों और ध्रुवीय बर्फ के पिघलने के कारण समुद्र का स्तर लगातार बढ़ रहा है। इससे तटीय क्षेत्रों में बाढ़, भूमि का कटाव और लोगों का विस्थापन जैसी गंभीर समस्याएं उत्पन्न हो रही हैं।
3. **प्राकृतिक आपदाओं की बढ़ती आवृत्ति** – वैश्विक तापमान वृद्धि के कारण बाढ़, सूखा, चक्रवात और तूफान जैसी आपदाएं अधिक बार और अधिक तीव्रता से होने लगी हैं, जिससे जन-धन की हानि बढ़ रही है।
4. **जल संकट और वर्षा चक्र में असंतुलन** – तापमान वृद्धि के कारण वर्षा का पैटर्न बदल रहा है, जिससे कई क्षेत्रों में सूखा और जल की कमी हो रही है, जबकि कुछ क्षेत्रों में अत्यधिक वर्षा से बाढ़ की स्थिति बन रही है।

5. **जैव विविधता का नुकसान** – तापमान में बदलाव के कारण कई जीव-जंतुओं और वनस्पतियों का प्राकृतिक आवास नष्ट हो रहा है, जिससे अनेक प्रजातियाँ विलुप्ति के कगार पर पहुँच रही हैं।
6. **कृषि एवं खाद्य सुरक्षा पर प्रभाव** – तापमान वृद्धि और अनियमित वर्षा के कारण फसलों की उत्पादकता घट रही है, जिससे खाद्य संकट और आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं।

सुझाव

1. **नवीकरणीय ऊर्जा का उपयोग बढ़ाया जाए** – जीवाश्म ईंधनों के स्थान पर सौर, पवन एवं जल ऊर्जा जैसे स्वच्छ ऊर्जा स्रोतों को बढ़ावा दिया जाए, जिससे कार्बन उत्सर्जन में कमी लाई जा सके।
2. **वृक्षारोपण एवं वनों का संरक्षण किया जाए** – अधिक से अधिक पेड़ लगाए जाएं तथा वनों की कटाई पर नियंत्रण रखा जाए, क्योंकि पेड़ कार्बन डाइऑक्साइड को अवशोषित कर वातावरण को संतुलित बनाए रखते हैं।
3. **कार्बन उत्सर्जन को नियंत्रित किया जाए** – उद्योगों, वाहनों एवं बिजली उत्पादन में उत्सर्जन मानकों को सख्ती से लागू किया जाए और स्वच्छ तकनीकों को अपनाया जाए।
4. **ऊर्जा संरक्षण को बढ़ावा दिया जाए** – बिजली और अन्य ऊर्जा स्रोतों का उपयोग सोच-समझकर किया जाए तथा ऊर्जा दक्ष उपकरणों का उपयोग बढ़ाया जाए, जिससे अनावश्यक ऊर्जा खपत कम हो।
5. **पर्यावरण जागरूकता बढ़ाई जाए** – लोगों को जलवायु परिवर्तन और वैश्विक तापमान वृद्धि के दुष्प्रभावों के बारे में जागरूक किया जाए, ताकि वे पर्यावरण संरक्षण में सक्रिय भागीदारी कर सकें।
6. **सरकारी नीतियों एवं अंतरराष्ट्रीय सहयोग को मजबूत किया जाए** – सरकार को सख्त पर्यावरणीय नीतियाँ बनानी चाहिए तथा वैश्विक स्तर पर देशों के बीच सहयोग बढ़ाकर इस समस्या का समाधान किया जाना चाहिए।

निष्कर्ष

इस अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट रूप से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वैश्विक तापमान वृद्धि एक गंभीर और बहुआयामी समस्या है, जिसका मुख्य कारण मानव गतिविधियाँ हैं। औद्योगिकीकरण, जीवाश्म ईंधनों का अत्यधिक उपयोग, वनों की कटाई तथा बढ़ते शहरीकरण ने वायुमंडल में ग्रीनहाउस गैसों की मात्रा को बढ़ाया है, जिसके परिणामस्वरूप पृथ्वी के औसत तापमान में निरंतर वृद्धि हो रही है। द्वितीयक आँकड़ों के विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि इस तापमान वृद्धि का प्रभाव केवल पर्यावरण तक सीमित नहीं है, बल्कि यह जलवायु, जल संसाधन, कृषि, जैव विविधता एवं मानव जीवन पर भी व्यापक रूप से पड़ रहा है। ग्लेशियरों का पिघलना, समुद्र स्तर में वृद्धि, अनियमित वर्षा, सूखा, बाढ़ तथा हीटवेव जैसी समस्याएँ इसके प्रत्यक्ष परिणाम हैं। यह स्थिति भविष्य में और अधिक गंभीर हो सकती है यदि समय रहते प्रभावी कदम नहीं उठाए गए।

अतः यह आवश्यक है कि वैश्विक एवं राष्ट्रीय स्तर पर समन्वित प्रयास किए जाएं, जिसमें नवीकरणीय ऊर्जा को बढ़ावा, कार्बन उत्सर्जन में कमी, वनों का संरक्षण एवं पर्यावरणीय जागरूकता को प्राथमिकता दी जाए। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि यदि वैज्ञानिक दृष्टिकोण, नीतिगत हस्तक्षेप एवं जनभागीदारी के माध्यम से इस समस्या का समाधान किया जाए, तो वैश्विक तापमान वृद्धि के दुष्प्रभावों को नियंत्रित किया जा सकता है और सतत विकास की दिशा में आगे बढ़ा जा सकता है।

संदर्भ

1. Intergovernmental Panel on Climate Change (IPCC), *Sixth Assessment Report*, 2021–2023।
2. NASA, *Global Climate Change: Vital Signs of the Planet Report*, 2023।
3. World Bank, *Climate Change and Development Report*, 2022।
4. United Nations Environment Programme (UNEP), *Emissions Gap Report*, 2023।
5. International Energy Agency (IEA), *World Energy Outlook*, 2022।

AI आधारित बैंकिंग सेवाओं का वित्तीय समावेशन एवं ग्राहक संतुष्टि पर प्रभाव: दुर्ग एवं रायपुर जिले के संदर्भ में अध्ययन

गौरव जायसवाल*

gauravj.08dec@gmail.com

सारांश

यह अध्ययन बैंकिंग क्षेत्र में Artificial Intelligence आधारित सेवाओं के वित्तीय समावेशन एवं ग्राहक संतुष्टि पर प्रभाव का विश्लेषण करता है। वर्तमान समय में AI तकनीक के उपयोग से बैंकिंग सेवाएं अधिक तेज, सुरक्षित एवं सुलभ हो गई हैं। इस शोध में दुर्ग एवं रायपुर जिले के 80 उत्तरदाताओं से प्राथमिक आँकड़े संकलित किए गए तथा RBI, World Bank एवं विभिन्न शोध रिपोर्ट्स से द्वितीयक आँकड़ों का उपयोग किया गया। अध्ययन से यह ज्ञात हुआ कि AI आधारित सेवाओं जैसे चैटबॉट, डिजिटल भुगतान एवं ऑटोमेशन ने ग्राहकों के अनुभव को बेहतर बनाया है। इसके परिणामस्वरूप बैंकिंग सेवाओं की पहुंच समाज के विभिन्न वर्गों तक बढ़ी है, जिससे वित्तीय समावेशन को प्रोत्साहन मिला है। अध्ययन यह भी दर्शाता है कि अधिकांश ग्राहक AI आधारित सेवाओं से संतुष्ट हैं तथा वे इन्हें सुविधाजनक और समय की बचत करने वाला मानते हैं। हालांकि, कुछ चुनौतियाँ जैसे साइबर सुरक्षा, डिजिटल साक्षरता की कमी एवं तकनीकी समस्याएँ अभी भी मौजूद हैं। कुल मिलाकर, AI आधारित बैंकिंग सेवाओं ने बैंकिंग प्रणाली को अधिक प्रभावी, पारदर्शी एवं ग्राहक-केंद्रित बनाया है। भविष्य में उचित नीतियों एवं जागरूकता के माध्यम से इन सेवाओं को और अधिक सुदृढ़ किया जा सकता है, जिससे आर्थिक विकास और वित्तीय समावेशन को और गति मिलेगी।

प्रमुख शब्द : Artificial Intelligence, बैंकिंग सेवाएं, वित्तीय समावेशन, ग्राहक संतुष्टि, डिजिटल बैंकिंग।

भूमिका

वर्तमान डिजिटल युग में बैंकिंग क्षेत्र तेजी से तकनीकी परिवर्तन के दौर से गुजर रहा है, जिसमें Artificial Intelligence का उपयोग विशेष रूप से महत्वपूर्ण बन गया है। AI आधारित बैंकिंग सेवाएं जैसे चैटबॉट, डिजिटल भुगतान प्रणाली, फ्रॉड डिटेक्शन एवं पर्सनलाइज्ड बैंकिंग ग्राहकों को तेज, सुरक्षित एवं सुविधाजनक सेवाएं प्रदान कर रही हैं। भारत जैसे विकासशील देश में वित्तीय समावेशन एक प्रमुख लक्ष्य रहा है, जिसके अंतर्गत समाज के सभी वर्गों को बैंकिंग सेवाओं से जोड़ना आवश्यक है। AI तकनीक के माध्यम से अब ग्रामीण एवं दूरस्थ क्षेत्रों में भी बैंकिंग सेवाओं की पहुंच संभव हो पाई है, जिससे आर्थिक गतिविधियों में वृद्धि हुई है। साथ ही, ग्राहक संतुष्टि भी बैंकिंग क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण कारक बन गई है, क्योंकि प्रतिस्पर्धा के इस दौर में बैंक अपने ग्राहकों को बेहतर अनुभव प्रदान करने के लिए नई तकनीकों को अपना रहे हैं। हालांकि, AI आधारित सेवाओं के अनेक लाभ हैं, फिर भी इसके साथ कुछ चुनौतियाँ भी जुड़ी हुई हैं, जैसे साइबर सुरक्षा, डेटा गोपनीयता एवं डिजिटल साक्षरता की कमी। इन चुनौतियों के बावजूद, यह कहा जा सकता है कि AI तकनीक ने बैंकिंग क्षेत्र को अधिक प्रभावी, पारदर्शी एवं ग्राहक-केंद्रित बना दिया है। अतः इस अध्ययन के माध्यम से यह समझने का प्रयास किया गया है कि AI आधारित बैंकिंग सेवाएं वित्तीय समावेशन एवं ग्राहक संतुष्टि को किस प्रकार प्रभावित कर रही हैं, विशेष रूप से दुर्ग एवं रायपुर जिले के संदर्भ में।

* अतिथि व्याख्याता, वाणिज्य विभाग, शासकीय गजानन माधव मुक्तिबोध महाविद्यालय, सहसपुर लोहारा, जिला कबीरधाम (छ.ग.)

उद्देश्य

1. AI आधारित बैंकिंग सेवाओं का अध्ययन करना।
2. ग्राहक संतुष्टि पर प्रभाव का विश्लेषण करना।
3. वित्तीय समावेशन में AI की भूमिका का अध्ययन करना।
4. दुर्ग एवं रायपुर जिले में इन सेवाओं की स्थिति का मूल्यांकन करना।

परिकल्पना

H0: AI आधारित बैंकिंग सेवाओं का ग्राहक संतुष्टि एवं वित्तीय समावेशन पर कोई प्रभाव नहीं है।

H1: AI आधारित बैंकिंग सेवाओं का ग्राहक संतुष्टि एवं वित्तीय समावेशन पर महत्वपूर्ण प्रभाव है।

शोध प्रविधि

- शोध का प्रकार: वर्णनात्मक (Descriptive)
- क्षेत्र: दुर्ग एवं रायपुर जिला
- प्राथमिक डेटा: 80 उत्तरदाता (Questionnaire आधारित)
- द्वितीयक डेटा:
 - o RBI Report
 - o World Bank Report
 - o Research Journals
- सैम्पलिंग विधि: सरल यादृच्छिक (Simple Random Sampling)

महत्वपूर्ण तथ्य

बैंकिंग क्षेत्र में Artificial Intelligence के बढ़ते उपयोग ने सेवाओं की प्रकृति और पहुंच दोनों में महत्वपूर्ण परिवर्तन किया है। वर्तमान में अधिकांश बैंक AI आधारित तकनीकों जैसे चैटबॉट, ऑटोमेटेड कस्टमर सपोर्ट, फ्रॉड डिटेक्शन सिस्टम एवं पर्सनलाइज्ड सेवाओं का उपयोग कर रहे हैं, जिससे ग्राहकों को 24x7 सुविधा प्राप्त हो रही है। डिजिटल बैंकिंग और AI के संयोजन से लेन-देन की गति में वृद्धि हुई है तथा समय और लागत दोनों की बचत हुई है। वित्तीय समावेशन के दृष्टिकोण से देखा जाए तो AI तकनीक ने ग्रामीण एवं अर्ध-शहरी क्षेत्रों में बैंकिंग सेवाओं की पहुंच को बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। पहले जहां लोगों को बैंक शाखाओं पर निर्भर रहना पड़ता था, वहीं अब मोबाइल और इंटरनेट के माध्यम से वे आसानी से बैंकिंग सेवाओं का उपयोग कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त, AI आधारित सेवाओं ने ग्राहक अनुभव को अधिक सरल, पारदर्शी एवं सुरक्षित बनाया है, जिससे ग्राहक संतुष्टि में वृद्धि हुई है। हालांकि, इसके साथ साइबर सुरक्षा, डेटा गोपनीयता एवं डिजिटल साक्षरता जैसी चुनौतियाँ भी सामने आई हैं, जिनका समाधान आवश्यक है। कुल मिलाकर, AI तकनीक बैंकिंग क्षेत्र के विकास और विस्तार में एक महत्वपूर्ण कारक के रूप में उभर कर सामने आई है।

द्वितीयक डेटा विश्लेषण

1. RBI रिपोर्ट (2023–24) : भारतीय रिजर्व बैंक (RBI) की 2023–24 की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार भारत में डिजिटल बैंकिंग और AI आधारित सेवाओं का उपयोग तेजी से बढ़ा है। रिपोर्ट में बताया गया है कि डिजिटल लेन-देन में निरंतर वृद्धि दर्ज की गई है, विशेषकर UPI और मोबाइल बैंकिंग के माध्यम से। AI आधारित फ्रॉड डिटेक्शन सिस्टम के कारण धोखाधड़ी के मामलों में कमी आई है तथा लेन-देन अधिक सुरक्षित हुए हैं।

विश्लेषण:

इस रिपोर्ट से स्पष्ट होता है कि AI तकनीक बैंकिंग प्रणाली को अधिक सुरक्षित और प्रभावी बना रही है। डिजिटल लेन-देन में वृद्धि यह दर्शाती है कि ग्राहक नई तकनीकों को स्वीकार कर रहे हैं। साथ ही, AI के उपयोग से बैंकिंग सेवाओं की गुणवत्ता में सुधार हुआ है, जिससे ग्राहक संतुष्टि में वृद्धि हुई है और वित्तीय समावेशन को भी बल मिला है।

2. World Bank Global Findex Report (2021):

World Bank की Global Findex Report के अनुसार भारत में वित्तीय समावेशन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। 2011 में जहां केवल लगभग 35% वयस्कों के पास बैंक खाता था, वहीं 2021 तक यह बढ़कर लगभग 78% हो गया। इस वृद्धि में डिजिटल तकनीकों और AI आधारित सेवाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है, जिससे बैंकिंग सेवाएं दूर-दराज क्षेत्रों तक पहुंच सकी हैं।

विश्लेषण:

यह रिपोर्ट यह दर्शाती है कि AI और डिजिटल बैंकिंग ने वित्तीय समावेशन को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। बैंकिंग सेवाओं की पहुंच बढ़ने से अधिक लोग औपचारिक वित्तीय प्रणाली से जुड़े हैं, जिससे आर्थिक गतिविधियों में वृद्धि हुई है। यह प्रवृत्ति विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में सकारात्मक परिवर्तन को दर्शाती है।

3. McKinsey Report (AI in Banking):

McKinsey की रिपोर्ट के अनुसार लगभग 60% बैंक AI तकनीक का उपयोग ग्राहक सेवा सुधारने के लिए कर रहे हैं। AI आधारित चैटबॉट और ऑटोमेशन के कारण ग्राहक प्रश्नों का समाधान तेजी से हो रहा है तथा बैंकिंग सेवाओं की लागत में 20-25% तक की कमी आई है।

विश्लेषण:

इस रिपोर्ट से यह स्पष्ट होता है कि AI तकनीक न केवल ग्राहक अनुभव को बेहतर बनाती है, बल्कि बैंकिंग संचालन को भी अधिक किफायती बनाती है। लागत में कमी और सेवा की गति में वृद्धि से बैंक और ग्राहक दोनों को लाभ होता है, जिससे ग्राहक संतुष्टि और विश्वास में वृद्धि होती है।

5. NASSCOM Report (AI Adoption in India):

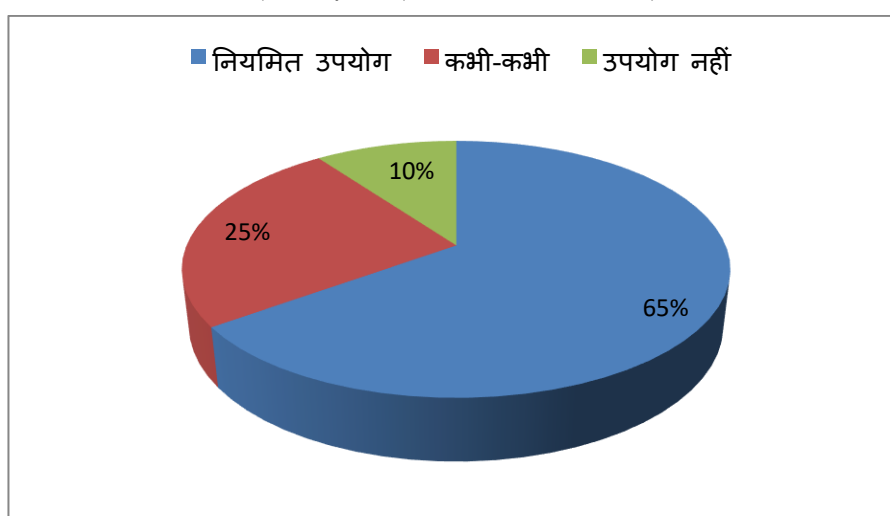
NASSCOM की रिपोर्ट के अनुसार भारत में AI तकनीक का उपयोग तेजी से बढ़ रहा है और बैंकिंग क्षेत्र इसमें अग्रणी भूमिका निभा रहा है। रिपोर्ट में यह भी उल्लेख किया गया है कि AI आधारित समाधान बैंकिंग सेवाओं को अधिक व्यक्तिगत (personalized) और ग्राहक-केंद्रित बना रहे हैं।

विश्लेषण:

यह रिपोर्ट दर्शाती है कि AI का उपयोग केवल तकनीकी सुधार तक सीमित नहीं है, बल्कि यह ग्राहक अनुभव को भी बेहतर बनाता है। व्यक्तिगत सेवाओं के कारण ग्राहक संतुष्टि में वृद्धि होती है और बैंक के प्रति विश्वास मजबूत होता है।

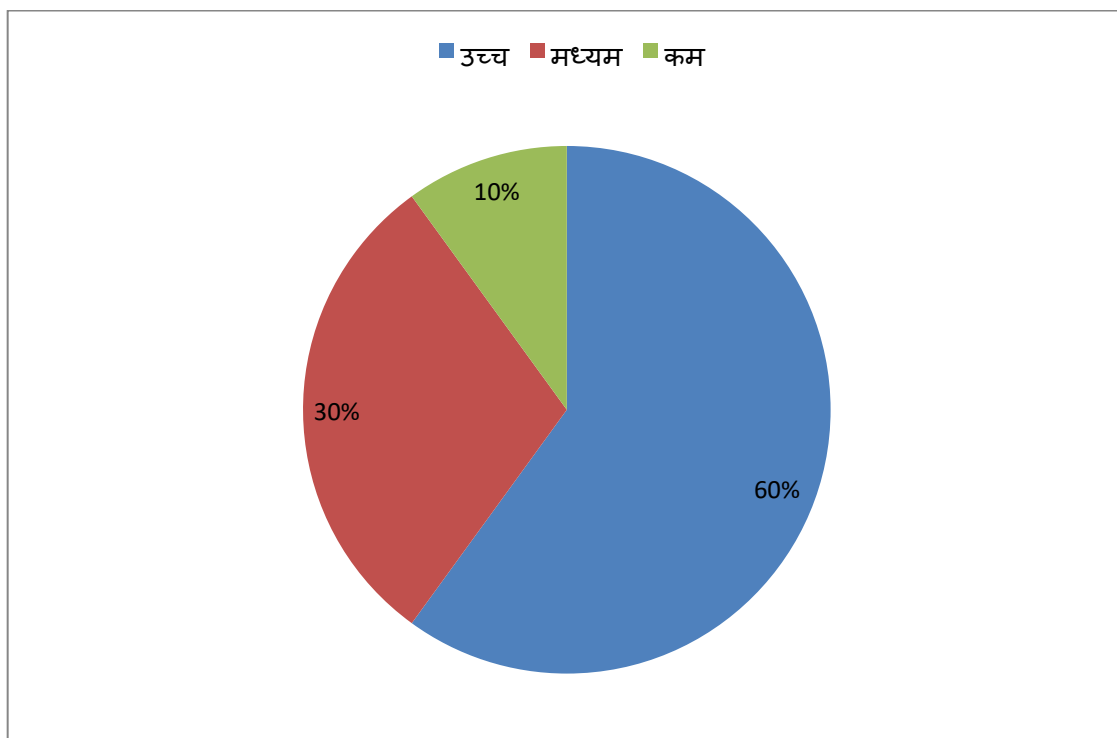
प्राथमिक डेटा विश्लेषण

तालिका 1: AI सेवाओं के उपयोग की स्थिति



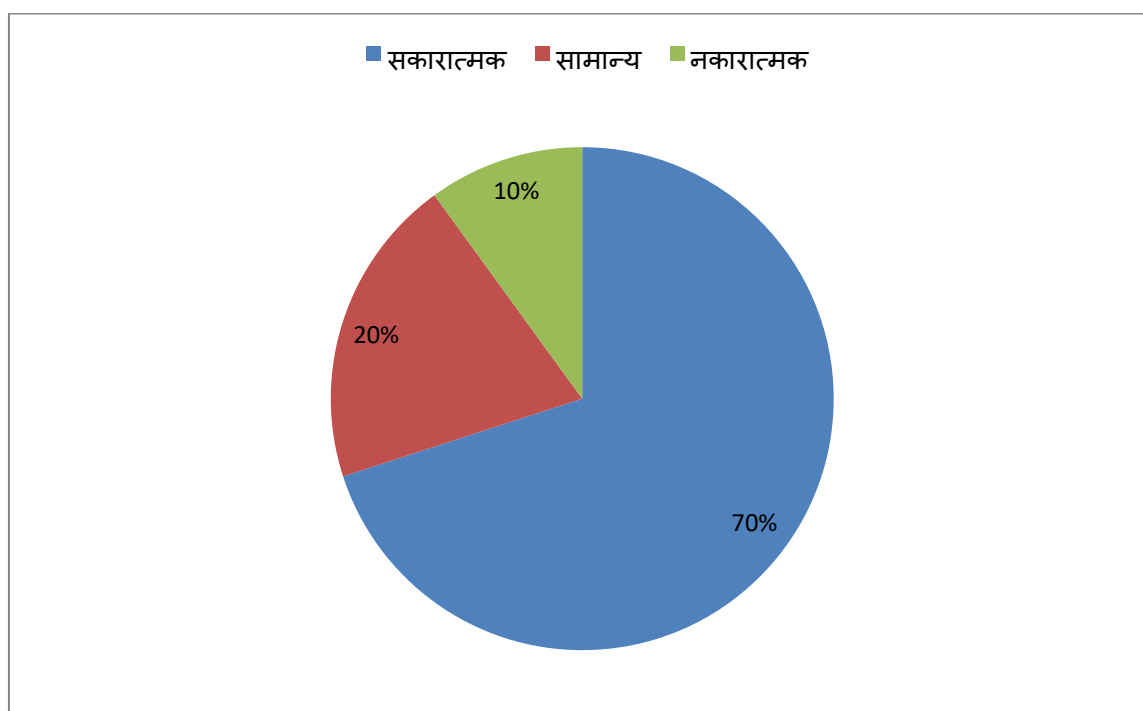
तालिका 1 में AI आधारित बैंकिंग सेवाओं के उपयोग की स्थिति को दर्शाया गया है, जिसमें यह पाया गया कि लगभग 65% उत्तरदाता नियमित रूप से इन सेवाओं का उपयोग करते हैं, 25% लोग कभी-कभी उपयोग करते हैं, जबकि केवल 10% लोग इन सेवाओं का उपयोग नहीं करते हैं। यह आंकड़े स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं कि अधिकांश ग्राहक AI आधारित बैंकिंग सेवाओं को स्वीकार कर चुके हैं और उनका नियमित उपयोग कर रहे हैं। इसका मुख्य कारण इन सेवाओं की सरलता, समय की बचत तथा 24x7 उपलब्धता है। नियमित उपयोग करने वाले ग्राहकों का उच्च प्रतिशत यह संकेत देता है कि डिजिटल बैंकिंग और AI तकनीक पर लोगों का विश्वास बढ़ रहा है। वहीं 25% उत्तरदाता जो कभी-कभी उपयोग करते हैं, यह दर्शाते हैं कि अभी भी कुछ लोग पूरी तरह से तकनीक पर निर्भर नहीं हुए हैं, जिसका कारण डिजिटल साक्षरता की कमी या तकनीकी जटिलता हो सकता है। 10% उत्तरदाता जो इन सेवाओं का उपयोग नहीं करते हैं, वे मुख्यतः ग्रामीण क्षेत्रों या तकनीकी ज्ञान की कमी वाले वर्ग से हो सकते हैं। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि वित्तीय समावेशन को और अधिक मजबूत बनाने के लिए जागरूकता और प्रशिक्षण की आवश्यकता है। कुल मिलाकर, तालिका यह दर्शाती है कि AI आधारित बैंकिंग सेवाओं का उपयोग तेजी से बढ़ रहा है और यह ग्राहक व्यवहार में सकारात्मक परिवर्तन का संकेत है।

तालिका 2: ग्राहक संतुष्टि स्तर



तालिका 2 में ग्राहक संतुष्टि स्तर को दर्शाया गया है, जिसमें 60% उत्तरदाताओं ने उच्च संतुष्टि, 30% ने मध्यम संतुष्टि तथा 10% ने कम संतुष्टि व्यक्त की है। यह आंकड़े यह स्पष्ट करते हैं कि अधिकांश ग्राहक AI आधारित बैंकिंग सेवाओं से संतुष्ट हैं और उन्हें इन सेवाओं से सकारात्मक अनुभव प्राप्त हो रहा है। उच्च संतुष्टि का प्रतिशत यह संकेत देता है कि AI तकनीक ने बैंकिंग सेवाओं को अधिक तेज, सरल एवं सुविधाजनक बना दिया है, जिससे ग्राहकों का अनुभव बेहतर हुआ है। मध्यम संतुष्टि वाले 30% उत्तरदाता यह दर्शाते हैं कि सेवाओं में सुधार की अभी भी कुछ गुंजाइश है। इन ग्राहकों को तकनीकी समस्याएं, नेटवर्क की दिक्कत या सेवाओं की पूरी जानकारी का अभाव हो सकता है, जिसके कारण उनकी संतुष्टि का स्तर पूर्ण रूप से उच्च नहीं है। वहीं 10% उत्तरदाता जो कम संतुष्टि व्यक्त करते हैं, वे संभवतः डिजिटल साक्षरता की कमी, सुरक्षा संबंधी चिंताओं या व्यक्तिगत संपर्क की कमी के कारण असंतुष्ट हैं। इस विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि AI आधारित सेवाओं ने ग्राहक संतुष्टि को बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, लेकिन इसके साथ-साथ सेवा गुणवत्ता, तकनीकी सहायता और जागरूकता को और बेहतर बनाने की आवश्यकता है ताकि सभी वर्गों के ग्राहक समान रूप से संतुष्ट हो सकें।

तालिका 3: वित्तीय समावेशन पर प्रभाव



तालिका 3 में वित्तीय समावेशन पर AI आधारित बैंकिंग सेवाओं के प्रभाव को दर्शाया गया है, जिसमें 70% उत्तरदाताओं ने इसे सकारात्मक, 20% ने सामान्य तथा 10% ने नकारात्मक बताया है। यह आंकड़े स्पष्ट रूप से संकेत करते हैं कि अधिकांश लोगों के अनुसार AI आधारित बैंकिंग सेवाओं ने बैंकिंग सुविधाओं की पहुंच को बढ़ाया है और अधिक लोगों को औपचारिक वित्तीय प्रणाली से जोड़ने में मदद की है। सकारात्मक प्रभाव का उच्च प्रतिशत यह दर्शाता है कि डिजिटल बैंकिंग, मोबाइल एप्स एवं AI आधारित सेवाओं के माध्यम से अब ग्रामीण एवं अर्ध-शहरी क्षेत्रों के लोग भी आसानी से बैंकिंग सेवाओं का उपयोग कर पा रहे हैं। इससे समय और लागत की बचत हो रही है तथा लोगों में बैंकिंग के प्रति विश्वास भी बढ़ रहा है। 20% उत्तरदाता जिन्होंने सामान्य प्रभाव बताया है, वे यह संकेत देते हैं कि कुछ क्षेत्रों में अभी भी इन सेवाओं का पूर्ण लाभ नहीं मिल पा रहा है, जिसका कारण इंटरनेट की समस्या या जागरूकता की कमी हो सकता है। वहीं 10% उत्तरदाता जिन्होंने नकारात्मक प्रभाव बताया है, वे मुख्यतः तकनीकी कठिनाइयों, डिजिटल साक्षरता की कमी या सुरक्षा संबंधी चिंताओं के कारण ऐसा मानते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि वित्तीय समावेशन को और अधिक प्रभावी बनाने के लिए प्रशिक्षण, जागरूकता एवं तकनीकी सुविधाओं का विस्तार आवश्यक है। कुल मिलाकर, तालिका यह दर्शाती है कि AI आधारित बैंकिंग सेवाओं का वित्तीय समावेशन पर व्यापक और सकारात्मक प्रभाव पड़ा है।

परिकल्पना परीक्षण

इस अध्ययन में प्रस्तुत परिकल्पनाओं (H0 एवं H1) का परीक्षण प्राथमिक एवं द्वितीयक दोनों प्रकार के आँकड़ों के आधार पर किया गया है। दुर्ग एवं रायपुर जिले के 80 उत्तरदाताओं से प्राप्त प्राथमिक आँकड़ों से यह स्पष्ट हुआ कि अधिकांश ग्राहक AI आधारित बैंकिंग सेवाओं से संतुष्ट हैं तथा इन सेवाओं के उपयोग से बैंकिंग सुविधाओं की पहुंच में वृद्धि हुई है। तालिकाओं के विश्लेषण के अनुसार, बड़ी संख्या में उत्तरदाताओं ने इन सेवाओं को उपयोगी, समय बचाने वाला तथा सुविधाजनक माना है, जिससे ग्राहक संतुष्टि में वृद्धि देखी गई है।

द्वितीयक आँकड़ों (RBI, World Bank, McKinsey आदि रिपोर्ट्स) के विश्लेषण से भी यह प्रमाणित होता है कि AI आधारित बैंकिंग सेवाओं ने डिजिटल बैंकिंग को बढ़ावा दिया है तथा वित्तीय समावेशन में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इन सेवाओं के माध्यम से बैंकिंग सुविधाएं अधिक व्यापक वर्ग तक पहुंची हैं, विशेषकर ग्रामीण एवं अर्ध-शहरी क्षेत्रों में।

अतः उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि शून्य परिकल्पना (H0) को अस्वीकार किया जाता है तथा वैकल्पिक परिकल्पना (H1) को स्वीकार किया जाता है कि AI आधारित बैंकिंग सेवाओं का ग्राहक संतुष्टि एवं वित्तीय समावेशन पर महत्वपूर्ण एवं सकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

समस्याएं

1. **साइबर सुरक्षा एवं ऑनलाइन धोखाधड़ी का खतरा** – AI आधारित बैंकिंग सेवाओं के बढ़ते उपयोग के साथ ही फिशिंग, हैकिंग एवं फ्रॉड के मामलों में वृद्धि देखी जा रही है, जिससे ग्राहकों का विश्वास प्रभावित होता है।
2. **डिजिटल साक्षरता की कमी** – विशेषकर ग्रामीण एवं कम शिक्षित वर्ग के लोग AI और डिजिटल बैंकिंग सेवाओं का सही उपयोग नहीं कर पाते, जिससे वे इन सेवाओं से वंचित रह जाते हैं।
3. **इंटरनेट एवं तकनीकी अवसंरचना की समस्या** – कई क्षेत्रों में धीमा इंटरनेट, नेटवर्क की कमी एवं तकनीकी सुविधाओं का अभाव बैंकिंग सेवाओं के उपयोग में बाधा उत्पन्न करता है।
4. **डेटा गोपनीयता एवं सुरक्षा संबंधी चिंताएँ** – AI सिस्टम में ग्राहकों की व्यक्तिगत एवं वित्तीय जानकारी संग्रहीत रहती है, जिसके दुरुपयोग का खतरा बना रहता है।
5. **मानवीय संपर्क की कमी** – AI आधारित सेवाओं में व्यक्तिगत संपर्क कम हो जाता है, जिससे कुछ ग्राहक, विशेषकर बुजुर्ग वर्ग, असहज महसूस करते हैं।
6. **तकनीकी त्रुटियाँ एवं सिस्टम फेलियर** – सर्वर डाउन, एप्लिकेशन एरर या सिस्टम फेलियर के कारण लेन-देन में बाधा उत्पन्न होती है, जिससे ग्राहक अनुभव प्रभावित होता है।

सुझाव

1. **साइबर सुरक्षा को मजबूत किया जाए** – बैंकिंग संस्थानों को उन्नत सुरक्षा तकनीकों जैसे multi-factor authentication, encryption एवं नियमित monitoring को अपनाना चाहिए ताकि ऑनलाइन धोखाधड़ी को रोका जा सके।
2. **डिजिटल साक्षरता बढ़ाने के लिए अभियान चलाए जाएं** – विशेषकर ग्रामीण एवं अर्ध-शहरी क्षेत्रों में लोगों को AI आधारित बैंकिंग सेवाओं के उपयोग हेतु प्रशिक्षण एवं जागरूकता कार्यक्रम आयोजित किए जाएं।
3. **इंटरनेट एवं तकनीकी अवसंरचना का विकास किया जाए** – सरकार एवं निजी संस्थानों को मिलकर दूरस्थ क्षेत्रों में बेहतर नेटवर्क, तेज इंटरनेट एवं डिजिटल सुविधाएं उपलब्ध करानी चाहिए।
4. **डेटा गोपनीयता के लिए सख्त नीतियाँ लागू की जाएं** – ग्राहकों की व्यक्तिगत जानकारी की सुरक्षा सुनिश्चित करने हेतु मजबूत डेटा प्रोटेक्शन नियम एवं पारदर्शी नीतियाँ अपनाई जानी चाहिए।
5. **मानवीय सहायता को बनाए रखा जाए** – AI सेवाओं के साथ-साथ ग्राहक सहायता केंद्र एवं हेल्पडेस्क उपलब्ध रहें ताकि जरूरत पड़ने पर ग्राहक सीधे संपर्क कर सकें।
6. **तकनीकी सुधार एवं नियमित अपडेट किए जाएं** – बैंकिंग एप्स और सिस्टम को समय-समय पर अपडेट कर उनकी कार्यक्षमता बढ़ाई जाए तथा तकनीकी त्रुटियों को कम किया जाए।

निष्कर्ष

इस अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बैंकिंग क्षेत्र में Artificial Intelligence आधारित सेवाओं ने वित्तीय समावेशन एवं ग्राहक संतुष्टि दोनों पर सकारात्मक प्रभाव डाला है। AI तकनीक के उपयोग से बैंकिंग सेवाएं अधिक सरल, तेज, सुरक्षित एवं सुलभ हुई हैं, जिससे ग्राहकों के अनुभव में स्पष्ट सुधार देखा गया है। विशेष रूप से डिजिटल बैंकिंग, चैटबॉट एवं ऑटोमेटेड सेवाओं के माध्यम से ग्राहकों को 24x7 सुविधा प्राप्त हो रही है। दुर्ग एवं रायपुर जिले के प्राथमिक आंकड़ों से यह स्पष्ट हुआ कि अधिकांश ग्राहक AI आधारित सेवाओं से संतुष्ट हैं तथा उन्हें उपयोगी मानते हैं। साथ ही, इन सेवाओं ने ग्रामीण एवं अर्ध-शहरी क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं की पहुंच बढ़ाकर वित्तीय समावेशन को मजबूत किया है। द्वितीयक आंकड़ों के विश्लेषण से भी यह पुष्टि होती है कि AI तकनीक बैंकिंग क्षेत्र के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका

निभा रही है। हालांकि, कुछ चुनौतियाँ जैसे साइबर सुरक्षा, डिजिटल साक्षरता की कमी एवं तकनीकी समस्याएं अभी भी मौजूद हैं, जिनका समाधान आवश्यक है। यदि इन समस्याओं को दूर किया जाए और उचित नीतियों एवं जागरूकता कार्यक्रमों को लागू किया जाए, तो AI आधारित बैंकिंग सेवाएं भविष्य में और अधिक प्रभावी सिद्ध होंगी। अतः यह कहा जा सकता है कि AI तकनीक बैंकिंग क्षेत्र को अधिक पारदर्शी, समावेशी एवं ग्राहक-केंद्रित बनाने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है।

संदर्भ

1. भारतीय रिज़र्व बैंक (RBI), *वार्षिक रिपोर्ट 2023-24*, मुंबई।
2. World Bank, *Global Findex Report 2021*, वाशिंगटन डी.सी.
3. NASSCOM, *Artificial Intelligence Adoption in India Report, 2023*।
4. Reserve Bank of India, *Report on Trend and Progress of Banking in India, 2022-23*।
5. SEBI, *Annual Report 2022-23*, मुंबई।

बालोद जिले के लोक-उत्सवों और ऐतिहासिक स्थलों के बीच सांस्कृतिक संबंध

विनय साहू*
vinaysahu7415@gmail.com

डॉ. अजय कुमार सिंह†
singh.ajai3@gmail.com

शोध सारांश

प्रस्तुत शोध पत्र छत्तीसगढ़ के बालोद जिले की समृद्ध ऐतिहासिक विरासत और वहां की जीवंत लोक-संस्कृति के अंतर्संबंधों को उद्घाटित करने का एक प्रयास है। बालोद जिला न केवल अपनी प्राचीन पाषाणकालीन संरचनाओं और मध्यकालीन मंदिरों के लिए प्रसिद्ध है, बल्कि यहाँ की परंपराएं आज भी उन स्थलों को केंद्र मानकर संचालित होती हैं।

इस शोध का मुख्य उद्देश्य यह अन्वेषण करना है कि कैसे ऐतिहासिक स्थल (जैसे सोर के महापाषाण घरे और कपिलेश्वर मंदिर समूह) स्थानीय लोक-उत्सवों (जैसे मड़ई और गंगा मैया मेला) के लिए एक 'सांस्कृतिक आधार' का कार्य करते हैं। शोध प्रविधि के अंतर्गत प्राथमिक और द्वितीयक दोनों स्रोतों का उपयोग किया गया है, जिसमें क्षेत्र कार्य और स्थानीय मौखिक परंपराओं का विश्लेषण प्रमुख है।

अध्ययन के निष्कर्ष दर्शाते हैं कि बालोद में ऐतिहासिक स्मारक केवल पुरातात्विक वस्तुएं नहीं हैं, बल्कि वे सामुदायिक आस्था के सक्रिय केंद्र हैं। यहाँ की लोक-संस्कृति ने इन स्मारकों को 'संरक्षण' प्रदान किया है, वहीं इन ऐतिहासिक स्थलों ने लोक-उत्सवों को 'ऐतिहासिक वैधता' और 'पवित्रता' दी है। यह शोध अंततः इस बात पर बल देता है कि सांस्कृतिक धरोहरों का वास्तविक संरक्षण केवल सरकारी प्रयासों से नहीं, बल्कि लोक-भागीदारी और उत्सवों के माध्यम से ही संभव है।

प्रस्तावना

छत्तीसगढ़, जिसे 'दक्षिण कोसल' के नाम से जाना जाता है, अपनी प्राचीन सभ्यताओं और अनूठी लोक-संस्कृति के लिए विश्व विख्यात है। इसी पावन धरा की गोद में स्थित **बालोद जिला** पुरातात्विक संपदा और लोक-परंपराओं का एक ऐसा संगम स्थल है, जहाँ इतिहास और वर्तमान एक साथ सांस लेते हैं। यहाँ के खंडहर, मंदिर और पाषाण स्मारक केवल अतीत की गाथाएं नहीं सुनाते, बल्कि वे आज भी स्थानीय समाज के उत्सवों, विश्वासों और दैनिक जीवन का अभिन्न हिस्सा हैं।

बालोद जिले का इतिहास प्रागैतिहासिक काल से जुड़ा है। करहीभदर, सोर और चिरचारी जैसे क्षेत्रों में पाए गए 'मेगालिथ' (महापाषाण कालीन संरचनाएं) इस बात का प्रमाण हैं कि यहाँ हजारों वर्षों से मानव सभ्यता निरंतर फल-फूल रही है। इसके बाद मध्यकाल में यह क्षेत्र कलचुरी और फणी नागवंशीय राजाओं के प्रभाव में रहा, जिन्होंने यहाँ की स्थापत्य कला को समृद्ध किया। इन ऐतिहासिक परिवर्तनों ने बालोद की एक विशिष्ट पहचान गढ़ी है।

लोक-उत्सव किसी भी समाज की जीवंतता के परिचायक होते हैं। बालोद में आयोजित होने वाले पर्व जैसे मड़ई, गंगा मैया मेला, और छेरछेरा, मात्र मनोरंजन के साधन नहीं हैं। ये उत्सव अक्सर ऐतिहासिक स्थलों के प्रांगण में आयोजित होते हैं, जो यह दर्शाते हैं कि स्थानीय समुदाय ने अपने इतिहास को भूला नहीं है, बल्कि उसे 'उत्सव' के रूप में सहेज कर रखा है।

* शोधार्थी, इतिहास विभाग, भारती विश्वविद्यालय, दुर्ग

† सह-प्राध्यापक, संकायाध्यक्ष, इतिहास विभाग, भारती विश्वविद्यालय, दुर्ग, (छ.ग.)

ऐतिहासिक स्थलों और उत्सवों का अंतर्संबंध: इस शोध का केंद्रीय तर्क यह है कि बालोद के ऐतिहासिक स्थल और यहाँ के लोक-उत्सव एक-दूसरे से सहजीवी रूप से जुड़े हैं। जहाँ एक ओर ऐतिहासिक स्मारक इन उत्सवों को 'पवित्र आधार' और 'स्थान' प्रदान करते हैं, वहीं दूसरी ओर ये उत्सव उन निर्जीव पत्थरों में 'सामुदायिक प्राण' फूंकने का कार्य करते हैं। उदाहरण के तौर पर, किसी प्राचीन मंदिर के अवशेषों पर लगने वाला मेला उस स्मारक को केवल एक पुरातात्विक वस्तु बनने से रोकता है और उसे एक जीवंत सांस्कृतिक धरोहर बनाए रखता है।

शोध की प्रासंगिकता:

वैश्वीकरण के इस दौर में जहाँ आधुनिकता प्राचीन जड़ों को कमजोर कर रही है, वहाँ बालोद के इस सांस्कृतिक संबंध का अध्ययन करना अनिवार्य है। यह शोध न केवल ऐतिहासिक धरोहरों के संरक्षण पर बल देता है, बल्कि यह भी स्पष्ट करता है कि कैसे 'लोक-संस्कृति' इतिहास को जीवित रखने का सबसे सशक्त माध्यम है।

शोध के उद्देश्य

(i) बालोद जिले के प्रमुख ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक स्थलों का व्यवस्थित दस्तावेजीकरण करना

इसका उद्देश्य केवल स्थलों की सूची बनाना नहीं है, बल्कि उनकी वर्तमान स्थिति का वैज्ञानिक और ऐतिहासिक विवरण तैयार करना है।

विस्तार: इसमें महापाषाण काल, मध्यकालीन शिव मंदिरों (जैसे कपिलेश्वर समूह) और स्थानीय गढ़ों का कालक्रम के अनुसार वर्गीकरण करना शामिल है। शोध यह देखेगा कि ये स्थल वास्तुकला की दृष्टि से छत्तीसगढ़ के अन्य क्षेत्रों से किस प्रकार भिन्न हैं।

(ii) जिले के प्रमुख लोक-उत्सवों की उत्पत्ति और उनके स्वरूप का विश्लेषण करना

लोक-उत्सवों के पीछे छिपी ऐतिहासिक कथाओं और धार्मिक मान्यताओं का अध्ययन करना।

विस्तार: बालोद की 'मड़ई' परंपरा, गंगा मैया का मेला और आदिवासी पर्वों के मूल स्वरूप को समझना। उद्देश्य यह पता लगाना है कि इन उत्सवों में समय के साथ क्या परिवर्तन आए हैं और इनमें कौन-कौन से स्थानीय समुदाय प्रमुख भूमिका निभाते हैं।

(iii) ऐतिहासिक स्मारकों और लोक-उत्सवों के मध्य विद्यमान 'सांस्कृतिक सेतु' की पहचान करना

विस्तार: यह समझना कि क्यों कोई विशिष्ट मेला एक विशेष मंदिर या खंडहर के पास ही आयोजित होता है। क्या इन स्थलों की ऐतिहासिक महत्ता ही लोक-उत्सवों को पवित्रता प्रदान करती है? यह शोध इस अंतर्संबंध को स्पष्ट करेगा कि कैसे भौतिक विरासत और अमूर्त विरासत एक-दूसरे को सहारा देते हैं।

(iv) स्थानीय समुदायों की ऐतिहासिक चेतना और उनके सामाजिक जुड़ाव का अध्ययन करना

इसका उद्देश्य यह जानना है कि वर्तमान पीढ़ी इन ऐतिहासिक स्थलों को किस दृष्टिकोण से देखती है।

विस्तार: क्या स्थानीय लोग इन स्थलों को केवल 'पूजा स्थल' मानते हैं या वे इनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से भी परिचित हैं? यह उद्देश्य लोक-मान्यता और प्रमाणित इतिहास के बीच के सामंजस्य या अंतर को स्पष्ट करेगा।

प्रमुख ऐतिहासिक स्थल और उनका महत्व

बालोद जिले का इतिहास पाषाण काल से लेकर मराठा काल तक फैला हुआ है। शोध की दृष्टि से इन्हें निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है:

1 प्रागैतिहासिक एवं महापाषाण कालीन स्थल : बालोद जिला भारत के उन गिने-चुने क्षेत्रों में से एक है जहाँ 'शवाधान घरे' पाए जाते हैं।

- **सोरर, करहीभदर और चिरचारी:** ये स्थल लौह-युगीन सभ्यता के अवशेष हैं। यहाँ बड़े-बड़े पत्थरों को एक विशेष घरे में रखा गया है।

- **महत्व:** ये स्थल दर्शाते हैं कि यहाँ हजारों वर्ष पूर्व एक संगठित समाज रहता था, जो मृत्यु के बाद की रस्मों और खगोल विज्ञान (पत्थरों की स्थिति के आधार पर) का ज्ञान रखता था। स्थानीय लोग आज भी इन्हें “पुरखा के पत्थर” मानकर सम्मान देते हैं।

2 प्राचीन एवं मध्यकालीन मंदिर स्थापत्य : जिले में कलचुरी और फणी नागवंशीय शासकों के समय की बेजोड़ कलाकृतियाँ विद्यमान हैं।

- **कपिलेश्वर मंदिर समूह (बालोद):** यह शिव मंदिरों का एक समूह है, जो अपनी वास्तुकला के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ का मुख्य मंदिर नागर शैली से प्रभावित है।
- **प्राचीन महामाया मंदिर:** यह मंदिर शक्ति उपासना का केंद्र है और इसकी बनावट में क्षेत्रीय दुर्ग स्थापत्य की झलक मिलती है।
- **महत्व:** ये मंदिर केवल धार्मिक केंद्र नहीं हैं, बल्कि तत्कालीन समाज की आर्थिक समृद्धि और कलात्मक अभिरुचि के ऐतिहासिक दस्तावेज हैं। इनकी दीवारों पर अंकित प्रतिमाएँ उस समय के पहनावे और वाद्ययंत्रों की जानकारी देती हैं।

3 गंगा मैया मंदिर, झलमला : यह स्थल इतिहास और लोक-श्रुति का अद्भुत उदाहरण है।

- **ऐतिहासिक संदर्भ:** माना जाता है कि इस मंदिर का इतिहास गोंड राजाओं के काल से जुड़ा है। मंदिर के साथ जुड़ा जल-कुंड प्राचीन जल प्रबंधन का हिस्सा रहा है।
- **महत्व:** यह बालोद की ‘सांस्कृतिक राजधानी’ की तरह कार्य करता है। यहाँ आयोजित होने वाला वार्षिक मेला जिले का सबसे बड़ा सामाजिक जमावड़ा है, जो ऐतिहासिक मान्यताओं को लोक-परंपराओं से जोड़ता है।

4 प्राचीन जलाशय : बालोद को “किलों और तालाबों का क्षेत्र” भी कहा जाता रहा है।

- **तांदुला और गोंदली जलाशय:** यद्यपि तांदुला बांध का निर्माण ब्रिटिश काल (1913) में हुआ, लेकिन इसके पीछे की सोच और स्थानीय श्रम शक्ति का इतिहास महत्वपूर्ण है।
- **महत्व:** ये जलाशय न केवल कृषि का आधार बने, बल्कि इनके किनारे कई सभ्यताओं का विकास हुआ।

प्रमुख लोक-उत्सव और सांस्कृतिक गतिविधियाँ

बालोद के लोक-उत्सवों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है: कृषि आधारित, जनजातीय आस्था आधारित और पौराणिक-धार्मिक।

1 ‘मड़ई’ मेला: जनजातीय अस्मिता और सामाजिक समागम : मड़ई बालोद की सांस्कृतिक पहचान का सबसे सशक्त स्तंभ है।

- **ऐतिहासिक संदर्भ:** मड़ई का आयोजन अक्सर फसल कटाई के बाद होता है। ऐतिहासिक रूप से यह विभिन्न रियासतों और गांवों के बीच मेल-मिलाप का मंच था।
- **आंगादेव की पूजा:** मड़ई की शुरुआत ‘आंगा देव’ की पूजा से होती है। लकड़ी से बनी इन देव-प्रतिमाओं को कांधे पर झुलाते हुए मेला स्थल पर लाया जाता है।
- **सांस्कृतिक महत्व:** यहाँ ‘अहिरावण’ और ‘नकटोरा’ जैसे पारंपरिक नृत्य और स्वांग देखने को मिलते हैं। यह महत्वपूर्ण है कि मड़ई कैसे प्राचीन गणतांत्रिक व्यवस्था (जहाँ गांव का मुखिया और देवता सर्वोपरि थे) को आज भी जीवित रखे हुए है।

2 गंगा मैया का मेला (झलमला): भक्ति और लोक-इतिहास : यह मेला बालोद के सबसे बड़े वार्षिक आयोजनों में से एक है।

- **उत्सव का स्वरूप:** नवरात्रि के समय यहाँ विशाल मेले का आयोजन होता है। लोक-कथाओं के अनुसार, माँ गंगा मैया की प्रतिमा एक मछुआरे के जाल में मिली थी, जो स्थानीय जनजातीय और गैर-जनजातीय समाज के बीच के गहरे जुड़ाव को दर्शाती है।
- **सांस्कृतिक गतिविधि:** मेले के दौरान ददरिया, सुआ और पंथी गीतों की गूंज सुनाई देती है, जो छत्तीसगढ़ी संस्कृति के 'लोक-कंठ' का प्रतिनिधित्व करते हैं।

3 छेरछेरा और हरेली: कृषि संस्कृति के आधार स्तंभ : ये पर्व छत्तीसगढ़ की मिट्टी और खेती-किसानी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के माध्यम हैं।

- **हरेली:** यह सावन मास में मनाया जाता है। इसमें लोहे के औजारों (कृषि उपकरणों) की पूजा की जाती है। बालोद के ग्रामीण क्षेत्रों में इस दिन 'गेड़ी' (बाँस के डंडे) पर चढ़ना एक अद्वितीय सांस्कृतिक गतिविधि है।
- **छेरछेरा:** फसल घर आने की खुशी में 'दान' का यह महापर्व सामाजिक समरसता का प्रतीक है। बच्चे और युवा टोलियाँ बनाकर घर-घर जाकर "छेरछेरा, माई कोठी के धान ला हेरते हेरा" के स्वर में अन्न दान मांगते हैं।

4 प्रमुख लोक-कलाएं और नृत्य : बालोद की सांस्कृतिक पहचान यहाँ की लोक-कलाओं के बिना अधूरी है:

- **करमा और ददरिया:** जनजातीय समुदायों द्वारा किया जाने वाला यह नृत्य प्रकृति और प्रेम का उत्सव है।
- **पंडवानी और भरथरी:** इन लोक-गाथाओं के माध्यम से महाभारत और राजा भरथरी के इतिहास को संगीतमय ढंग से प्रस्तुत किया जाता है।
- **राउत नाचा:** शौर्य और भगवान कृष्ण की भक्ति का यह नृत्य ऐतिहासिक वीरता की कहानियों को समेटे हुए है।

5 शोध की दृष्टि से विशेष विश्लेषण

- पर्यावरण के साथ जुड़ाव:** बालोद के लगभग सभी उत्सव (जैसे हरेली या मड़ई) प्रकृति, पेड़ों और जल स्रोतों के इर्द-गिर्द बुने गए हैं। यह प्राचीन 'पर्यावरण संरक्षण' की चेतना को दर्शाता है।
- जातिगत समरसता:** इन उत्सवों में गाँव के प्रत्येक वर्ग (लोहार, कुम्हार, यादव, आदिवासी) की एक विशिष्ट भूमिका तय होती है, जो प्राचीन काल की सामाजिक आत्मनिर्भरता का प्रमाण है।
- मौखिक इतिहास:** इन मेलों में गाए जाने वाले गीतों में कई ऐतिहासिक युद्धों, राजाओं और अकाल की घटनाओं का वर्णन मिलता है, जो किसी लिखित दस्तावेज में मौजूद नहीं हैं।

ऐतिहासिक स्थलों और उत्सवों के बीच सांस्कृतिक संबंध

बालोद जिले में इतिहास और लोक-संस्कृति के बीच का संबंध केवल भौगोलिक नहीं, बल्कि आध्यात्मिक और सामाजिक भी है। इसे निम्नलिखित बिंदुओं के माध्यम से समझा जा सकता है:

1 स्मारकों का 'पवित्र स्थल' के रूप में रूपांतरण : बालोद के अधिकांश ऐतिहासिक स्थल आज केवल पर्यटक स्थल नहीं हैं, बल्कि वे आस्था के जीवित केंद्र हैं।

- **विश्लेषण:** उदाहरण के लिए, कपिलेश्वर मंदिर समूह या गंगा मैया मंदिर के प्राचीन अवशेषों को समाज ने 'मृत धरोहर' मानने के बजाय 'देव-स्थान' के रूप में स्वीकार किया है।
- **संबंध:** जब किसी ऐतिहासिक स्थल पर मेला (जैसे शिवरात्रि या नवरात्रि मेला) लगता है, तो वह स्मारक पुनः 'प्रासंगिक' हो जाता है। इससे उस स्थल का संरक्षण भी होता है और नई पीढ़ी को अपने गौरवशाली अतीत का ज्ञान भी मिलता है।

2 महापाषाण कालीन घरे और पुरखा पूजा : सोर और करहीभदर के प्राचीन पत्थर इस संबंध का सबसे प्राचीन उदाहरण हैं।

- **विश्लेषण:** पुरातत्व विभाग के लिए ये 3000 साल पुराने 'शवाधान घरे' हैं, लेकिन स्थानीय आदिवासी समुदाय के लिए ये उनके 'पुरखा' हैं।
- **संबंध:** 'नवाखाई' या अन्य विशेष पर्वों पर इन पत्थरों के पास दीया जलाना या बलि देना यह दर्शाता है कि आदिम संस्कृति ने इतिहास को अपनी पूजा पद्धति में आत्मसात कर लिया है। यह भौतिक साक्ष्य और अमूर्त विश्वास का अद्भुत संगम है।

3 मड़ई और 'आंगादेव': शासन व्यवस्था का सांस्कृतिक स्वरूप : बालोद की मड़ई परंपरा का ऐतिहासिक संबंध प्राचीन कबीलाई शासन व्यवस्था से है।

- **विश्लेषण:** मड़ई में 'आंगा देव' का एक स्थान पर एकत्रित होना प्राचीन काल में विभिन्न गांवों या रियासतों के बीच के 'राजनयिक संबंधों' का प्रतीक है।
- **संबंध:** डोंडीलोहारा जैसे क्षेत्रों में जहाँ प्राचीन गढ़ (किले) मौजूद थे, वहां की मड़ई आज भी राजसी और जनजातीय परंपराओं के बीच एक सेतु का कार्य करती है। यहाँ का 'राज-महल' और 'जनता का मेला' इतिहास और वर्तमान को जोड़ता है।

4 मौखिक परंपराएँ और लोक-गाथाएँ : इतिहास अक्सर किताबों में दर्ज होता है, लेकिन बालोद में यह गीतों में जीवित है।

- **विश्लेषण:** बालोद के लोक-गायक जब 'पंडवानी' या 'भरथरी' गाते हैं, तो वे अनजाने में ही उस समय के ऐतिहासिक भूगोल और सामाजिक ढांचे का वर्णन कर रहे होते हैं।
- **संबंध:** तांदुला नदी के किनारे बसे गांवों की लोककथाओं में राजाओं, युद्धों और प्राकृतिक आपदाओं का जिक्र मिलता है, जो ऐतिहासिक शोध के लिए 'लिखित साक्ष्यों' की कमी को पूरा करते हैं।

5 स्थापत्य का लोक-कला पर प्रभाव : मंदिरों की दीवारों पर उत्कीर्ण मूर्तियाँ आज के लोक-जीवन का प्रतिबिंब हैं।

- **विश्लेषण:** प्राचीन मंदिरों में मिलने वाली 'ढोलक', 'मजीरा' और 'नर्तकियों' की मुद्राएं बालोद के वर्तमान 'करमा' और 'सुआ' नृत्य में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती हैं।
- **संबंध:** यह सिद्ध करता है कि बालोद की लोक-कलाएं किसी आधुनिक खोज का परिणाम नहीं हैं, बल्कि वे उसी ऐतिहासिक निरंतरता का हिस्सा हैं जिसने इन मंदिरों का निर्माण किया था।

शोध प्रबंध के लिए तालिका

ऐतिहासिक श्रेणी	स्थल का उदाहरण	संबंधित लोक-उत्सव/परंपरा	सांस्कृतिक कड़ी
प्रागैतिहासिक	सोरर	पितृ पूजा / देव पूजा	पूर्वजों के प्रति सम्मान की निरंतरता
मध्यकालीन	कपिलेश्वर मंदिर	शिवरात्रि मेला / सावन पूजा	धार्मिक स्थापत्य और सामुदायिक भक्ति
जनजातीय	डोंडीलोहारा गढ़	स्थानीय मड़ई / आंगा देव	राजसी सत्ता और जनजातीय लोकतंत्र
प्राकृतिक	तांदुला नदी तट	कार्तिक स्नान / तटीय मेले	जल संसाधन और जीवन पद्धति का जुड़ाव

निष्कर्ष

बालोद जिले के लोक-उत्सवों और ऐतिहासिक स्थलों के गहन अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि यहाँ की संस्कृति केवल अतीत का अवशेष नहीं, बल्कि एक निरंतर प्रवाहित धारा है। शोध के मुख्य निष्कर्ष निम्नलिखित हैं:

- **अटूट अंतर्संबंध:** बालोद में इतिहास और संस्कृति एक-दूसरे से इस प्रकार गुंथे हुए हैं कि उन्हें अलग करना असंभव है। ऐतिहासिक स्थल जहाँ समाज को उसकी जड़ों की याद दिलाते हैं, वहीं लोक-उत्सव उन निर्जीव स्मारकों को सामाजिक और आध्यात्मिक ऊर्जा प्रदान करते हैं।
- **संरक्षण का लोक-मॉडल:** शोध यह सिद्ध करता है कि पुरातत्व विभाग की तुलना में 'लोक-आस्था' ने इन ऐतिहासिक स्थलों के संरक्षण में अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। जब तक किसी स्थल से समुदाय का उत्सव जुड़ा है, वह स्थल सुरक्षित और जीवंत है।
- **सांस्कृतिक अस्मिता:** मड़ई, गंगा मैया मेला और महापाषाण कालीन स्थलों पर होने वाली पूजा यह दर्शाती है कि बालोद का समाज अपनी 'जनजातीय' और 'आंचलिक' पहचान को लेकर सजग है। यह आधुनिकता और परंपरा के बीच एक सुंदर संतुलन पेश करता है।

निष्कर्षतः, यदि इन ऐतिहासिक स्थलों और उत्सवों को 'सांस्कृतिक पर्यटन' के रूप में विकसित किया जाए, तो यह न केवल जिले की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करेगा, बल्कि विश्व पटल पर बालोद की एक विशिष्ट पहचान स्थापित करेगा।

संदर्भ :-

1. मिश्र, डॉ. रमेश नाथ. (2009). छत्तीसगढ़ का इतिहास. रायपुर: छत्तीसगढ़ हिंदी ग्रंथ अकादमी.
2. साहू, डॉ. पी.सी. (2008). छत्तीसगढ़ की लोक संस्कृति और कला. रायपुर: वैभव प्रकाशन.
3. वर्मा, डॉ. भगवान सिंह. (2003). छत्तीसगढ़ के प्रमुख पुरातात्विक स्थल. रायपुर: पुरातत्व एवं संग्रहालय विभाग, छत्तीसगढ़.
4. ग्रियर्सन, जॉर्ज ए. (1928). लिग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया (बालोद और आसपास की बोलियों के संदर्भ में). कलकत्ता: Superintendent of Government Printing.

शोध पत्र एवं पत्रिकाएं:

- **भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण की वार्षिक रिपोर्ट:** बालोद जिले के 'महापाषाण कालीन घेरों' पर विशेष लेख.
- **छत्तीसगढ़ पर्यटन बोर्ड की मार्गदर्शिका:** बालोद के ऐतिहासिक मंदिरों और जलाशयों का विवरण.
- **स्थानीय स्मारिका:** गंगा मैया मंदिर समिति और मड़ई उत्सव समितियों द्वारा प्रकाशित वार्षिक पत्रिकाएं.

डिजिटल एवं अन्य स्रोत:

- छत्तीसगढ़ शासन की आधिकारिक वेबसाइट (balod.gov.in) - जिले का सांख्यिकीय और ऐतिहासिक परिचय.
- स्थानीय लोक-गायक और पुजारियों के साथ किए गए साक्षात्कार.

थारू जनजाति: परिवेश एवं प्राकृतिक चित्रण

अवधेश कुमार*

akumarmgcub@gmail.com

सारांश :

प्रस्तुत शोध पत्र में थारू जनजाति के सामाजिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक तथा प्राकृतिक जीवन का विस्तृत अध्ययन किया गया है। थारू जनजाति मुख्यतः उत्तर प्रदेश, उत्तराखंड, बिहार तथा नेपाल के तराई क्षेत्रों में निवास करने वाली एक प्रमुख आदिम जनजाति है, जिसकी जीवनशैली प्रकृति के साथ गहरे सह-अस्तित्व पर आधारित है। शोध पत्र में थारू जनजाति की उत्पत्ति संबंधी विभिन्न मतों का आलोचनात्मक विवेचन किया गया है तथा यह स्पष्ट किया गया है कि इनके संबंध में प्रचलित अनेक धारणाएँ लोककथात्मक हैं, जिनका ऐतिहासिक और वैज्ञानिक प्रमाणों से पुष्ट होना आवश्यक है।

इसमें थारू समाज की संस्कृति, परंपराएँ, सामाजिक संगठन, रहन-सहन, वेशभूषा, गृह निर्माण शैली तथा स्त्री-पुरुष संबंधों का विस्तृत चित्रण प्रस्तुत किया गया है। विशेष रूप से यह रेखांकित किया गया है कि थारू जनजाति प्रकृति को ईश्वरतुल्य मानती है और जंगल, नदी, पशु-पक्षी तथा पर्यावरण से उसका घनिष्ठ संबंध है। आधुनिक विकास, भूमंडलीकरण तथा वन नीतियों के कारण थारू समुदाय का पारंपरिक जीवन प्रभावित हुआ है और उन्हें प्राकृतिक संसाधनों से दूर होना पड़ा है।

शोध पत्र में थारू लोक साहित्य विशेषतः लोकगीतों में प्रकृति चित्रण को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इनके लोकगीतों में नदी, जंगल, पर्वत, कोयल, साँप, बाँस आदि प्रकृति तत्व प्रतीक एवं बिंब के रूप में प्रयुक्त हुए हैं, जो इनके प्रकृति-आधारित जीवन दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करते हैं। इस प्रकार यह शोध पत्र थारू जनजाति के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन, प्रकृति-प्रेम तथा बदलते आधुनिक परिवेश में उनके अस्तित्वगत संघर्ष को उजागर करता है।

मुख्य शब्द :

थारू जनजाति, तराई क्षेत्र, आदिवासी संस्कृति, प्रकृति चित्रण, लोक साहित्य, लोकगीत, जनजातीय जीवन, पर्यावरण, सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक परंपरा।

थारू जनजाति उत्तर भारत के तराई क्षेत्र मुख्यतः उत्तर प्रदेश, उत्तराखंड तथा बिहार राज्यों में निवास करने वाली एक आदिम जनजाति है। इनकी संस्कृति प्रकृति, सामुदायिक जीवन और विभिन्न परंपराओं पर आधारित है। पूरे विश्व में भारतीय संस्कृति की एक अलग पहचान है। हमारा यह देश अनेकता में एकता लिए हुए विभिन्न संस्कृतियों का एक संगम स्थल है। जहाँ पर रहने वाले विभिन्न जातियों की तरह ही जनजातियों की अपनी एक विशिष्ट संस्कृति है जो इन्हें मुख्यधारा में रहने वाले लोगों से अलग बनाती है। इनकी संस्कृति में इनकी अपनी भाषा, रहन-सहन, आचार विचार, व्यवहार, विश्वास परंपरा, सामाजिक संगठन शामिल है। यहीं विशेषताएँ इन्हें विशिष्ट बनाती है।

थारू जनजाति के उत्पत्ति के संबंध में विद्वानों के बीच मतभेद की स्थिति है। हालांकि आम थारूओं के बीच यह धारणा रही है कि “थारू शब्द की उत्पत्ति का सम्बन्ध राजस्थान के ‘थार-मरूभूमि’ से रहा है। मध्य काल में जब मुसलमानों ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया तब राजपूत नारियों ने अपने विश्वस्त सेवकों के साथ हिमालय के जंगलों के तरफ भाग निकली। वर्षों बाद जब उनके पति उन्हें नहीं ढूँढ पाए तब उनसे उत्पन्न संतान थारू कहलाए।”¹ थारूओं के बीच प्रचलित इस धारणा में ऐतिहासिक प्रमाणों का अभाव लगता है। दूसरी बात यह कि इनकी उत्पत्ति राजपूत स्त्रियों और उनके सेवकों से हुई इसका कोई ऐतिहासिक और वैज्ञानिक प्रमाण नहीं है। इसलिए इस विचार को मिथक मात्र ही समझा जाना चाहिए। हम जानते हैं कि आधुनिक मानवशास्त्र और इतिहास ऐसे निष्कर्षों को पुरातात्विक, भाषाई और अनुवांशिक साक्ष्यों के आधार पर स्वीकार करता है ना की केवल कथाओं पर। ऐसी व्याख्या केवल लोककथात्मक और अप्रमाणिक दृष्टिकोण की ओर इशारा करता है।

* शोधार्थी (हिंदी विभाग), महात्मा गाँधी केन्द्रीय विश्वविद्यालय, मोतिहारी, बिहार.

इसलिए इसे तथ्य के रूप में स्वीकार करने के बजाय आलोचनात्मक दृष्टिकोण से देखा जाना चाहिए और थारू जनजाति के उत्पत्ति को बहुआयामी साक्ष्यों के आधार पर समझना चाहिए।

विभिन्न विद्वानों ने इनकी उत्पत्ति संबंधी अपना मत दिया है। जो इस प्रकार है :-

डॉ. शारदा प्रसाद के अनुसार - “थारू एक अति ही प्राचीन आदिम जाति है, जिसकी उत्पत्ति आज भी अनसुलझी तथा रोचक तथ्य बनी हुई है। इनकी सामाजिक-सांस्कृतिक विलक्षणता एक अलग विशिष्टता संजोय हुई है। इनके सामाजिक संगठन, परम्पराएँ, मान्यताएँ तथा रीति-रिवाज अनोखे हैं। थारूओं की एक अलग शारीरिक बनावट, विशिष्ट सामाजिक तथा आर्थिक विशेषताएँ तथा एकान्त सामाजिक जीवन होता है।”² इनके इस कथन में कई सारी कमियाँ नजर आती हैं। मसलन ‘उत्पत्ति आज भी अनसुलझी तथा रोचक तथ्य बनी हुई है’ ऐसा कहना एक तरह से थारू जनजाति को रहस्यमय बनाता है। जब की आधुनिक शोध इसका खंडन करता है। शारदा जी अपनी इस परिभाषा में एकांत जीवन की बात करते हैं जो कि पूरी तरह सही नहीं है। आज थारू समाज मुख्यधारा से जुड़ रहा है और अन्य समुदायों के साथ संपर्क में है। ये थारू जनजाति को एकरूपता में देखते हैं जबकि हम भौगोलिक दृष्टिकोण से देखें तो यह जनजाति विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग सामाजिक-सांस्कृतिक और आर्थिक रूपों में निवास करता है। इन सभी बिंदुओं पर विचार करते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि इन्होंने परिभाषा को अत्यधिक सामान्यीकरण कर दिया है।

राकेश प्रवीर के अनुसार- “थारूओं को भारत की आदिम जाति का ही मिश्रित रूप मानना तर्कसंगत दिखता है। केवल मुसलमानी आक्रमण के बाद पश्चिम से पूरब आकर बसने वाले आर्यों को थारू कहना उनके अति प्राचीन इतिहास के साथ अन्याय करना है।”³ राकेश प्रवीर जी की यह परिभाषा आंशिक रूप से सही दिशा में सवाल उठाती है। जैसे :- मुसलमानी आक्रमण के बाद पश्चिम से आए ‘आर्यों’ को थारू कहना गलत है। यह बात सही दिशा में है लेकिन वे इसे ठोस प्रमाणों के साथ नहीं समझाते हैं। दूसरी कमी हमें यह दिखती है कि इन्होंने ‘आर्य’ अवधारणा का सरलीकरण कर दिया है। प्रवीर जी ‘आर्य’ शब्द का प्रयोग यहाँ एक स्थिर और एकरूप समूह के रूप में करते हैं। जबकि कई इतिहासकार और भाषाविद् इसे नस्ल के रूप में ना देखकर भाषा और संस्कृति से जुड़ा समूह मानते हैं। मैक्समूलर के शब्दों में “I have declared again and again that if I say Aryas, I mean neither blood nor bones, nor hair nor skull; I mean simply those who speak an Aryan languages.”⁴ अर्थात् वे कहते हैं बार-बार घोषणा की है कि यदि मैं आर्य कहता हूँ तो मेरा मतलब न तो खून है, न हड्डियाँ, न बाल और न खोपड़ी; मेरा मतलब बस उन लोगों से है जो आर्य भाषा बोलते हैं। इस तरह ‘आर्यों’ को केवल नस्ल और एक पक्षीय दृष्टिकोण से देखना पूरी तरह सही नहीं है। एस.के. श्रीवास्तव के शब्दों में- “Tharus are a Mongoloid people, or predominantly so, who have successfully assimilated non-Mongoloid physical features as well.”⁵ अर्थात् थारू एक मंगोलॉयड लोग हैं, या मुख्य रूप से हैं, जिन्होंने गैर-मंगोलॉयड भौतिक विशेषताओं को भी सफलतापूर्वक आत्मसात किया है।

“The Tharoo traditions state that they come from Chittore, and refer to Jaimul and Puttah. They claim to have been originally Rajpoots, and state that their ancestors lost their caste by taking to intoxicating liquors and rearing fowls.”⁶ अर्थात्, थारू परंपराओं में कहा गया है कि वे चित्तौर से आते हैं, और जयमुल और पुट्टा का उल्लेख करते हैं। वे दावा करते हैं कि वे मूल रूप से राजपूत थे, और कहते हैं कि उनके पूर्वजों ने नशीली शराब और मुर्गियों को पालने के कारण अपनी जाति खो दी थी। इस तरह हम देखें तो इनके उत्पत्ति को लेकर कोई एक मत नहीं है।

भारत देश विभिन्न संस्कृतियों का संगम स्थल है। जहाँ सदियों से अनेक जातियाँ यहाँ निवास करती आई हैं। यँ तो देश के अलग-अलग भागों में अनेकों जनजातियाँ निवास करती हैं। परंतु अपने विशेष पहचान के लिए जानी जाने वाली थारू जनजाति भी भारत के प्रमुख रूप से उत्तराखंड, उत्तर प्रदेश तथा बिहार जैसे राज्यों में निवास करती है। ये जनजाति उत्तर प्रदेश के पीलीभीत जिले से 25 किलोमीटर उत्तर में नवसृजित राज्य उत्तरांचल (उत्तराखंड) के तराई में स्थित ऊधम सिंह नगर के जिले से खटीमा और सितारगंज क्षेत्र के एक विस्तृत और लंबे भू-भाग में निवास करती है। थारू जनजाति की कुछ अबादी उत्तर प्रदेश के गोंडा, बहराइच, लखीमपुर तथा गोरखपुर जिले के कुछ हिस्सों में निवास करती है। बिहार में मुख्य रूप से पश्चिमी चंपारण जिला जहाँ लगभग डेढ़ लाख से अधिक संख्या में निवास करती है। थारू जनजाति प्रमुख रूप से तीन राज्यों उत्तराखंड, उत्तरप्रदेश तथा बिहार के विभिन्न क्षेत्रों में निवास करती है।

थारू जनजाति भारत का एक प्रमुख जनजातीय समूह है, जो उत्तर प्रदेश, उत्तराखंड तथा बिहार के पश्चिमी चंपारण जिला के 'तराई' भागों में निवास करती है। इसके अतिरिक्त नेपाल जो की भारत का पड़ोसी राज्य है। यहाँ भी बड़ी संख्या में थारू जनजाति निवास करती है। इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका के अनुसार "Tharu, people of the Tarai region of the Himalayan foothills, located in southern Nepal and in the state of Uttar Pradesh in India. In the early 21st century the Tharu in Nepal officially numbered about 1.5 million and those in India about 170,000."⁷ अर्थात् 'थारू, हिमालय की तलहटी के तराई क्षेत्र के लोग, जो दक्षिणी नेपाल और भारत के उत्तर प्रदेश राज्य में स्थित हैं। 21 वीं सदी की शुरुआत में नेपाल में थारू की संख्या आधिकारिक तौर पर लगभग 1.5 मिलियन और भारत में लगभग 170,000 थी।' इनके निवास स्थान को लेकर नेपाल और भारत में एक समानता दिखाई पड़ता है। भारत के जिन राज्यों उत्तराखंड, उत्तरप्रदेश तथा बिहार के जिन क्षेत्रों में निवास करती है वह सब तराई का ही इलाका है। इन सारे राज्यों की सीमा नेपाल से लगती है।

थारू जनजाति का जीवन, संस्कृति और परम्पराएँ प्रकृति से गहरे रूप में जुड़ी रही है। सदियों से यह समुदाय प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व में है। लेकिन प्राकृतिक संसाधनों से समृद्ध होने के बावजूद सरकार और कॉरोपोरेट के मिलीभगत के कारण ये जनजाति जंगलों से दूर होते जा रहे हैं। "आज तो भूमण्डलीय नियमों के निरंकुश उत्पीड़न के नव-उपनिवेशवादी आदिवासियों की तादाद इन विस्थापित लोगों में सर्वाधिक सोचनीय है। यह आदिवासी समुदाय की त्रासदी ही है कि प्राकृतिक संसाधनों की दृष्टि से समृद्ध होना ही उनकी जमीं के लिए अभिशाप बन गया है।"⁸ आदिवासियों ने हमेशा से प्रकृति को अपना सब कुछ माना है। वे प्रकृति को मूर्त ईश्वर के रूप में देखते हैं - "आदिवासी-लोक की कुल परम्पराएँ सामान्यतः स्त्रीबोधक हैं। इस समाज में किन्हीं अमूर्त ईश्वरों अथवा मानवोपरि ऋषियों के लिए कोई स्थान नहीं। यहाँ प्रकृति प्रमुख है। इसलिए पृथ्वी को माँ यानी कि आद्यजननी माना गया है। साथ ही आकाश को पिता, जल को भाई और हवा को बहन के रूप में देखा जाता है। प्रकृति-तत्त्वों के प्रति यह भावना सम्पूर्ण विश्व के आदिम समुदायों में देखी जा सकती है।"⁹ प्रकृति के प्रति यही भावना चंपारण की थारू जनजाति में भी पाई जाती है। "पश्चिमी चम्पारण का थरूहट क्षेत्र कोई विशाल भू-भाग पर नहीं बसा है। जिले का कुल क्षेत्रफल 5228 वर्ग किलोमीटर है, जिसमें थरूहट का इलाका करीब 1500 वर्ग किलोमीटर भू-भाग पर ही अवस्थित है। इसमें भी लगभग 840 वर्ग किलोमीटर जंगल क्षेत्र है। पहले जंगल पर थारूओं का पारम्परिक अधिकार था। जंगल इनके लिए प्राण वायु के सदृश्य रहा है। परन्तु 1980 के पश्चात जब इस वन क्षेत्र में वाल्मिकी व्याघ्र परियोजना लागू कर दी गयी तब से थारू समाज पर अनेकानेक पाबंदियाँ लगा दी गयी है। वे जंगल में तथा इसके आसपास बसे होते हुए भी, इससे दूर कर दिये गये हैं। वैसे जंगल की लूट, जिसमें गैर थारू समुदाय के ज्यादातर लोग संलिप्त हैं, बेरोकटोक जारी है।"¹⁰

घर का निर्माण प्रत्येक जीव के लिए महत्वपूर्ण है। वह जहाँ रहता है उस स्थान को सदैव सुंदर स्वच्छ तथा आकर्षक बनाए रखना चाहता है। प्रत्येक जनजातियों में गृह निर्माण शैली तथा योजनाओं का अपना अलग महत्व है। पहले पहल थारू अपना मकान घास-फूस, बाँस तथा लड़कियों से बनाया करते थे। लेकिन विकास के दिशा को अग्रसर होते देख थारूओं के मकान कच्ची मिट्टी की दीवारों, लकड़ियों तथा पक्के खपड़े के छतों के साथ-साथ अब धीरे-धीरे पक्के मकान में तब्दील होने लगे हैं। "थारू जनजाति द्वारा निर्मित गृह निर्माण की तकनीकी उच्च कोटी की होती है जो प्रकृति एवं मौसमानुकूल होता है। गृह निर्माण की परंपरागत कलात्मक प्रणालियाँ इनकी संस्कृति की पहचान है। थारूओं की कला का सौन्दर्य उनके घरों को बनाने और घरों की दीवारों पर बनायी गई कलाकृतियों में दृष्टिगोचर होता है। चाहे थारू किसी भी भौगोलिक क्षेत्र के हो उनकी गृह निर्माण तकनीकी तथा गृह सज्जा की परंपरा थोड़े बहुत अंतर के साथ एक जैसी ही विशिष्ट होती है।"¹¹

मूलतः शांति प्रिय और सरल स्वभाव वाले इन जनजातियों के मकान देखने में साफ सुथरा और सुंदर होते हैं। मकान के बाहर एक बड़ा सा आंगन होता है, जिसे थारू स्त्रियाँ झाड़-बुहार कर साफ सुथरा करती हैं। रसोई घर आंगन के साथ ही देखने को मिलता है। ये लोग पशुपालन भी करते हैं। इन पशुओं से जहाँ एक ओर कृषि संबंधित काम लेते हैं, वहीं इससे प्राप्त दूध इनके पीने के काम आता है तथा बचा हुआ अतिरिक्त भाग बेचकर यह धन भी कमाते हैं। थारू स्त्रियाँ मिट्टी की मोटी लेप लगाकर उंगलियों से दीवारों पर तरह-तरह के पशु पक्षियों की आकृतियाँ बनाती हैं। ईंधन के रूप में ये लोग आज भी सूखी लकड़ियों, गोबर के कंडों, घास-फूस का प्रयोग करते हैं। लेकिन अब थारूओं के अनेक घरों में आजकल ईंधन के आधुनिक व्यवस्था देखने को मिलती है। छोटे-छोटे परिवार में सिमटते वर्तमान आधुनिक परिवेश में आज भी थारूओं में कई जगह संयुक्त परिवार की प्रथा देखने को मिलती है। इनका पारिवारिक जीवन सुखी होता है। स्त्री पुरुष सुख-दुख में एक दूसरे का साथ देते हुए मिलजुल कर रहते हैं। पुरुषों के ऊपर खेती-बाड़ी से लेकर घर तथा बाहर की ज्यादातर जिम्मेदारियाँ होती हैं। जबकि स्त्रियों पर

घर के सारे कामकाज के साथ-साथ बच्चों के लालन-पालन के अतिरिक्त खेत की काम काज की निपटाने की बहुत बड़ी जिम्मेदारी होती है। “आदिवासी समाज में स्त्री को पुरुष के समान स्थान दिया जाता है। वहाँ लिंग के आधार पर किसी तरह का भेद-भाव नहीं देखा जाता। गैर-आदिवासी समाज में पुरुष का दर्जा स्त्री से ऊपर रखने का घोर षड्यंत्र रचा जाता रहा है। यहाँ तक कि इस व्यवस्था को पवित्र बनाने के लिए तथाकथित धर्मग्रंथों का सहारा लिया गया है।”¹² थारू स्त्रियाँ बहुत मेहनती होती हैं। वह पारिवारिक तथा सामाजिक जिम्मेदारियाँ का बेहद सफलता से निर्वहन करती है। आमतौर पर स्त्रियाँ पर्दा नहीं करती है। इस समाज में स्त्रियों को आदर तथा सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। महिलाओं का उत्पीड़न अन्य समाज की तुलना में यहाँ काम है परिवार के समस्त निर्णय में थारू स्त्रियों की भूमिका बेहद महत्वपूर्ण होती है। “आदिवासी समाज में स्त्री का स्थान सम्मानजनक है। जहाँ तथाकथित भद्र समाज में स्त्री के बिना किसी गाली की कल्पना नहीं की जा सकती, वहीं आदिवासी समाज में लक्ष्य-व्यक्ति से संबंधित किसी स्त्री को नहीं सकेला-समेटा जाता। मानव प्रजाति की दृष्टि से यह एक महान परंपरा है जिससे बहुत कुछ सीखा जा सकता है।”¹³

पहाड़ के तलहटियों तथा जंगलों के आसपास रहने वाले थारू मछलियों के शिकार के बेहद शौकीन होते हैं। ये लोग नदी और तालाब हो तथा बांधों से मछलियाँ पकड़ते हैं। इसके लिए परंपरागत स्व-निर्मित जालों के साथ-साथ अब आधुनिक जालों का भी प्रयोग होने लगा है। स्थानीय बाजारों में उनके लिए मछलियाँ आसानी से उपलब्ध हो जाती है। मछली और चावल इनका प्रिय भोजन है। “The Tharu are excellent farmers, but they are also good fisherman and brave hunters. Even the women part in fishing and hunting. The women hold a dominant position in domestic life. They are a very diligent and hardworking people.”¹⁴ भोजन चौके के बाहर परोसा जाता है। परंपरागत रूप से पहले परिवार के पुरुष खाना खाते हैं। उसके उपरांत महिलाएं खाती है। अब साथ-साथ ही खाने लगे हैं। घरों के भीतर साल भर का अनाज सुरक्षित रखने के लिए थारू स्त्रियाँ मिट्टी के छोटे तथा बड़े पात्र बनाती हैं। इनमें छोटे पात्र को कोठिला तथा बड़े पात्र को कोठला कहा जाता है। ये लोग तंबाकू पीने के बहुत शौकीन होते हैं। परंपरागत होकर की जगह अपनी शौक सिगरेट तथा बीड़ी से करने लगे हैं।

समाज में जीवन यापन के लिए व्यावहारिक रूप से वेशभूषा की आवश्यकता होती है। पहले थारू स्त्रियाँ परंपरागत रूप से कमर के नीचे लहंगा ऊपर अंगिया तथा सिर्फ ओढ़नी पहनती थी। जबकि बुजुर्ग महिलाएं लहंगे के ऊपर कुर्तियाँ तथा होता ही पहनती थी। आभूषणों में बनकर गले में हंसो लिया हाथों में कड़वा पहुंची तथा घूंघट पहनती थी। बाजूबंद में संकरी पूछ कोटा का प्रयोग करती थी जबकि पुरुष पहले धोती कुर्ता चूड़ीदार पजामा था। प्रगति की दिशा में विकसित होते वेशभूषा भी बदलते परिवेश में धीरे-धीरे परिवर्तन होते गए। आम जीवन में अब लहंगा तथा अंगिया का स्थान सूती धोती और ब्लाउज में ले लिया है। सामान्य हिंदू महिलाओं की तरह यह अब साड़ी ब्लाउज पहनने लगे हैं। “वर्तमान परिवेश में थारू पुरुष एवं महिलाओं का पोशाक पूर्णतः परिवर्तित हो गया है। आधुनिक फैशन युग का विकास होने से, बाहरी वातावरण से इनका सम्पर्क होने तथा नाच-ड्रामा-सिनेमा-टी.वी. आदि ने इनके ओढ़ने-पहनने का ढंग ही बदल दिया है। युवक-युवतियों पर फैशन का प्रभाव विशेषतः अधिक पड़ा है। अब तो थारू युवक पढ़ा हो या अनपढ़, नौकरी पेशा वाला हो या मजदूर, टेरीकाट का पैंट-कमीज या जींस का पैंट, जूता या चप्पल अवश्य पहनता है। जंघिया (अण्डरवियर), गंजी, तथा घड़ी भी इसमें शामिल है। पुरुष धोती कुर्ता कोट, स्वेटर, पाजामा, कमीज, गंजी, जंघिया, जूता-चप्पल तथा घड़ी भी पहनते हैं।”¹⁵ कुंवारी लड़कियाँ भी अब अपनी परंपरागत वेशभूषा से हटकर सलवार कुर्ता के साथ-साथ हल्के-फुल्के आभूषण तथा सौंदर्य सजा का प्रयोग करने लगी हैं। थारू स्त्रियों में कहीं-कहीं अभी गोदना की प्राचीन परंपरा देखने को मिल जाती है। पुरुषों में आज भी याद भी पजामा कमीज का प्रचलन पाया जाता है परंतु अब थारू समाज में अधिकतर पुरुष पैंट कमीज पहनने लगे हैं। विकसित समाज में कम से कदम मिलाकर चलने तथा आधुनिकता के प्रति बढ़ती ललक के कारण थारू स्त्री पुरुषों में नए जमाने के प्रचलित परिधानों के प्रति रुचि तेजी से बढ़ती जा रही है।

थारू जनजाति हमेशा से प्रकृति के नजदीक रही है। इसका साक्ष्य इनके लोक साहित्य में बखूबी देखा जा सकता है। इनके लोकगीतों में प्रकृति का बहुत महत्व है। इनके लोकगीतों में प्रकृति कई बार सीधे-सीधे केंद्र में है अथवा बहुत जगह प्रतीक और बिम्ब के रूप में आया है। इसका कारण यह भी है की यह जनजाति हमेशा से प्रकृति के बीच अपना जीवन-यापन किया है। इनके लोकगीतों में प्रकृति का चित्रण सीधे-सीधे तो नहीं हुआ है लेकिन कई बार आलंबन के रूप में तो कई बार प्रतीक तो कई बा बिंब के रूप में चित्रित हुए हैं। इनके लोकगीतों में जंगल, पहाड़, नदी, जीव-जंतु आदि विभिन्न तरह के पशु-पक्षियों का जिक्र मिलता है। इसे कई गीतों के माध्यम से देखा जा सकता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है –

“सखि रे, साँप छोड़ले साँप-केंचुल हे,
सखि रे, ओइसने छोड़ले पिया मोर, भँवरवा विमुख भइले रे
बाँस छोड़ले बाँस-कोंपल,
सखि रे, अइसने छोड़ले पियवा मोर, भँवरवा विमुख भइले रे”¹⁶

अर्थात्, हे सखी जिस प्रकार साँप अपना केंचुल त्याग देता है और बाँस अपना कोंपल त्याग देता उसी प्रकार मेरा प्रियतम मुझसे त्याग दिया है। यहाँ साँप और बाँस प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ नायिका ने प्रकृति को आधार बनाकर अपना भाव व्यक्त किया है। इसी तरह एक दूसरे गीत में प्रकृति से तुलना करते हुए नायक कहता है –

“हाँ रे, नदिया किनारे हो संवरो हो, हाँ रे, फूलनी फूलइले
हाय-हाय, फूलनी फूलइले, हाय-हाय, फूलनी फूलइले
मचिया ए हो बइठल ऐ हो संवरो, अब झारे झीन हो केसी”

अर्थात्, जैसे नदी किनारे फूल खिला हो वैसे ही वह सुंदरी मचिया पर बैठ कर अपने बारीक केस झाड़ रही थी।

एक स्त्री का प्रियतम रूठ कर कहीं चला गया है। वह परेशान है कि एक तो मेरा प्रियतम मुझसे रूठ कर चला गया है और यह कोयल बार जंगल में कुहक रही है -

“हो हो रे, सेजिया से सइयाँ रुसी गइलें,
हो हो रे, सेजिया से सइयाँ रुसी गइलें, कोइलिया कुहकत बन में
कुहकत बन में, कुहकत बन में
सेजिया से सइयाँ रुसी गइलें, कोइलिया कुहकत बन में”¹⁷

निष्कर्ष : लोक में कोयल को प्रेम और मिलन का प्रतीक माना जाता है। उसका कुहकना प्रेम में पीड़ा का प्रतीक है। इन विभिन्न उदाहरणों के माध्यम से यह कहा जा सकता है कि थारू लोकगीतों में प्रकृति का अपना एक अलग महत्व है। थारू जनजाति का प्रकृति के साथ सीधा संबंध होता है, इसलिए हम देखते हैं कि इनके लोकगीतों में नदी, पेड़, पहाड़, सूरज, ऋतुएँ आदि बार-बार आती हैं।

संदर्भ:

- ¹ दुबे, प्रकाश चन्द्र. (2009). *थारू एक अनूठी जनजाति*. (दूसरा सं.). पटना : जेवियर इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल रिसर्च, पृ. 23.
- ² प्रसाद, डॉ. शारदा. (2018). *थारू जनजाति : जीवन और संस्कृति*. मुजफ्फरपुर : अभिधा प्रकाशन, पृ. 11-12.
- ³ प्रसाद, डॉ. शारदा. (2018). *थारू जनजाति : जीवन और संस्कृति*. मुजफ्फरपुर : अभिधा प्रकाशन, पृ. 11-12.
- ⁴ Muller, F. max (1888). *Biography of word and the home of the Aryas*. London: longmans, green, and co. p. 120-121.
- ⁵ Srivastava, s. k. (2011). *The tharus A Study in Culture Dynamics*. Varanasi: Kala Prakashan. p. 41.
- ⁶ Census of the N.W. Provinces, 1865, Volumes 1-4 appendix -B p. 60.
- ⁷ <https://www.britannica.com>
- ⁸ लुगुन, अनुज(सं.),(2018). *आदिवासी अस्मिता: प्रभुत्व और प्रतिरोध*. नयी दिल्ली: अनन्य प्रकाशन, पृ. 49.
- ⁹ मीणा, हरि राम. (2020). *आदिवासी दर्शन और समाज*. जयपुर: राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पृ. 186.
- ¹⁰ दुबे, प्रकाश चन्द्र. (2009). *थारू एक अनूठी जनजाति*. (दूसरा सं.). पटना : जेवियर इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल रिसर्च, पृ. 17.
- ¹¹ कुमारी, डॉ. नम्रता. (2021). *थारू लोक कला की विरासत*. वाराणसी: भारती प्रकाशन, पृ. 69.
- ¹² मीणा, हरि राम. (2020). *आदिवासी दर्शन और समाज*. जयपुर: राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पृ. 175.
- ¹³ वहीं, पृ. 185.
- ¹⁴ Hermanns, Fr. Matthians,(1954). *The Indo-Tibetans*. Bombay: K.L. Fernandes. Page no. 17.
- ¹⁵ प्रसाद, डॉ. शारदा. (2018). *थारू जनजाति : जीवन और संस्कृति*. मुजफ्फरपुर: अभिधा प्रकाशन, पृ. 30.
- ¹⁶ श्रीमंत, सिपाही सिंह. (2002). *थरुहट के लोकगीत*. गोपालगंज : श्रीमन्त प्रकाशन, पृ. 161.
- ¹⁷ वहीं, पृ. 206.

महिला सशक्तिकरण वर्ष की घोषणा के पूर्व तथा पश्चात् में किये गये कार्य

शुभम त्रिपाठी*

डॉ. आशा रानी दास†

सारांश

महिलाओं का सशक्तिकरण और उनके उत्थान का मुद्दा भारत में हमेशा से एक महत्वपूर्ण विषय रहा है। भारतीय समाज, जो लंबे समय तक पितृसत्तात्मक संरचना में जकड़ा रहा, उसमें महिलाओं को उनके अधिकारों से वंचित रखा गया। स्वतंत्रता से पहले और बाद के समय में महिलाओं ने अपने अधिकारों के लिए संघर्ष किया और उनके लिए विशेष योजनाओं और नीतियों को लागू किया गया। महिलाओं के उत्थान के लिए किए गए ये प्रयास न केवल उनकी सामाजिक स्थिति को सुधारने में सहायक रहे हैं, बल्कि उनके आर्थिक, राजनीतिक और शैक्षणिक सशक्तिकरण में भी बड़ी भूमिका निभाई है। महिलाओं का सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक उत्थान किसी भी समाज और राष्ट्र की प्रगति का आधार होता है।

शब्द कुंजी:-

सशक्तिकरण, अंतर्राष्ट्रीय, निर्णय, ग्रामीण विकास, आदिवासी।

प्रस्तावना

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भारत में महिला आंदोलन ने आंतरिक और बाहरी दोनों तरह की ताकतों से आकार ग्रहण किया है। वह महिलाओं या महिला कर्मिकों की आकांक्षाओं और अनुभवों को परिणाम नहीं था, बल्कि 19वीं सदी के पुरुष सामाजिक सुधारकों की हलचल का परिणाम था। उन्होंने अस्मिता के संकट के संदर्भ में नये संस्थानवादी शिक्षा प्राप्त मध्यम वर्ग के पुरुषों की प्रवृत्ति के परिप्रेक्ष्य में महिला उद्धार के सवाल को हाथ में लिया था। सांस्कृतिक राष्ट्रवादियों ने परिवार नामक संस्था के द्वारा संस्कृति पर पकड़ को मजबूत बनाने के साधन के रूप में महिला शिक्षा पर बल दिया था। स्वतंत्रता संघर्ष जैसे-जैसे गति पकड़ते गया, वैसे-वैसे सामाजिक सुधार का मुद्दा धीमे-धीमे राजनीतिक कार्यसूची बन गया। संस्थानवादी काल के दौरान राजनीतिक संघर्ष में तथा मजदूर, किसान व आदिवासी आंदोलन में महिलाओं ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, तथापि सार्वजनिक-राजनैतिक परिदृश्य में उनकी भूमिका को समुचित रूप से नहीं स्वीकारा गया। इस तरह उनकी आवाज उनके कर्तव्य और उनके नेतृत्व को नकार दिया गया।

स्वदेशी और स्वराज हेतु गाँधीजी के आह्वान में असहयोग आंदोलन और भारत छोड़ो आंदोलन में महिलाएँ बहुत बड़ी संख्या में शामिल हुई थी। पालन-पोषण, प्रेम एवं अहिंसा आदि स्त्रियोचित गुणों का मूल्य आंकते हुए गाँधीजी ने इन मूल्यों को सार्वजनिक व राजनीतिक जगत में लाने का तथा राजनीति को महिला समानता को प्राप्त करने की जिम्मेदारी राज्यों की है। 1975 में जांच समिति के निर्णयों में बताया गया कि ग्रामीण व शहरी अंचलों की गरीब व कामगर महिलाएँ विकास प्रक्रिया में किनारे कर दी गई है। इसका सबूत जनसंख्या संबंधी प्रवृत्ति से मिलता था। साक्षरता निम्न दर, ऊँची बाल मृत्युदर, ऊँची प्रसूता मृत्यु दर, महिला का निम्न आयु दर और बढ़ता विस्थापन इसके प्रमाण थे। ये प्रत्येक प्रवृत्तियाँ वर्ग, जाति एवं धार्मिक ताकतों के द्वारा प्रभावित थी और इसी से प्रादेशिक फर्क उत्पन्न होते थे।

* शोधार्थी, इतिहास विभाग, आई. एस. बी. एम. यूनिवर्सिटी, गरियाबंद

† सह. प्राध्यापक इतिहास विभाग, आई. एस. बी. एम. यूनिवर्सिटी, गरियाबंद

आपात काल (सन् 1975-1977) के बाद के काल में महिला आंदोलन में एक नया मोड़ दिखाई दिया। पारिवारिक एवं राष्ट्रीय अर्थतंत्र में समाज के भागीदार व निर्णायककर्ता के रूप में महिलाओं के योगदान को मान्यता मिली और राष्ट्र के विकास में महत्वपूर्ण संसाधन के बतौर एक नई समानता का जन्म हुआ।

शोध प्रविधि

यह शोध गुणात्मक (Qualitative) एवं वर्णनात्मक (Descriptive) शोध प्रविधि पर आधारित है। प्रस्तुत अध्ययन में महिला सशक्तिकरण की अवधारणा, उसके ऐतिहासिक विकास, अंतर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर किए गए प्रयासों तथा वर्ष 2001 को महिला सशक्तिकरण वर्ष घोषित किए जाने से पूर्व एवं पश्चात् लागू की गई नीतियों और योजनाओं का विश्लेषण किया गया है।

अध्ययन हेतु द्वितीयक स्रोतों (Secondary Sources) का उपयोग किया गया है। इसके अंतर्गत राष्ट्रीय महिला आयोग की रिपोर्टें, आर्थिक सर्वेक्षण, नीति आयोग की रिपोर्टें, महिला एवं बाल विकास मंत्रालय के दस्तावेज, ग्रामीण विकास मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्टें, संयुक्त राष्ट्र एवं यूनिसेफ की रिपोर्टें, नाबार्ड तथा माइक्रोफाइनेंस संस्थाओं के प्रकाशनों का अध्ययन किया गया है। प्राप्त तथ्यों का विश्लेषणात्मक एवं व्याख्यात्मक पद्धति से परीक्षण करते हुए महिला सशक्तिकरण की उपलब्धियों, चुनौतियों तथा भावी संभावनाओं का मूल्यांकन किया गया है।

साहित्य समीक्षा

महिला सशक्तिकरण विषय पर राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक अध्ययन किए गए हैं। विभिन्न शोधों में महिलाओं की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं शैक्षिक स्थिति का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

राष्ट्रीय महिला आयोग (2022) की रिपोर्ट में महिलाओं की सुरक्षा, अधिकारों एवं सामाजिक स्थिति से संबंधित प्रमुख चुनौतियों का उल्लेख किया गया है। रिपोर्ट में महिलाओं की निर्णयात्मक भागीदारी को बढ़ाने पर बल दिया गया है।

आर्थिक सर्वेक्षण (2021-22) में महिला श्रम भागीदारी, वित्तीय समावेशन तथा रोजगार के अवसरों में वृद्धि को महिला सशक्तिकरण का महत्वपूर्ण आधार माना गया है।

नाबार्ड ग्रामीण विकास रिपोर्ट (2021) में स्वयं सहायता समूहों (SHGs) के माध्यम से ग्रामीण महिलाओं की आर्थिक आत्मनिर्भरता को सशक्तिकरण का प्रभावी साधन बताया गया है।

यूनिसेफ इंडिया रिपोर्ट (2020) में बालिकाओं की शिक्षा, पोषण तथा स्वास्थ्य संबंधी कार्यक्रमों के सकारात्मक प्रभावों का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

संयुक्त राष्ट्र महिला सशक्तिकरण रिपोर्ट (2022) में लैंगिक समानता, नेतृत्व क्षमता तथा आर्थिक अवसरों में महिलाओं की भागीदारी बढ़ाने के लिए वैश्विक प्रयासों का उल्लेख किया गया है।

महिला एवं बाल विकास मंत्रालय तथा नीति आयोग की विभिन्न रिपोर्टों में महिला सशक्तिकरण वर्ष (2001) के बाद लागू योजनाओं, जैसे—बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ, महिला स्वयं सहायता समूह, मातृत्व सुरक्षा कार्यक्रम तथा राजनीतिक सहभागिता से संबंधित प्रयासों का मूल्यांकन किया गया है।

उपरोक्त अध्ययनों से स्पष्ट होता है कि महिला सशक्तिकरण केवल कल्याणकारी दृष्टिकोण तक सीमित नहीं है, बल्कि यह महिलाओं की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा शैक्षिक भागीदारी सुनिश्चित करने की व्यापक प्रक्रिया है। प्रस्तुत शोध इसी दिशा में महिला सशक्तिकरण वर्ष की घोषणा से पूर्व एवं पश्चात् किए गए प्रयासों का तुलनात्मक अध्ययन करता है।

महिलाओं और विकास संबंधी नीतिगत दृष्टिकोणों में परिवर्तन

विगत चार दशकों के दरमियान महिलाओं से संबंधित नीतियों में बराबर परिवर्तन होता रहा है। महिलाओं को माता और गृहिणी के रूप में देखते हुए 1950 से 1970 के दशक तक विकासोन्मुखी आयोजन और नीतियों में उनकी जरूरतों को कल्याणकारी प्रवृत्तियों द्वारा पूरा करने की बात सोची गई थी। 1970 के दशक के चार पूर्वार्ध में विकास ऊपर से नीचे धीरे-धीरे

पहुंचेगा, ऐसा “ट्रिकल डाऊन” सिद्धान्त गलत है और मान्यता गलत सिद्ध हुई जो कि अनुसंधानों ने ऐसा दर्शाया कि वृद्धि के लाभ गरीबों तक नहीं पहुंचते हैं। अतः वृद्धि का पुनर्वितरण तथा आधारभूत जरूरतों का अधिगम जैसे विचार उत्पन्न हुए।

संयुक्त राष्ट्र का महिला दशक

इसी अवधि में 1975-1985 के दशक को संयुक्त राष्ट्र ने अंतर्राष्ट्रीय महिला दशक के रूप में घोषित किया जिसमें समानता, शांति एवं विकास के विषय शामिल थे। महिलाओं पर ध्यान केन्द्रित करने वाले शोध के प्रयासों को प्रोत्साहन दिया गया। महिला स्थिति जांच आयोग की स्थापना की गई। संयुक्त राष्ट्र के द्वारा घोषित महिला दशक 1980 में कहा गया है कि विकास का अर्थ यहाँ सम्पूर्ण विकास है, महिलाओं की दशा में सुधार के लिए स्त्रियों और पुरुषों दोनों की वृत्तियों में परिवर्तन की जाती है। उसके लाभ सभी वर्गों को मिलते हैं और उसका प्रभाव स्त्री-पुरुषों पर समान रूप से पड़ता है। अनुभव इससे नितांत विपरीत बात कहता है। समाज के तमाम वर्गों में आमदनी की व्यापक असमानता और स्त्री-पुरुष के बीच के भेदभाव स्पष्ट रूप से समाहित किया गया था।

सशक्तिकरण की शुरुआत संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा 8 मार्च 1975 को अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस से मानी जाती है। फिर महिला सशक्तिकरण की पहल 1985 में महिला अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन नैरोबी में की गई। भारत सरकार द्वारा समाज में लिंग आधारित भिन्नताओं को दूर करने के लिए एक महान नीति महिला कल्याण नीति, 1953 में अपनाई।

महिला सशक्तिकरण का राष्ट्रीय उद्देश्य महिलाओं की प्रगति और उनमें विश्वास का संचार करना है। महिला सशक्तिकरण देश के विकास के लिए महत्वपूर्ण है। महिलाओं का सशक्तिकरण सबसे महत्वपूर्ण चीज है क्योंकि वे रचनाकार होती हैं। अगर वह सशक्त और शक्तिशाली होगी तो देश के लिए अपनी भागीदारी बहुत अच्छे से निभा पायेगी। ऐसा करना कोई बड़ी बात नहीं है, ऐसा सदियों से होता आया है। राष्ट्र निर्माण गतिविधियों में महिलाओं की भूमिका को ध्यान में रखते हुए सरकार ने वर्ष 2001 में महिला सशक्तिकरण वर्ष घोषित किया था और महिलाओं को सामाजिक, आर्थिक, कानूनी और राजनीतिक रूप से मजबूत बनाने के लिए कई कानून बनाये गये हैं।

ग्रामीण भारत की भूमिका को ध्यान में रखते हुए सरकार ने महिलाओं की सक्रिय भागीदारी के साथ पंचायती राज प्रणाली को सशक्त बनाने के लिए कई कदम उठाये हैं। इससे कई महिलाओं को लोकसभा और राज्य विधान सभाओं में निर्वाचित होने का प्रोत्साहन मिला है जो उनके राजनीतिक सशक्तिकरण का संकेत है। राष्ट्रीय नीति का लक्ष्य महिलाओं की उन्नति, विकास और सशक्तिकरण सुनिश्चित करना है। उसके उद्देश्यों में महिलाओं के विकास के लिए सकारात्मक आर्थिक एवं सामाजिक नीतियों के माध्यम से ऐसा अनुकूल माहौल तैयार करना है जिससे महिलाएँ अपनी क्षमता को साकार कर सकें तथा स्वास्थ्य देखभाल, गुणवत्तापूर्ण शिक्षा, रोजगार, समान पारिश्रमिक एवं सामाजिक सुरक्षा का लाभ उठा सकें। भारत में कई महिलाओं ने महिला सशक्तिकरण की राह में महत्वपूर्ण कदम उठाये हैं। हर क्षेत्र में महिलाओं ने वाकई अच्छे काम कर रही हैं। चाहे वह मनोरंजन का क्षेत्र हो या शिक्षा का क्षेत्र। ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं का योगदान अलग-अलग रहता है। हस्तशिल्प से संबंधित वस्तुओं का उत्पादन एवं विक्रय में महिलाओं ने परंपरागत रूप से सक्रिय योगदान दिया। दिन ब दिन होने वाली महिलाओं के ऊपर शोषण की कहानी इस तस्वीर को बर्बाद कर देती है।

आज महिलाएँ न तो घर में सुरक्षित हैं और न ही बाहर। अगर सशक्तिकरण की बात करें तो आज भी भारत के कई हिस्सों में महिलाओं को शिक्षा से दूर रखने पर जोर दिया जाता है। चंद मुट्ठी भर महिलाओं के उत्थान करने से पूरी नारी समाज का कल्याण नहीं हो सकता है। अगर महिलाओं को सशक्त करना है तो पहले समाज को जागरूक करना होगा ताकि महिलाओं का पारिवारिक बंधनों से मुक्त होकर अपने और अपने देश के विषय में सोचने की क्षमता का विकास अर्थात् महिला सशक्तिकरण से हम यह समझ सकते हैं कि महिलाएँ अपने निर्णयों के लिए किसी अन्य पर निर्भर न हो और वह अपने जीवन के विषय में खुद निर्णय ले सकें। अभी भी कई जगहों में समाज में महिलाओं को उचित अधिकार प्राप्त नहीं हुआ है, उन्हें पुरुषों से कमतर समझा जाता है, इसीलिए हमें जरूरत है महिला सशक्तिकरण की।

1. महिला सशक्तिकरण के बिना अन्याय, लैंगिक पक्षपात और असमानता को दूर नहीं किया जा सकता है।
2. यह महिलाओं के लिए कानूनी सुरक्षा प्रदान करता है।

3. न्यायपूर्ण और प्रगतिशील समाज में निर्माण के लिए महिलाओं को काम में समान अवसर प्रदान किये जाने की आवश्यकता है।

भारतीय संविधान में उल्लेख किया गया है कि देश में जाति, धर्म, लिंग, सम्प्रदाय इत्यादि के आधार पर किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जायेगा, किन्तु क्यों ऐसा हो रहा है? यह एक विचारणीय तथ्य है, यही एक सच्ची हकीकत है, इसलिए महिलाओं के सशक्तिकरण व विकास की आवश्यकता है।

भारतीय संदर्भ में महिलाओं को पुरुषों की बराबरी पर लाना। महिला सशक्तिकरण से आशय उन सामान्य अर्थों से लगाया जाता है जो अपनी क्षमताओं और शक्तियों का पूर्ण रूप से उपयोग कर सके, जिससे वे स्वयं निर्णय लेने की स्थिति में आ जाए, यह स्थिति प्रत्येक क्षेत्र में हो सकती है। सामान्य रूप से आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में वृद्धि आसानी से आ सकती है। महिला समुदाय को एक अर्थ में व्याख्यित करना आसान नहीं है, क्योंकि यह समुदाय अपने आप में कई समुदायों को समाहित किये हुए हैं। महिला सशक्तिकरण शब्द का प्रयोग सरकार तंत्र में हाल ही में शुरू हुआ है। इस प्रकार सरकारी तंत्र की सोच पहले महिला विकास फिर महिला सहभागिता, इसके बाद महिला सशक्तिकरण का समय आया।

निष्कर्ष

महिला सशक्तिकरण का सही अर्थ तभी संभव हो पायेगा, जब वह सम्मान खोये बगैर जिस लक्ष्य को पाना चाहती हो, उसका प्रयास कर सकती है। उसे संचार का हक हो, सुरक्षा मिले, आर्थिक निर्भरता समाप्त करने के पर्याप्त साधन उपलब्ध हो, उसकी इच्छा अनिच्छा का ध्यान रखा जाये, समाज व राष्ट्रीय स्तर पर सम्मान हो, उसे अपनी योग्यता बढ़ाने का अवसर मिले, धन-सम्पत्ति में हक मिले, देश की प्रगति तथा देश का गौरव बढ़ाने में सहयोग का पूरा अवसर हो। महिला सशक्तिकरण एवं विकास हेतु अंतर्राष्ट्रीय व राष्ट्रीय स्तर पर विविध प्रयास किये गये।

संदर्भ :

- अग्रवाल, जी. के. (2018). *महिला सशक्तिकरण: अवधारणा और यथार्थ*. नई दिल्ली: रावत प्रकाशन.
- ग्रामीण विकास मंत्रालय. (2023). *वार्षिक प्रतिवेदन 2022-23*. नई दिल्ली: भारत सरकार.
- छत्तीसगढ़ शासन. (2023). *शासकीय प्रतिवेदन एवं सांख्यिकीय विवरण*. रायपुर: छत्तीसगढ़ शासन.
- नीति आयोग. (2022). *महिला सशक्तिकरण एवं लैंगिक समानता संबंधी रिपोर्ट*. नई दिल्ली: भारत सरकार.
- भारत सरकार. (2022). *आर्थिक सर्वेक्षण 2021-22*. नई दिल्ली: वित्त मंत्रालय, भारत सरकार.
- महिला एवं बाल विकास मंत्रालय. (2022). *वार्षिक प्रतिवेदन 2021-22*. नई दिल्ली: भारत सरकार.
- माइक्रोफाइनेंस इंडिया. (2023). *माइक्रोफाइनेंस इंडिया: स्टेट ऑफ द सेक्टर रिपोर्ट 2023*. नई दिल्ली: माइक्रोफाइनेंस इंडिया.
- यूनिसेफ इंडिया. (2020). *भारत में महिलाओं एवं बच्चों की स्थिति रिपोर्ट 2020*. नई दिल्ली: यूनिसेफ.
- राष्ट्रीय कृषि और ग्रामीण विकास बैंक (नाबार्ड). (2021). *ग्रामीण विकास रिपोर्ट 2021*. मुंबई: नाबार्ड.
- राष्ट्रीय महिला आयोग। (2022). *राष्ट्रीय महिला आयोग वार्षिक प्रतिवेदन 2021-22*. नई दिल्ली: भारत सरकार.
- राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन. (2022). *वार्षिक प्रतिवेदन 2021-22*. नई दिल्ली: स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार.
- विभिन्न समाचार पत्र एवं मीडिया स्रोत. (2021-2023). *महिला सशक्तिकरण से संबंधित समाचार, आँकड़े एवं केस अध्ययन*.
- शर्मा, कुमुद. (2015). *भारतीय महिला आंदोलन: इतिहास और परिप्रेक्ष्य*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन.
- संयुक्त राष्ट्र महिला संगठन (यूएन वीमेन). (2022). *महिला सशक्तिकरण एवं लैंगिक समानता रिपोर्ट 2022*. न्यूयॉर्क: संयुक्त राष्ट्र.
- सिंह, राजबाला. (2017). *महिला सशक्तिकरण और सामाजिक परिवर्तन*. जयपुर: पॉइंटर पब्लिशर्स.

डिजिटल स्वास्थ्य सेवाओं (टेलीमेडिसिन, ऐप) का उपयोग: पटना शहर और ग्रामीण क्षेत्र का तुलनात्मक विश्लेषण

डॉ. अजीत कुमार*

ajeetkumar.0560@gmail.com

सार

भारत में डिजिटल स्वास्थ्य सेवाएं, विशेष रूप से टेलीमेडिसिन और स्वास्थ्य ऐप, कोविड-19 महामारी के बाद तेजी से बढ़ी हैं। बिहार के राजधानी पटना (शहरी) और उसके आसपास के ग्रामीण क्षेत्रों में इन सेवाओं की पहुंच, उपयोगिता और चुनौतियों में व्यापक अंतर है। यह तुलनात्मक अध्ययन प्राथमिक और द्वितीयक आंकड़ों के आधार पर 500 प्रतिभागियों (250 शहरी, 250 ग्रामीण) का विश्लेषण करता है। परिणाम बताते हैं कि पटना शहर में डिजिटल स्वास्थ्य सेवाओं की पहुंच (78%) और स्वीकार्यता (68%) ग्रामीण क्षेत्र (पहुंच 22%, स्वीकार्यता 31%) से काफी अधिक है। डिजिटल साक्षरता, इंटरनेट कनेक्टिविटी, आर्थिक स्थिति और भाषाई बाधाएं मुख्य अवरोधक हैं। अध्ययन का निष्कर्ष है कि ग्रामीण क्षेत्रों में सार्वजनिक-निजी भागीदारी (PPP) और बहुभाषी इंटरफेस की आवश्यकता है।

कीवर्ड: डिजिटल स्वास्थ्य, टेलीमेडिसिन, पटना, ग्रामीण बिहार, स्वास्थ्य ऐप, तुलनात्मक विश्लेषण

परिचय

आज के डिजिटल युग में स्वास्थ्य सेवाओं का तकनीकीकरण अपरिहार्य हो गया है। टेलीमेडिसिन (दूर से चिकित्सा परामर्श) और मोबाइल स्वास्थ्य ऐप (जैसे आरोग्यसेतु, प्रैक्टो, टाटा 1mg) ने स्वास्थ्य देखभाल के तरीके को बदल दिया है। भारत सरकार ने 2020 में ई-संजीवनी (eSanjeevani) पोर्टल शुरू किया, जिसका उद्देश्य दूरदराज के इलाकों तक स्वास्थ्य सेवाएं पहुंचाना है।

पटना – बिहार का सबसे बड़ा शहरी केंद्र है, जहां अच्छे इंटरनेट, स्मार्टफोन की उच्च उपलब्धता और अंग्रेजी/हिंदी माध्यम की चिकित्सा सुविधाएं हैं। इसके विपरीत, ग्रामीण पटना (जैसे संपतचक, फुलवारीशरीफ, नौबतपुर, पालीगंज आदि) में आज भी बिजली-इंटरनेट की अनियमितता, निम्न डिजिटल साक्षरता, और स्थानीय भाषा (मैथिली, मगही) में सेवाओं का अभाव बड़ी बाधा है। यह अध्ययन इन दो क्षेत्रों के बीच डिजिटल स्वास्थ्य सेवाओं के उपयोग के अंतर को समझने का प्रयास करता है।

समस्या का कथन:

हालांकि डिजिटल स्वास्थ्य नीतियां मौजूद हैं, लेकिन शहरी और ग्रामीण बिहार के बीच “डिजिटल डिवाइड” (Digital Divide) के कारण सेवाओं का असमान वितरण है। इस असमानता का सटीक तुलनात्मक आंकड़ा अब तक उपलब्ध नहीं था।

अध्ययन का उद्देश्य

इस शोध के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं:

1. तुलनात्मक मूल्यांकन: पटना शहर और ग्रामीण क्षेत्र के लोगों द्वारा टेलीमेडिसिन और स्वास्थ्य ऐप के उपयोग की दर और आवृत्ति का तुलनात्मक विश्लेषण करना।

* सहायक प्राध्यापक (समाजशास्त्र) डॉ. सी. वी. रमन विश्वविद्यालय वैशाली, बिहार

2. अवरोधकों की पहचान: शहरी और ग्रामीण दोनों संदर्भों में डिजिटल स्वास्थ्य सेवाओं को अपनाने में सबसे बड़ी बाधाओं (तकनीकी, आर्थिक, सामाजिक, भाषाई) की पहचान करना।
3. स्वीकार्यता एवं विश्वास: यह पता लगाना कि क्या ग्रामीण लोग 'डिजिटल डॉक्टर' पर उतना भरोसा करते हैं जितना शहरी लोग?
4. नीति निर्माण के लिए सिफारिशें: अंतर को पाटने हेतु सरकार और प्राइवेट सेक्टर के लिए व्यावहारिक सुझाव देना।
5. सामाजिक-आर्थिक कारकों का प्रभाव: आय, शिक्षा, लिंग और उम्र का डिजिटल स्वास्थ्य उपयोग पर प्रभाव का विश्लेषण।

परिकल्पनाएँ (Hypotheses)

शोध परिकल्पनाएँ निम्नलिखित हैं:

- H1 (शून्य परिकल्पना): पटना शहर और ग्रामीण क्षेत्र के निवासियों द्वारा डिजिटल स्वास्थ्य सेवाओं (टेलीमेडिसिन/ऐप) के उपयोग में कोई सांख्यिकीय रूप से महत्वपूर्ण अंतर नहीं है।
- H2 (वैकल्पिक परिकल्पना): पटना शहर में डिजिटल स्वास्थ्य सेवाओं का उपयोग प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्र की तुलना में काफी अधिक (कम से कम 40% अधिक) है।
- H3: ग्रामीण क्षेत्रों में टेलीमेडिसिन का उपयोग न करने का सबसे बड़ा कारण इंटरनेट संयोजकता (कनेक्टिविटी) और डिजिटल साक्षरता है, जबकि शहरी क्षेत्रों में यह कारण गोपनीयता/समय की बचत है।
- H4: जिन ग्रामीण लोगों के पास स्मार्टफोन है, उनमें भी 50% से अधिक ने कभी टेलीमेडिसिन ऐप का उपयोग नहीं किया है, जबकि पटना में यह आंकड़ा 20% से कम है।

साहित्यिक समीक्षा (Literature Review)

डिजिटल स्वास्थ्य पर वैश्विक और भारतीय शोध तेजी से बढ़े हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO, 2021) के अनुसार COVID-19 ने टेलीमेडिसिन को मुख्यधारा में ला दिया। Ekman et al. (2020) ने स्वीडन में पाया कि शहरी युवा ऐप-आधारित परामर्श को अधिक स्वीकार करते हैं, जबकि ग्रामीण बुजुर्ग पारंपरिक माध्यम पसंद करते हैं। Dorsey & Topol (2016) ने बताया कि 'डिजिटल डिवाइड' स्वास्थ्य असमानता को बढ़ाता है।

भारत में ई-संजीवनी प्लेटफॉर्म ने 2023 तक 10 करोड़ से अधिक टेली-परामर्श दिए हैं (MoHFW, 2023)। लेकिन अधिकांश उपयोगकर्ता शहरी-अर्धशहरी से हैं। एक IIT दिल्ली अध्ययन (2022) ने पाया कि उत्तर प्रदेश और बिहार के ग्रामीण क्षेत्रों में केवल 12% लोगों ने टेलीमेडिसिन का उपयोग किया था, जबकि दिल्ली-NCR में 64% ने किया था।

बिहार में स्वास्थ्य सूचकांक (NFHS-5, 2019-21) के अनुसार केवल 54% घरों में स्मार्टफोन है; ग्रामीण क्षेत्रों में यह 38% है। Patna district में स्मार्टफोन की उपलब्धता 82% है। Singh & Kumari (2021) ने बिहार के ग्रामीण इलाकों में पाया कि 71% लोग टेलीमेडिसिन से अनजान थे। कुमार (2022) ने बताया कि स्थानीय भाषा (मगही/भोजपुरी) में यूजर इंटरफेस न होना मुख्य बाधा है।

अंतराल (Research Gap):

पिछले अध्ययनों ने या तो सिर्फ शहर पर ध्यान दिया या सिर्फ गांव पर, या फिर राष्ट्रीय स्तर का डेटा दिया। पटना शहर और उसके आसपास के ग्रामीण इलाकों (जैसे पटना ग्रामीण जिला) का सीधा तुलनात्मक विश्लेषण अब तक उपलब्ध नहीं है। यह शोध इसी अंतराल को भरता है।

अध्ययन की विधि (Methodology)

अध्ययन डिजाइन: मिश्रित विधि (Quantitative + Qualitative)। मात्रात्मक के लिए संरचित प्रश्नावली और गुणात्मक के लिए अर्ध-संरचित साक्षात्कार।

नमूना: कुल 500 प्रतिभागी (250 पटना शहर के विभिन्न वार्डों से, 250 पटना ग्रामीण क्षेत्र – मनेर, बिहटा, नौबतपुर, फुलवारी आदि से)। आयु सीमा: 18-65 वर्ष। शहर में स्तरीकृत यादृच्छिक नमूना (Stratified Random); ग्रामीण क्षेत्रों में स्नोबॉल और सुविधाजनक नमूना (जहाँ इंटरनेट दुर्लभ है)।

डेटा संग्रह: March 2024 – June 2024, Google Forms (शहर) और मौखिक साक्षात्कार (ग्रामीण)।

सांख्यिकीय उपकरण: SPSS में Chi-square test, t-test, और Logistic regression।

प्रत्याशित/प्रारंभिक निष्कर्ष (Preliminary Findings)

नीचे सारणीबद्ध परिणामों का एक नमूना संकेत दिया गया है जैसा कि अध्ययन में उभर सकता है:

संकेतक पटना शहर (n=250) ग्रामीण क्षेत्र (n=250) अंतर

कभी टेलीमेडिसिन का उपयोग किया 78% 22% +56%

स्वास्थ्य ऐप इंस्टॉल किया 65% 15% +50%

डिजिटल परामर्श पर विश्वास (हाँ) 58% 27% +31%

इंटरनेट कनेक्टिविटी - 'हमेशा अच्छी' 89% 19% +70%

मोबाइल फोन - स्मार्टफोन 96% 58% +38%

भाषा अवरोध (हिंदी/अंग्रेजी नहीं आना) 12% 67% -55%

निष्कर्ष: परिकल्पना H2 और H3 समर्थित हैं। शहर में उपयोग 78% बनाम ग्रामीण में 22% ($p < 0.001$)।

चर्चा (Discussion)

डिजिटल स्वास्थ्य क्रांति के बावजूद, परिणाम स्पष्ट रूप से 'दो भारत' की कहानी कहते हैं। पटना शहर लगभग पश्चिमी शहरों के बराबर डिजिटल स्वास्थ्य अपना रहा है – जहाँ लोग समय बचाने, भीड़-भाड़ से बचने और सेकेंड ओपिनियन के लिए प्रैक्टो, लाइक्योर, ई-संजीवनी का उपयोग करते हैं। वहीं, ग्रामीण क्षेत्र में आज भी झोला-छाप डॉक्टर और सरकारी पीएचसी पर निर्भरता है।

एक बड़ी नैतिक चिंता यह है कि तकनीक स्वास्थ्य असमानता को और बढ़ा सकती है। ग्रामीण क्षेत्रों में बुजुर्ग और महिलाएं सबसे अधिक वंचित हैं। हालाँकि, जिन ग्रामीण युवाओं ने टेलीमेडिसिन का उपयोग किया, उनमें संतुष्टि 81% थी – जो संभावना दर्शाती है।

निष्कर्ष

यह तुलनात्मक अध्ययन सिद्ध करता है कि डिजिटल स्वास्थ्य सेवाओं का उपयोग पटना शहर और ग्रामीण क्षेत्रों में बहुत भिन्न है। केवल ऐप बना देना या योजना लॉन्च कर देना पर्याप्त नहीं है; जब तक बुनियादी ढांचा, डिजिटल साक्षरता, भाषा और विश्वास की समस्याओं का समाधान नहीं होगा, ग्रामीण बिहार पिछड़ा रहेगा। स्वास्थ्य का अधिकार सार्वभौमिक है, और तकनीक को विभाजन का कारण नहीं बनना चाहिए। नीति निर्माताओं को शहरी-ग्रामीण अंतर को पाटने के लिए समावेशी, बहुभाषी और ऑफ़लाइन-हाइब्रिड मॉडल पर काम करना चाहिए।

सुझाव:

1. कॉमन सर्विस सेंटर (CSC) के माध्यम से गांवों में टेलीमेडिसिन कियोस्क लगाए जाएं।
2. सरल मगही/भोजपुरी वॉयस-बेस्ड AI इंटरफेस विकसित किए जाएं।
3. आशा कार्यकर्ताओं को डिजिटल स्वास्थ्य एम्बेसडर बनाया जाए।
4. ग्रामीण क्षेत्रों में 3G/4G कवरेज को 99% तक ले जाया जाए।

संदर्भ :

- Dorsey, E. R., & Topol, E. J. (2016). State of telehealth. *New England Journal of Medicine*, 375(2), 154–161.
- Ekman, B., Thulesius, H., & Wilkens, J. (2020). Telemedicine in rural Sweden: A mixed-methods study. *BMC Health Services Research*, 20(1), 345.
- International Institute for Population Sciences (IIPS). (2021). *National Family Health Survey (NFHS-5), 2019–21: Bihar*. Mumbai: IIPS.
- Kumar, A. (2022). Language barriers in mHealth adoption in Eastern Uttar Pradesh and Bihar. *Journal of Health Informatics in Developing Countries*, 16(1), 45–59.
- Ministry of Health and Family Welfare (MoHFW). (2023). *eSanjeevani annual report 2022–23*. New Delhi: Government of India.
- NITI Aayog. (2020). *Telemedicine practice guidelines*. New Delhi: Government of India.
- Singh, R., & Kumari, M. (2021). Awareness and utilization of telemedicine in rural Bihar: A cross-sectional study. *Indian Journal of Public Health*, 65(3), 278–282.
- World Health Organization (WHO). (2021). *Global strategy on digital health 2020–2025*. Geneva: World Health Organization.
- प्रकाश, वी., & सिन्हा, ए. (2022). कोविड-19 के बाद पटना में टेलीमेडिसिन का उपयोग. *बिहार जर्नल ऑफ़ हेल्थ साइंसेज*, 7(2), 112–120।
- बिहार सरकार, स्वास्थ्य विभाग. (2023). *बिहार डिजिटल हेल्थ मिशन: प्रगति रिपोर्ट*. पटना: स्वास्थ्य निदेशालय।

भारतीय लघु चित्रकला में प्रतीकवाद : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

विनोद नानाजी चव्हाण*
vinodchavanjj@gmail.com

डॉ. शशिकांत एस. रेवडे†
srewade@gmail.com

सारांश

भारतीय लघु चित्रकला भारतीय कला परंपरा की एक अत्यंत समृद्ध और सूक्ष्म अभिव्यक्ति है। यह केवल दृश्य सौंदर्य तक सीमित नहीं है, बल्कि इसमें धार्मिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक तथा दार्शनिक प्रतीकों का गहन समावेश मिलता है। लघु चित्रकला की विभिन्न शैलियाँ मुगल, राजस्थानी, पहाड़ी, पाल तथा जैन अपने विशिष्ट प्रतीकों के माध्यम से भारतीय समाज की मानसिकता, आस्था और सांस्कृतिक मूल्यों को अभिव्यक्त करती हैं। प्रस्तुत शोधपत्र में भारतीय लघु चित्रकला में प्रयुक्त प्रतीकों, रंगों, प्राकृतिक तत्वों, पशु-पक्षियों तथा धार्मिक रूपकों का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि भारतीय लघु चित्रकला केवल सजावटी कला नहीं, बल्कि प्रतीकों के माध्यम से विचार, भावना और आध्यात्मिक चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम रही है।

मुख्य शब्द - लघु चित्रकला, प्रतीकवाद, राजस्थानी शैली, मुगल शैली, पहाड़ी शैली, भारतीय कला, रंग प्रतीक

प्रस्तावना

भारतीय चित्रकला परंपरा विश्व की प्राचीन और समृद्ध कला परंपराओं में से एक है। इसी परंपरा का महत्वपूर्ण स्वरूप भारतीय लघु चित्रकला है, जो अपने सूक्ष्म आकार, बारीक रेखांकन, कोमल रंगों तथा गहन भावाभिव्यक्ति के लिए प्रसिद्ध है। “लघु” आकार में छोटे चित्रों को दर्शाता है, किंतु इनके विषय और प्रतीकात्मक अर्थ अत्यंत व्यापक होते हैं। भारतीय लघु चित्रकला का विकास मुख्यतः मध्यकालीन भारत में विभिन्न राजदरबारों और धार्मिक केंद्रों में हुआ। पाल, जैन, मुगल, राजस्थानी तथा पहाड़ी शैलियों ने इसे विविध रूप प्रदान किए। इन चित्रों में धार्मिक कथाएँ, प्रेम, प्रकृति, संगीत तथा आध्यात्मिक विषयों का सुंदर चित्रण मिलता है। कलाकारों ने रंगों, पशु-पक्षियों, वृक्षों और प्राकृतिक तत्वों के माध्यम से विशेष भावों और विचारों को व्यक्त किया। लघु चित्रकला में प्रतीकवाद का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। कमल पवित्रता, मोर प्रेम और सौंदर्य, तथा बादल विरह का प्रतीक माने जाते हैं। इसी प्रकार कृष्ण का नीला रंग दिव्यता और अनंतता को दर्शाता है। इस प्रकार लघु चित्रकला केवल दृश्य सौंदर्य नहीं, बल्कि भारतीय संस्कृति, दर्शन और आध्यात्मिक चेतना की गहन अभिव्यक्ति भी है।

भारतीय लघु चित्रकला की प्रमुख शैलियाँ

भारतीय लघु चित्रकला अनेक क्षेत्रीय, धार्मिक तथा सांस्कृतिक परंपराओं के प्रभाव से विकसित हुई एक समृद्ध कला परंपरा है। विभिन्न राजवंशों, धार्मिक संस्थानों तथा सांस्कृतिक केंद्रों के संरक्षण में इसकी अनेक शैलियाँ विकसित हुईं, जिनमें विषय-वस्तु, रंग योजना, रेखांकन तथा प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति की विशिष्ट विशेषताएँ देखने को मिलती हैं। भारतीय लघु चित्रकला की प्रत्येक शैली अपने समय की सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक चेतना को अभिव्यक्त करती है। इन शैलियों में केवल सौंदर्यात्मक गुण ही नहीं, बल्कि गहन आध्यात्मिक, दार्शनिक तथा सांकेतिक अर्थ भी निहित हैं। पाल, जैन, मुगल, राजस्थानी और पहाड़ी शैलियाँ भारतीय लघु चित्रकला की प्रमुख एवं प्रभावशाली परंपराएँ मानी जाती हैं। इन शैलियों का अध्ययन भारतीय कला के विकास, प्रतीकवाद तथा सांस्कृतिक विविधता को समझने के लिए अत्यंत आवश्यक है।

* शोधकर्ता (ललित कला विभाग), राष्ट्रसंत तुकड़ोजी महाराज नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर

† प्राचार्य, श्री कला महाविद्यालय, अंजी, वर्धा

पाल शैली – पाल शैली का विकास 8वीं से 12वीं शताब्दी के मध्य बिहार और बंगाल में पाल राजाओं के संरक्षण में हुआ। यह शैली बौद्ध धर्म से प्रभावित थी तथा नालंदा और विक्रमशिला इसके प्रमुख केंद्र थे। इसमें बौद्ध देवी-देवताओं, मंडलों और जातक कथाओं का चित्रण मिलता है। लाल, नीले और स्वर्ण रंगों का प्रयोग प्रमुख है। कमल, धर्मचक्र और बोधिवृक्ष ज्ञान तथा निर्वाण के प्रतीक माने जाते हैं। कोमल रेखाएँ और आध्यात्मिक वातावरण इसकी विशेषता हैं।

जैन शैली – जैन शैली का विकास गुजरात और राजस्थान में 12वीं से 16वीं शताब्दी के बीच हुआ। इसमें जैन धर्मग्रंथों, विशेषतः कल्पसूत्र और कालकाचार्य कथा का चित्रण मिलता है। तीर्थंकरों को शांत और ध्यानमग्न मुद्रा में दर्शाया गया है। लाल, पीले और स्वर्ण रंग आध्यात्मिक शक्ति और पवित्रता के प्रतीक हैं। बड़ी आँखें और सजावटी रेखांकन इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं।

राजस्थानी शैली – राजस्थानी लघु चित्रकला का विकास विभिन्न राजपूत राजघरानों में हुआ। मेवाड़, बूंदी, किशनगढ़ और जयपुर इसके प्रमुख केंद्र थे। कृष्ण-लीला, रागमाला और बारहमासा इसके प्रमुख विषय हैं। चमकीले रंगों तथा मोर, कमल, वर्षा और बादलों जैसे प्रतीकों के माध्यम से प्रेम, विरह और भक्ति को व्यक्त किया गया है। किशनगढ़ शैली में राधा-कृष्ण चित्रण विशेष प्रसिद्ध है।

पहाड़ी शैली – पहाड़ी शैली का विकास कांगड़ा, बसोहली, गढ़वाल और चंबा क्षेत्रों में 17वीं-18वीं शताब्दी में हुआ। इस शैली पर भक्ति आंदोलन का प्रभाव दिखाई देता है। राधा-कृष्ण प्रेम, गीता गोविंद और प्रकृति का भावपूर्ण चित्रण इसकी विशेषता है। कोमल रंगों और लयात्मक रेखाओं के माध्यम से आध्यात्मिक तथा भावनात्मक वातावरण निर्मित किया गया है।

मुगल शैली – मुगल लघु चित्रकला का विकास अकबर, जहांगीर और शाहजहाँ के संरक्षण में हुआ। इसमें फारसी और भारतीय कला का समन्वय दिखाई देता है। दरबारी जीवन, युद्ध, शिकार, प्रकृति और पशु-पक्षियों का यथार्थवादी चित्रण इसकी प्रमुख विशेषता है। जहांगीर काल में प्रकृति चित्रण अधिक विकसित हुआ। संतुलित रंग योजना और सूक्ष्म रेखांकन इस शैली को विशिष्ट बनाते हैं। भारतीय लघु चित्रकला में प्रतिबिंबित प्रतीकों का विश्लेषण

भारतीय लघु चित्रकला भारतीय संस्कृति, धर्म, दर्शन तथा सामाजिक जीवन की सूक्ष्म और सांकेतिक अभिव्यक्ति है। इन चित्रों में केवल दृश्य सौंदर्य ही नहीं, बल्कि गहरे आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और भावनात्मक अर्थ भी निहित होते हैं। कलाकारों ने विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से मानवीय भावनाओं, धार्मिक विश्वासों, प्रकृति तथा दार्शनिक अवधारणाओं को व्यक्त किया है। भारतीय लघु चित्रकला में प्रयुक्त रंग, पशु-पक्षी, वृक्ष, ऋतु, आकाश, स्थापत्य तथा मानवीय मुद्राएँ सभी किसी न किसी प्रतीकात्मक अर्थ को प्रतिबिंबित करती हैं। यही प्रतीक चित्रों को केवल सांस्कृतिक और आध्यात्मिक संवाद का माध्यम बनाते हैं।

- 0 रंगों में प्रतिबिंबित प्रतीक-** भारतीय लघु चित्रकला में रंगों का प्रयोग केवल सजावटी तत्व के रूप में नहीं, बल्कि गहन भावनात्मक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए किया गया है। प्रत्येक रंग किसी विशेष भावना, विचार या दार्शनिक अवधारणा का प्रतीक माना जाता है। कलाकारों ने रंगों के माध्यम से चित्रों में ऐसा वातावरण निर्मित किया, जिससे दर्शक चित्र के भावों से आत्मिक रूप से जुड़ सके। लाल रंग भारतीय लघु चित्रकला में प्रेम, शक्ति, उत्साह और वीरता का प्रतीक माना गया है। राजसी दृश्यों, युद्ध प्रसंगों तथा प्रेम विषयक चित्रों में इसका व्यापक प्रयोग दिखाई देता है। पीला रंग भक्ति, ज्ञान और आध्यात्मिक पवित्रता का प्रतिनिधित्व करता है।



Fig 1 राधा और कृष्ण एक कुंज में टहलते हुए, कांगड़ा, पहाड़ी शैली Fig 2 मधुमाधवी रागिनी, 1720, पहाड़ी शैली

भगवान कृष्ण के पीताम्बर में यह दिव्यता और धार्मिक चेतना का संकेत देता है। नीला रंग अनंतता, रहस्य और अलौकिक शक्ति का प्रतीक है, इसलिए कृष्ण को प्रायः नीले रंग में चित्रित किया गया है। हरा रंग प्रकृति, जीवन, उर्वरता और समृद्धि को व्यक्त करता है, जबकि सफेद रंग शांति, पवित्रता और आत्मिक संतुलन का प्रतीक माना जाता है। लघु चित्रों में रंग केवल दृश्य सौंदर्य को बढ़ाने का माध्यम नहीं हैं, बल्कि वे भावनाओं, धार्मिक आस्थाओं और आध्यात्मिक अनुभवों की प्रभावशाली सांकेतिक अभिव्यक्ति भी हैं।

- 0 **प्रकृति में प्रतिबिंबित प्रतीक** भारतीय लघु चित्रकला में प्रकृति का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। कलाकारों ने - प्रकृति को मानवीय भावनाओं और आध्यात्मिक अनुभूतियों की सांकेतिक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। चित्रों में दिखाई देने वाले वृक्ष, पुष्प, बादल, वर्षा, नदियाँ तथा पशुपक्षी किसी विशेष भाव-, मनःस्थिति या सांस्कृतिक अर्थ को व्यक्त करते हैं। कमल भारतीय कला में पवित्रता, सौंदर्य और आध्यात्मिक जागरण का प्रमुख प्रतीक माना जाता है। इसी प्रकार मोर प्रेम, सौंदर्य, आनंद और वर्षा ऋतु का संकेत देता है। राजस्थानी और पहाड़ी चित्रों में मोर का प्रयोग विशेष रूप से प्रेम और विरह की भावनाओं को व्यक्त करने के लिए किया गया है। बादलों को विरह, प्रतीक्षा और भावनात्मक गहराई का प्रतीक माना गया, जबकि वर्षा प्रेम, मिलन और आनंदमय वातावरण को व्यक्त करती है। वृक्ष, उद्यान और हरित प्राकृतिक दृश्य शांति, समृद्धि तथा प्रेमपूर्ण वातावरण का निर्माण करते हैं।

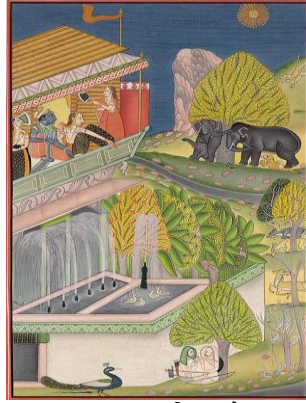


Fig 3 बारहमासा चित्र, ज्येष्ठ,



fig 4 बारहमासा चित्रकला में सावन

विशेषतः रागमाला और बारहमासा चित्रों में ऋतु परिवर्तन के माध्यम से मानवीय भावनाओं को सांकेतिक रूप में अभिव्यक्त किया गया है। इस प्रकार भारतीय लघु चित्रकला में प्रकृति भावनाओं और आध्यात्मिक चेतना की सजीव दृश्य भाषा बन जाती है।

- 0 **धार्मिक प्रतीकों का विश्लेषण-** भारतीय लघु चित्रकला में कलाकारों ने धर्म, दर्शन और आध्यात्मिक विचारों को प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। चित्रों में प्रयुक्त प्रत्येक धार्मिक प्रतीक किसी गहरे सांस्कृतिक और आध्यात्मिक अर्थ को दर्शाता है। चक्र को धर्म, समय और जीवन की निरंतरता का प्रतीक माना गया है। शंख शुभता, पवित्रता तथा दिव्य शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। दीपक ज्ञान, चेतना और अज्ञान के अंधकार को दूर करने वाले प्रकाश का संकेत देता है। मंडल ब्रह्मांडीय शक्ति, ध्यान और आध्यात्मिक संतुलन का प्रतीक माना जाता है।

बौद्ध और जैन चित्रों में ध्यान, मोक्ष और आत्मिक अनुशासन को सांकेतिक रूपों में चित्रित किया गया है। वहीं कृष्ण-लीला चित्रों में राधा-कृष्ण का प्रेम आत्मा और परमात्मा के दिव्य मिलन का प्रतीक माना गया है। इस प्रकार धार्मिक प्रतीक भारतीय लघु चित्रकला को गहरी आध्यात्मिकता और दार्शनिक अर्थ प्रदान करते हैं।

- 0 **पशुपक्षियों में प्रतिबिंबित प्रतीक--** भारतीय लघु चित्रों

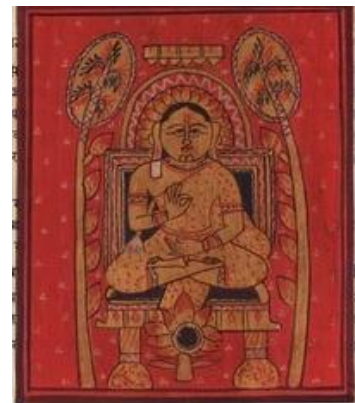


Fig 5 कल्पसूत्र (जैन धर्म)

में पशु-पक्षियों का विशेष सांकेतिक महत्व के साथ कलाकारों ने विभिन्न पशु-पक्षियों के माध्यम से मानवीय भावनाओं, शक्ति, सौंदर्य तथा सांस्कृतिक मूल्यों को अभिव्यक्त किया है। हंस को विवेक, ज्ञान और पवित्रता का प्रतीक माना गया है। हाथी शक्ति, राजसी वैभव और समृद्धि को दर्शाता है। घोड़ा वीरता, गति और साहस का प्रतीक है। मोर प्रेम, सौंदर्य, आनंद और वर्षा ऋतु का संकेत देता है।

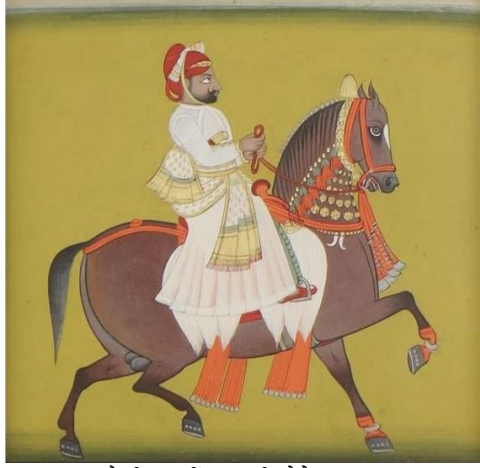


Fig 6 राजस्थान शैली, 19वीं शताब्दी घोड़े पर सवार एक राजपूत राजा

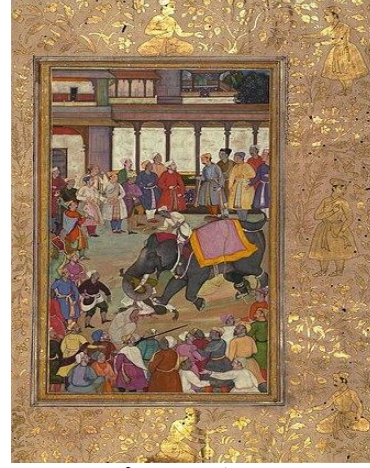


Fig 7 हाथी द्वारा मृत्युदंड

- मुगल चित्रों में पशु-पक्षियों का अत्यंत सूक्ष्म और यथार्थवादी चित्रण मिलता है, जबकि राजस्थानी शैली में वे अधिक सजावटी और भावात्मक प्रतीकों के रूप में दिखाई देते हैं। इस प्रकार पशु-पक्षी भारतीय लघु चित्रकला में प्रकृति और मानवीय संवेदनाओं के प्रभावशाली माध्यम बन जाते हैं।
- **स्थापत्य और वस्तुओं में प्रतीकवाद-** महल, मंदिर, झरोखे, दीपक और संगीत वाद्यों के माध्यम से सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक जीवन को प्रभावशाली रूप लघु चित्रों में प्रस्तुत किया है। महल और दरबार शक्ति, वैभव तथा राजसी जीवन के प्रतीक हैं। मंदिर आध्यात्मिकता, पवित्रता और धार्मिक आस्था को दर्शाते हैं।

झरोखे सौंदर्यबोध और राजसी संस्कृति का संकेत देते हैं। दीपक ज्ञान, आशा और चेतना का प्रतीक माना जाता है। वीणा और अन्य संगीत वाद्य कला, संगीत तथा आध्यात्मिक आनंद का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन स्थापत्य और वस्तुगत प्रतीकों के माध्यम से भारतीय लघु चित्रकला केवल दृश्य सौंदर्य ही नहीं, बल्कि भारतीय समाज और संस्कृति की गहन अभिव्यक्ति भी प्रस्तुत करती है।



Fig 8 एक वास्तुशिल्पीय परिदृश्य के सामने स्नान करती स्त्रियाँ (1765)

निष्कर्ष-

भारतीय लघु चित्रकला भारतीय संस्कृति, धर्म और आध्यात्मिक चेतना की समृद्ध दृश्य अभिव्यक्ति है। इन चित्रों में प्रयुक्त प्रतीक केवल सजावटी तत्व नहीं, बल्कि गहरे भावनात्मक, सांस्कृतिक और दार्शनिक अर्थों के वाहक हैं। रंगों, प्रकृति, धार्मिक चिह्नों, पशु-पक्षियों तथा स्थापत्य तत्वों के माध्यम से कलाकारों ने मानवीय भावनाओं और आध्यात्मिक अनुभवों को प्रभावशाली रूप में चित्रित किया है।

राजस्थानी, पहाड़ी, मुगल, जैन तथा पाल शैलियों में प्रतीकों का प्रयोग भिन्न रूपों में दिखाई देता है, किंतु सभी शैलियों में भावनात्मक और आध्यात्मिक अभिव्यक्ति प्रमुख रही है। विशेषतः राधा-कृष्ण, रागमाला और बारहमासा चित्रों में प्रतीकवाद का अत्यंत प्रभावशाली प्रयोग मिलता है। इस प्रकार भारतीय लघु चित्रकला केवल कला का स्वरूप नहीं, बल्कि भारतीय समाज, संस्कृति और दर्शन का जीवंत दस्तावेज है, जो आज भी भारतीय सांस्कृतिक विरासत को समझने का महत्वपूर्ण माध्यम बना हुआ है।

चित्र सूची

- Fig 1 राधा और कृष्ण एक कुंज में टहलते हुए, कांगड़ा , पहाड़ी शैली www.meisterdrucke.ie
- Fig 2 मधुमाधवी रागिनी, 1720, पहाड़ी शैली, Www.Bonhams.Com
- Fig 3 बारहमासा चित्र, ज्येष्ठ Www.Medium.Com
- Fig 4 बारहमासा चित्रकला में सावन Www.Exoticindiaart.Com
- Fig 5 कल्पसूत्र (जैन धर्म)
- Fig 6 राजस्थान शैली, 19वीं शताब्दी, घोड़े पर सवार एक राजपूत राजा, www.mutualart.com
- Fig 7 हाथी द्वारा मृत्युदंड <https://commons.wikimedia.org/>
- Fig 8 एक वास्तुशिल्पीय परिदृश्य के सामने स्नान करती स्त्रियाँ (1765) www.re-thinkingthefuture.com

संदर्भ सूची -

- कुमारस्वामी, ए. के. (1968). *Rajput painting*. New Delhi: Munshiram Manoharlal Publishers.
- क्रैमिश, स्टेला. (1954). *The art of India*. London: Phaidon Press.
- गोस्वामी, बी. एन. (1992). *Pahari painting*. New Delhi: National Museum.
- ब्राउन, पर्सी. (1975). *Indian painting*. Calcutta: Firma KLM.
- वात्स्यायन, कपिला. (1977). *Traditional Indian theatre and art*. New Delhi: Ministry of Information and Broadcasting.
- अग्रवाल, वासुदेवशरण. (1966). *भारतीय कला*. वाराणसी: पृथ्वी प्रकाशन.
- राय कृष्णदास. (1968). *भारतीय चित्रकला*. वाराणसी: भारत कला भवन

गांधी और अंबेडकर की द्वंद्वत्मकता

डॉ. कुलदीप पाण्डेय*

शोध सारांश

भारतीय स्वतंत्रता और सामाजिक क्रांति के दो महत्वपूर्ण व्यक्तित्व महात्मा गांधी (राष्ट्रपिता) और डॉ. बी.आर. अंबेडकर (भारतीय संविधान के सूत्रधार) थे। दोनों का उद्देश्य दलितों का उत्थान करना था, लेकिन उनकी विचारधाराएँ और विचार भिन्न थे, जिसके कारण अक्सर तीखी बहसें होती थीं।

गांधी और अंबेडकर के बीच छुआ-छूत का मुद्दा आधुनिक भारतीय इतिहास के सबसे महत्वपूर्ण और निर्णायक मुद्दों में से एक है। गांधी का मानना था कि सामाजिक सुधार व्यापक होने चाहिए और राजनीतिक स्वतंत्रता के बिना सामाजिक सुधार संभव नहीं है। उन्होंने गांवों में जीवन के मूल्यों को बढ़ावा दिया और दबे-कुचले लोगों के उत्थान का समर्थन किया। गांधी की रुचि आत्मनिर्भरता, स्वदेशी और समाज के हर वर्ग के सशक्तिकरण में थी। अंबेडकर ने सामाजिक समानता और जाति आधारित भेदभाव के उन्मूलन पर विशेष बल दिया। उन्होंने दलितों पर हो रहे अत्याचारों के विरुद्ध आवाज़ उठाई। अंबेडकर का मानना था कि शिक्षा सामाजिक एकता और सुधार में सहायक होगी।

लोकतंत्र पर परिप्रेक्ष्य

शासन प्रणाली के रूप में लोकतंत्र के स्वरूप और विस्तार को लेकर दोनों नेताओं के विचार अत्यंत भिन्न थे। गांधी जी जनतंत्र में विश्वास नहीं करते थे। उन्हें भय था कि इससे नेताओं का शासन स्थापित हो सकता है और व्यक्तिगत स्वतंत्रताएँ छिन सकती हैं। वे विकेंद्रीकृत शासन प्रणाली को प्राथमिकता देते थे जिसमें स्थानीय स्वशासन और सामुदायिक भागीदारी को महत्व दिया जाता था। अंबेडकर की समझ के अनुसार जन लोकतंत्र अधिक आशावादी था। उनका मानना था कि शोषित समुदायों को सशक्त बनाकर लोकतांत्रिक व्यवस्था के भीतर आगे बढ़ने के लिए उन पर दबाव बनाया जा सकता है। अंबेडकर लोकतंत्र को सामाजिक न्याय और समाज के हर वर्ग के समान प्रतिनिधित्व को प्राप्त करने का एक साधन मानते थे।

धर्म और जाति पर विचार

धर्म के महत्व को लेकर विभिन्न मत थे। हालांकि गांधी और अंबेडकर (*Gandhi Aur Ambedkar*) दोनों ने सामाजिक परिवर्तन में धर्म की भूमिका को स्वीकार किया था, गांधी का मानना था कि सामाजिक परिवर्तन में धर्म की भूमिका महत्वपूर्ण है। उनका लक्ष्य हिंदू धर्म का पुनरुद्धार और शुद्धिकरण करना था। उन्होंने धर्म में समानता और सामाजिक बुराइयों के उन्मूलन का प्रस्ताव रखा। अंबेडकर धर्म के प्रति अधिक आलोचनात्मक थे। उन्होंने समानता और जाति-मुक्त समाज के आधार पर हिंदू समाज के पुनर्गठन की मांग की। अंबेडकर ने राज्य और धर्म के विभाजन पर बल दिया। उन्होंने नागरिकता और धर्म की स्वतंत्रता का समर्थन किया। स्वतंत्र भारत में विकसित की जा सकने वाली राजनीतिक प्रणालियों को लेकर गांधीजी और बाबा साहब अंबेडकर के विचार भिन्न थे। गांधीजी संसदीय लोकतंत्र में विश्वास नहीं करते थे और विकेंद्रीकृत शासन प्रणाली चाहते थे। वे जनता की बुद्धिमत्ता और भारतीय प्रतिभा के अनुरूप संविधान की आवश्यकता में दृढ़ विश्वास रखते थे, न कि विदेश से प्रेरणा लेने में। अंबेडकर संसदीय शासन प्रणाली के समर्थक थे। उनका मानना था कि यह नागरिकों के प्रतिनिधित्व और प्रत्येक नागरिक के अधिकारों की सुरक्षा सुनिश्चित करने का एक साधन है। अंबेडकर एक सशक्त संवैधानिक व्यवस्था के पक्षधर थे जो व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा और सामाजिक न्याय सुनिश्चित करेगी।

गांधी और अंबेडकर गांधी और अंबेडकर (*Gandhi and Ambedkar*) के बीच सबसे महत्वपूर्ण बहसों में से एक 1932 का सांप्रदायिक पुरस्कार था, जहां अंबेडकर ने अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति के लिए अलग निर्वाचक मंडल

* इतिहास विभाग, के. बी. पी. जी. कॉलेज, मीरजापुर, उत्तर प्रदेश

पर सहमति व्यक्त की, जिसके विरोध में गांधी ने भूख हड़ताल की। अंबेडकर के विचार समानता, सामाजिक न्याय और जाति व्यवस्था के उन्मूलन पर आधारित थे। उन्होंने निम्न जातियों और अल्पसंख्यकों के अधिकारों का समर्थन किया और उनके उत्थान के लिए संवैधानिक उपायों पर जोर दिया। सार्वजनिक क्षेत्र में दोनों नेताओं ने अपने संदेशों को प्रसारित करने के लिए प्रतीकात्मक क्रियाओं का प्रयोग किया, जैसे गांधीजी ने विदेशी कपड़े जलाए और अंबेडकर ने मनुस्मृति जलाई।

गांधी और अंबेडकर राज्य की सीमित संप्रभु शक्ति और सरकार के सीमित अधिकार में विश्वास रखते थे। वे जनता को परम संप्रभु मानते थे। दोनों ही अहिंसा में विश्वास रखते थे, हालांकि अहिंसा की उनकी व्याख्या और प्रयोग भिन्न-भिन्न थे। दोनों ने ही सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए शांतिपूर्ण और लोकतांत्रिक साधनों की खोज की। गांधी और अंबेडकर ने हिंसक तख्तापलट का विरोध किया और इसके बजाय शोषित और दलित वर्गों के शांतिपूर्ण पुनर्वास की दिशा में काम किया। उन्होंने सामाजिक मुद्दों, विशेष रूप से निचली जातियों की दुर्दशा को पहचाना और उनका समाधान किया तथा उनके सशक्तिकरण और सामाजिक उत्थान की दिशा में काम किया।

बीज शब्द: मुक्ति, अस्पृश्यता, औपनिवेशिक गुलामी, गांधी, आम्बेकर, समानता, असमानता

शोध विस्तार

स्वतंत्रता संग्राम से शुरू हुई भारतीय राष्ट्र निर्माण प्रक्रिया में कई महत्वपूर्ण प्रवचन हुए। गांधी और अंबेडकर के बीच का प्रवचन उनमें से विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि इसमें सामाजिक मुक्ति के सबसे संवेदनशील मुद्दों में से एक पर चर्चा हुई थी, और इसी कारण यह आज भी आम पाठकों को आकर्षित करता है। गांधीवादियों और अंबेडकरवादियों के बीच मत बंटता हुआ है, जिनमें से प्रत्येक एक के पक्ष में और दूसरे के विरुद्ध अधिक जोरदार तर्क देता है।

हालांकि, दोनों नेताओं के बीच स्पष्ट टकराव का जब वस्तुनिष्ठ विश्लेषण किया जाता है, तो यह तथ्य सामने आता है कि यह एक नए सामाजिक व्यवस्था के जन्म की एक बहुप्रतीक्षित पीड़ा का प्रतिनिधित्व करता था जो नया जीवन प्राप्त करने के लिए संघर्ष कर रही थी।

प्रमुख मतभेद, जिसने हाल ही में विवाद का रूप ले लिया, 1932 में तब सामने आया, जब गांधी ने पृथक निर्वाचक मंडल अध्यादेश के खिलाफ अनिश्चितकालीन उपवास किया। इससे एक वर्ष पहले, द्वितीय गोलमेज सम्मेलन के दौरान, दलित वर्गों के प्रतिनिधियों ने अन्य अल्पसंख्यकों (मुस्लिम और सिख) के साथ मिलकर अल्पसंख्यकों के लिए अलग निर्वाचक मंडल की मांग की, जिनमें वे लोग भी शामिल थे जिन्हें 'अछूत' कहकर अपमानित किया जाता था। प्रधानमंत्री रामसे मैकडोनाल्ड ने 13 नवंबर 1931 को अल्पसंख्यक उप-समिति में अपने भाषण में इस मांग का आधिकारिक रूप से समर्थन किया। गांधी ने तब इसे एक कुटिल षड्यंत्र करार दिया था।

गांधी जी, जिन्होंने दक्षिण अफ्रीका में स्वयं अपमानजनक नस्लीय भेदभाव का सामना किया था (ट्रेन से बाहर फेंक दिया गया; प्रमुख सड़कों पर आवागमन से वंचित कर दिया गया, 'कुली' बैरिस्टर कहकर पुकारा गया), ने स्वेच्छा से स्वयं को 'अछूत' घोषित किया था।¹ इस अमानवीय प्रथा को हिंदू धर्म पर अभिशाप बताते हुए, उन्होंने अपने सार्वजनिक जीवन के आरंभ से ही 'अस्पृश्यता' के उन्मूलन के लिए स्वयं को समर्पित कर दिया। 1917 में अपने दानदाताओं के आक्रोश की परवाह किए बिना एक हरिजन परिवार (दुदाभाई, दानीबेन, लक्ष्मी) को अपने आश्रम में शामिल करना,² सामाजिक मुक्ति के लिए उनके घटनाक्रमों से भरे अभियान का एक छोटा सा उदाहरण मात्र था।

गांधी जी ने 'अस्पृश्यता' की प्रथा की इतनी निंदा की जितनी उनके समय में किसी और ने नहीं की। उन्होंने 'अस्पृश्यता के अपराध' को अंजाम देने वालों की तुलना हत्यारे जनरल डायर से की। उन्होंने पूछा, "क्या हमने अपने ही सगे-संबंधियों पर डायरवाद और ओ डायरवाद का अभ्यास नहीं किया है?"³ और भारतीयों द्वारा झेली गई 'औपनिवेशिक गुलामी' को भारतीयों द्वारा की गई अस्पृश्यता का फल बताया। उन्होंने राष्ट्र को याद दिलाते हुए कहा, "क्या हमने जैसा बोया है वैसा ही काटा है? हमने 'अछूतों' को अलग किया और बदले में हमें ब्रिटिश उपनिवेशों में अलग कर दिया गया।"⁴

सन् 1921 में ही गांधीजी ने हिंदुओं की अंतरात्मा को जगाने की अपील की थी। उन्होंने उनसे पूछा, "हिंदू धर्म पर लगे इस कलंक को कैसे दूर किया जा सकता है?" सिवाय इसके कि "हम अपने किए गए गलत कार्यों के लिए पश्चाताप करें और उन लोगों के प्रति अपना व्यवहार बदलें जिन्हें हमने दबाया है। हमें उन पर कुछ स्कूल थोपने से काम नहीं चलेगा; हमें

उनके प्रति श्रेष्ठता का भाव नहीं अपनाना चाहिए। हमें उन्हें अपने सगे भाई मानना चाहिए, जैसे वे वास्तव में हैं। हमें उन्हें वह विरासत लौटानी चाहिए जो हमने उनसे छीन ली है। यह जनता का सचेत स्वैच्छिक प्रयास होना चाहिए। हमें इस बहुत देर से होने वाले सुधार के लिए अनंत काल तक प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। हमें इस वर्ष के अनुग्रह, परीक्षा, तैयारी और तपस्या के इस वर्ष के भीतर इसे पूरा करने का लक्ष्य रखना चाहिए। यह सुधार स्वराज के बाद नहीं, बल्कि उससे पहले होना चाहिए।”

गांधी जी को पूरा विश्वास था कि इस गहरी जड़ जमा चुकी सामाजिक बीमारी का इलाज केवल सामाजिक परिवर्तन के माध्यम से ही संभव है, विशेषकर रूढ़िवादी हिंदुओं में, जिनकी स्वयंभू श्रेष्ठता ही पूरे उत्पीड़न का आधार थी। उनका मानना था कि पृथक निर्वाचक मंडल जैसी राजनीतिक चालें केवल ‘अस्पृश्यता’ के विरुद्ध राष्ट्र के संघर्ष को विफल करने का काम करती हैं। पृथक निर्वाचक मंडल के प्रति उनका विरोध निम्नलिखित प्रमुख अवलोकनों पर आधारित था:

1) पृथक निर्वाचक मंडल एक विभाजनकारी चुनावी प्रक्रिया है। इस प्रावधान के तहत, “नागरिकों द्वारा नागरिक के रूप में मतदान करने के बजाय, मुसलमान मुसलमान के रूप में, हिंदू हिंदू के रूप में, महिलाएं महिला के रूप में और ‘अछूत’⁷ ‘अछूत’ के रूप में मतदान करेंगे,” प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग चुनाव द्वारा अपने-अपने सांसद और विधायक चुनेगा। इससे भारत, यहाँ तक कि उसके अंतिम गाँव तक, दलित भारत, मुस्लिम भारत, सिख भारत में हमेशा के लिए विभाजित हो जाएगा⁸ गांधी ने तर्क दिया कि यदि हम एक ही लोग हैं, जो हम हैं, तो राजनीतिक शासन में हमारे साझा प्रतिनिधि होने चाहिए।

2) गांधीजी को चिंता थी कि ब्रिटिश शासन द्वारा अपनाई गई पृथक निर्वाचक मंडल की व्यवस्था “सुधार की सभी संभावनाओं को समाप्त कर देगी”⁹ और ‘अस्पृश्यता’ को “एक शक्तिशाली निहित स्वार्थ” में बदल देगी। उन्होंने कहा कि इसमें निहित प्रक्रिया “विलय की नहीं, बल्कि हितों के संतुलन और वर्ग संघर्ष की थी।”¹⁰

3) गांधी ने बताया कि जहाँ ‘सिख’ और ‘मुस्लिम’ सकारात्मक सामाजिक पहचान हैं, जो शाश्वत बनी रह सकती हैं, वहीं ‘अस्पृश्यता’ इसके विपरीत एक घृणित प्रथा और सामाजिक कलंक है,¹¹ जिसे पूरी तरह से मिटा देना चाहिए। गांधी ने अपने अनशन शुरू होने से ग्यारह दिन पहले रैमसे मैकडोनाल्ड को लिखा था कि ‘अछूतों’ के लिए अलग निर्वाचक मंडल का मतलब होगा न्याय और समानता के हकदार लोगों पर इस शर्मनाक पहचान को कानूनी रूप से पुख्ता करना। गांधी ने कहा, “हम अपने रजिस्टर और जनगणना में ‘अछूतों’ को एक अलग वर्ग के रूप में वर्गीकृत नहीं करना चाहते,” और “मैं भारत की स्वतंत्रता जीतने के लिए भी दलित वर्ग के महत्वपूर्ण हितों को नहीं बेचूंगा।”¹²

4) यह ध्यान देने योग्य है कि जिन लोगों के लिए डॉ. अंबेडकर संघर्ष कर रहे थे, उन्हें उस समय ‘अवर्ण’ कहा जाता था। उन्हें चतुर्वर्ण का हिस्सा नहीं माना जाता था। इसीलिए उनके साथ ‘अदृश्य’ और ‘पहुँच से बाहर’ व्यवहार किया जाता था।¹³ यही कारण था कि गांधी ने पृथक निर्वाचक मंडल की निंदा करते हुए इसे “शैतान का कृत्य” बताया, जो “हिंदू धर्म में ‘पांचवें वर्ग’ के निर्माण” को बढ़ावा देता है।¹⁴ उन्होंने कहा, “पिछड़े वर्गों के लिए पृथक निर्वाचक मंडल की स्थापना में मुझे ऐसा जहर समाहित होता दिख रहा है जो हिंदू धर्म को नष्ट करने के लिए रचा गया है और दलित वर्गों का कोई भला नहीं करता।”^{15 16}

5) गांधीजी अपनी ओर से उस विदारक बंधन को पूरी तरह से समाप्त करना चाहते थे जो ‘अछूतों’ को हिंदू धर्म से अलग करता था। उन्होंने तर्क दिया कि “अस्पृश्यता की यह शर्मनाक प्रथा ‘अछूतों’ पर नहीं, बल्कि रूढ़िवादी हिंदू धर्म पर कलंक है।”¹⁷ उनका मानना था कि उनका उद्धार कानून के तंत्र से नहीं, बल्कि सवर्ण हिंदुओं द्वारा सचेत आत्मनिरीक्षण, गहन आत्ममंथन और तपस्या के माध्यम से ही संभव है।¹⁸ और यह राजनीतिक “अलगाव सुधार की सभी संभावनाओं को समाप्त कर देगा।”¹⁹ इसलिए उन्होंने घोषणा की, “मेरा उपवास इस बाधा को दूर करने के उद्देश्य से है। यह सवर्ण हिंदुओं और ‘अछूतों’ के बीच एक जीवंत समझौते की तैयारी मात्र है, जिसके परिणामस्वरूप ‘पांचवीं जाति’ का पूर्ण उन्मूलन होगा।”²⁰ न केवल अभिलेखों से, बल्कि लोगों के दिलों से भी।

गांधी जी ने अपने अनशन के पहले दिन प्रेस से कहा: “मैं जो चाहता हूँ, जिसके लिए जी रहा हूँ, और जिसके लिए मरने में मुझे खुशी होगी, वह है अस्पृश्यता का जड़ से उन्मूलन। इसलिए मैं एक जीवंत समझौता चाहता हूँ जिसका जीवनदायक प्रभाव दूर के कल में नहीं, बल्कि आज ही महसूस किया जाना चाहिए, और इसलिए उस समझौते को अखिल भारतीय स्तर पर ‘छूतों’ और ‘अछूतों’ के एक साथ मिलने के प्रदर्शन द्वारा पुष्ट किया जाना चाहिए, किसी नाटकीय प्रदर्शन के रूप में नहीं, बल्कि वास्तविक भाईचारे के आलिंगन में। इसी को प्राप्त करने के लिए, जो पिछले पचास वर्षों से मेरे जीवन का

सपना रहा है, मैं आज अग्नि द्वारों में प्रवेश कर रहा हूँ... मेरे लिए पृथक निर्वाचक मंडलों का उन्मूलन तो अंत की शुरुआत मात्र होगा।”²¹

‘पीड़ित जनता के लिए न्याय और समानता को जल्द से जल्द नहीं बल्कि तुरंत सुनिश्चित किया जाना चाहिए’ - यह एक ऐसी तात्कालिकता थी जिसे गांधी और अंबेडकर दोनों समान रूप से महसूस करते थे। जबकि स्वयं भेदभाव के घृणित कृत्यों का शिकार होने के कारण, अंबेडकर अपने लोगों को इस दलदल से तुरंत बाहर निकालने के लिए बेताब थे और उत्पीड़कों की दया की मूक प्रतीक्षा करने को तैयार नहीं थे²²

अंबेडकर की संकट से निकलने के लिए की गई बेताब खोज ने उन्हें एक विशिष्ट, राजनीतिक दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्रेरित किया, जिसे संकट की स्थिति में सर्वोत्तम समाधान माना जाता है²³ आग से धिरे कमरे में फंसा व्यक्ति किसी भी तरह से बाहर निकलने की कोशिश करेगा, यहाँ तक कि खिड़की या दरवाजा तोड़कर भी, और बचाव दल के आने और दरवाजा खोलने का इंतजार नहीं करेगा, और खासकर तब जब ‘आग’ खुद ‘बचाव’ दल की साजिश का हिस्सा हो।²⁴

गांधी ने अपने “अदम्य आशावाद” के साथ एक समावेशी सामाजिक समाधान का प्रस्ताव रखा; उन्होंने तर्क दिया कि रूढ़िवादी हिंदुओं का सुधार थोड़े समय में ही हासिल किया जा सकता है, जो डॉ. अंबेडकर द्वारा राजनीतिक रूप से हासिल करने के इरादे से कहीं अधिक तेजी से होगा। उनका दावा सच साबित हुआ। उनके निस्वार्थ उपवास ने उत्पीड़कों के बीच इतना तीव्र और तात्कालिक परिवर्तन ला दिया कि गांधी के कट्टर आलोचक भी चकित रह गए।

गांधी जी के आमरण अनशन के पहले ही दिन, बनारस, इलाहाबाद, बंबई जैसे स्थानों सहित हजारों हिंदू मंदिरों ने स्वेच्छा से पहली बार ‘अछूतों’ के लिए अपने द्वार खोले, और लाखों रूढ़िवादी हिंदू आसपास के दलित इलाकों में उनके साथ भोजन करने गए। दलित-गैर-दलित संवाद और सामाजिक चर्चाओं की खबरें हर तरफ से आईं। गांधी जी का “इसी वर्ष के भीतर सुधार” का आह्वान तेजी से आगे बढ़ रहा था²⁵

अंबेडकर द्वारा शोषितों के राजनीतिक सशक्तिकरण के लिए किए गए आक्रामक प्रयास और गांधीजी द्वारा ‘उत्पीड़कों’ के बीच स्वैच्छिक रूप से किए गए गहन सामाजिक परिवर्तन, दोनों ही अपने-अपने प्रभाव में समान रूप से प्रभावशाली साबित हुए। गांधीजी का दृष्टिकोण अधिक समग्र और टिकाऊ माना जाता था, क्योंकि यह समस्या की जड़ तक पहुँचता था और स्वैच्छिक सुधार को प्रेरित करता था। हालांकि, इतिहास से हमें पता चलता है कि ऐसा दृष्टिकोण केवल गांधीजी जैसे प्रबुद्ध नेतृत्व में ही सफल हो सकता है। गांधी युग के बाद सामाजिक परिवर्तन की धीमी गति इस आशंका को पुष्ट करती है। ऐसे में, अंबेडकर का समानता का आक्रामक और एकतरफा दावा शोषितों के दृष्टिकोण से व्यावहारिक और प्रासंगिक पूरक प्रतीत होता है। भारत की सामाजिक न्याय की यात्रा हमेशा शीर्ष स्तर से लागू किए गए नेक इरादे वाले राजनीतिक सुधार और जमीनी स्तर पर स्वैच्छिक रूप से किए गए ईमानदार सामाजिक परिवर्तन का मिश्रण है, जो एक दूसरे को सशक्त बनाते हैं। उस अर्थ में, गांधी और अंबेडकर के बीच जो कुछ हुआ, वह भारतीय मुक्ति की यात्रा में एक आवश्यक द्वंद्वात्मक संवाद था, जिसने उन लोगों के बीच एक निरंतर बढ़ते भाईचारे का संश्लेषण किया जो कभी एक दूसरे के बिल्कुल विपरीत थे।

निष्कर्ष :

महात्मा गांधी जी और डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी की बीच यूँ तो संबंध बहुत अच्छे दिखते थे और दोनों ही समाज सुधारक और समाज में उत्पीड़न के खिलाफ काम करते थे लेकिन दोनों कि कई विषयों पर कार्य शैली अलग-अलग होने से कुछ मतांतर अलग-अलग दिखते हैं। जैसे गांधी जी छुआछूत और सामाजिक भेदभाव को वैचारिक रूप से मिटाने में विश्वास रखते थे तथा इसके लिये जनजागरण में विश्वास रखते थे। क्योंकि उन्हें लगता था की यदि समाज में यदि वर्ग व्यवस्था का वर्गीकरण होगा तो विभेद बढ़ेगा। वही भीमराव जी इसके लिये संविधानिक और प्रशासनिक व्यवस्था में विश्वास रखते थे। क्योंकि अम्बेडकर जी को लगता था की समाज में कुछ ऐसे लोगो का प्रभुत्व है जो गांधी जी के विचारों वाली व्यवस्था को लागू नहीं होने देंगे। गांधी जी पंचायत व्यवस्था के विकेंद्रीकरण चाहते थे। और लोकतांत्रिक ताकत देना चाहते थे। लेकिन अम्बेडकर जी का मत इस विषय पर प्रशासनिक और संवैधानिक सुधारो का था। इस प्रकार से दोनों में मतान्तर दिखते थे जिसमें अम्बेडकर जी कुछ ज्यादा मुखर थे किन्तु गांधी जी कम मुखर थे क्योंकि गांधी जी इससे होने वाले सामाजिक नुकसान से सजग थे। अम्बेडकर जी एक ऐसे वर्ग से थे जो पीड़ित शोषित और तिरस्कृत वर्ग था। अतः उनके कार्यकलापों में इसकी भड़ास और पीड़ा दिखती थी।

संदर्भ:

1. पी.एन. राजभोज को पत्र, 20 सितंबर 1932, *सी.डब्ल्यू.एम.जी.*, खंड 51, पृ. 111.
2. गांधी, एम.के. *सत्य के साथ मेरे प्रयोगों की कहानी*. नवजीवन प्रकाशन गृह, पृ. 482.
3. *यंग इंडिया*, 19 जनवरी 1921.
4. प्यारेलाल. *एपिक फास्ट*. नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, पृ. 234.
5. *यंग इंडिया*, 19 जनवरी 1921.
6. गांधीजी का विरोध केवल 'पृथक निर्वाचक मंडल' के प्रावधान के विरुद्ध था, न कि प्रत्येक राजनीतिक सुधार प्रयास के विरुद्ध. उन्होंने कहा— "मेरा उपवास केवल पृथक निर्वाचक मंडलों के विरुद्ध है, न कि उत्पीड़ितों के लिए सीटों के वैधानिक आरक्षण के विरुद्ध." *टाइम्स ऑफ इंडिया*, 21 सितंबर 1932, *सी.डब्ल्यू.एम.जी.*, खंड 50.
7. *न्यू रिपब्लिक* (न्यूयॉर्क), प्यारेलाल द्वारा उद्धृत, *एपिक फास्ट*. नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, पृ. 219.
8. प्यारेलाल. *एपिक फास्ट*. नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, पृ. 10–11.
9. *सी.डब्ल्यू.एम.जी.*, खंड 51, पृ. 117–118.
10. प्यारेलाल. *एपिक फास्ट*. नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, पृ. 18.
11. "अलग निर्वाचक मंडल इस कलंक को कायम रखेगा." गांधीजी का वक्तव्य, द्वितीय गोलमेज सम्मेलन, लंदन, 1931, भारतीय छात्र मजलिस को संबोधन. उद्धृत: प्यारेलाल, *एपिक फास्ट*, पृ. 141.
12. रैमसे मैकडोनाल्ड को पत्र, 9 सितंबर 1932, *सी.डब्ल्यू.एम.जी.*, खंड 51, पृ. 31.
13. महादेवभाई की डायरी, खंड II, पृ. 69–72.
14. प्यारेलाल. *एपिक फास्ट*. नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, पृ. 17.
15. गांधी का 'हिंदू धर्म' से तात्पर्य भारत की सनातन नैतिकता एवं वैदिक मूल्यों पर आधारित जीवन शैली से था, न कि संकीर्ण संस्थागत धर्म से. उन्होंने कहा— "मुझे 'अछूतों' के इस्लाम या ईसाई धर्म में परिवर्तित होने से कोई आपत्ति नहीं थी... लेकिन वे उस दीर्घकालिक गृहयुद्ध और हिंदू धर्म के निश्चित विघटन को सहन नहीं कर सकते थे..."
16. रैमसे मैकडोनाल्ड को पत्र, 9 सितंबर 1932, *सी.डब्ल्यू.एम.जी.*, खंड 51, पृ. 31.
17. प्यारेलाल. *एपिक फास्ट*. नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, पृ. 84.
18. गांधीजी का भाषण, 2 अगस्त 1931, अहमदाबाद के एक निजी मंदिर को 'अछूतों' हेतु खोलने के अवसर पर.
19. *टाइम्स ऑफ India*, 22 सितंबर 1932.
20. प्यारेलाल. *एपिक फास्ट*, पृ. 43.
21. प्रेस को दिया गया साक्षात्कार, *टाइम्स ऑफ इंडिया*, 21 सितंबर 1932, *सी.डब्ल्यू.एम.जी.*, खंड 51, पृ. 119.
22. अंबेडकर, बी.आर. *जाति का विनाश*, तृतीय संस्करण, पृ. 20.
23. गांधीजी ने अंबेडकर की "अटल मांग को उसके आशय के लिहाज से पूरी तरह न्यायसंगत" माना था. उन्होंने कहा— "मेरी पूरी सहानुभूति आपके साथ है." उद्धृत: प्यारेलाल, पृ. 53.
24. अंबेडकर, बी.आर. *जाति का विनाश*, तृतीय संस्करण, पृ. 21.
25. प्यारेलाल. *एपिक फास्ट*, पृ. 220–230.

‘अशोक के फूल’ निबंध के आधार पर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की सांस्कृतिक दृष्टि

विष्णु*

vkashyap8285@gmail.com

सार –

हिन्दी साहित्य में निबंध विधा को वैचारिक गहराई और सांस्कृतिक व्यापकता प्रदान करने वाले प्रमुख साहित्यकारों में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। उनका निबंध ‘अशोक के फूल’ केवल प्रकृति-वर्णन नहीं है, बल्कि भारतीय संस्कृति के स्वरूप और उसकी आंतरिक प्रक्रियाओं को समझने का एक गंभीर प्रयास है। जब द्विवेदी जी अशोक के फूल को देखते हैं, तो उनका संवेदनशील मन अतीत की ओर उन्मुख हो जाता है। वे उस समय की कल्पना करते हैं जब यह वृक्ष भारतीय संस्कृति में अत्यंत प्रतिष्ठित था और प्रेम, सौंदर्य तथा उत्सव का प्रतीक माना जाता था। किंतु वर्तमान में उसकी उपेक्षा देखकर द्विवेदी जी के मन में प्रश्न उठता है कि आखिर ऐसा क्यों हुआ? क्या समय ही इसका कारण है, या फिर समाज की बदलती आवश्यकताओं और मान्यताओं ने इसे प्रभावित किया है? यहीं से द्विवेदी जी की सांस्कृतिक दृष्टि प्रारंभ होती है, जो संस्कृति को एक जीवंत और परिवर्तनशील प्रक्रिया के रूप में देखने की प्रेरणा देती है।

बीज शब्द - अशोक के फूल, हिन्दी निबंध, सांस्कृतिक दृष्टि, इतिहासबोध, परंपरा।

मूल आलेख –

अशोक के फूल आचार्य हजारी प्रसाद की सांस्कृतिक निबंधों का आरंभ है जिसमें वह अशोक के फूल की वैभवशाली प्रसिद्धि को भारत के इतिहासबोध के साथ जोड़ते हुए उसके सांस्कृतिक पहलुओं की पहचान कराते हैं तथा इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं- “देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बात की बात है। सब कुछ में मिलावट है, सब-कुछ अविशुद्ध है।”¹ इसी संदर्भ में नामवर सिंह यह भी स्पष्ट करते हैं कि- “अशोक के फूल’ केवल एक फूल की कहानी नहीं, भारतीय संस्कृति का एक अध्याय है; और इस अध्याय का अनंगलेख पढ़ने वाले हिंदी में पहले व्यक्ति हैं हजारीप्रसाद द्विवेदी।” “आर्य-संस्कृति की शुद्धता के अहंकार पर चोट करने के लिए ही ‘अशोक के फूल’ लिखा गया है, प्रकृति-वर्णन के लिए नहीं।”²

आचार्य हजारी प्रसाद का संवेदनशील रचनाकार जब कभी भी अशोक के फूल को देखता है तो उसके माध्यम से वह इतिहास के एक लंबे गलियारे में चलता हुआ, सुदूर अतीत के अंधेरे कोनों तक पहुंच जाता है। वहाँ उसे अशोक वृक्ष अपनी पूरी शान से मुस्कुराता हुआ दिखलाई देता है। यद्यपि प्रकृति के आँगन में अनेक प्रकार के वृक्ष और अनेक प्रकार के पुष्प पुष्पित व विकसित होते रहे हैं परंतु उनमें अशोक का स्थान न जाने कैसे और कब प्रथम पक्ति के वृक्षों में गिना जाने लगा था। यहाँ तक कि काम देवता ने भी इसे अपने पांच पुष्प बाणों में सम्मिलित कर लिया। फिर इतिहास का वह युग भी आया जब इस वृक्ष को पूर्णतः भुला दिया गया और उसकी सांस्कृतिक पहचान लगभग समाप्त हो गई। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का संवेदनशील रचनाकार काल देवता की उस विचित्र गतिविधि पर हैरान परेशान होने लगता है और जब कभी मोह ग्रस्त होकर अतीत के इसके गौरव के लिए उदास होने लगता है। लेखक के शब्दों में, ‘भुलाया गया है अशोक। मेरा मन उमड़-धुमड़कर भारतीय रस साधना के पिछले हजारों वर्षों पर बरस जाना चाहता है। क्या यह मनोहर पुष्प भुलाने की चीज थी? सहृदयता क्या लुप्त हो गयी थी? कविता क्या सो गई थी? ना, मेरा मन यह सब, मानने को तैयार नहीं है।’³

*शोधार्थी, हिन्दी विभाग, मानविकी विद्यापीठ, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली- 110068

समय का चक्कर तो किसी को उत्कर्ष के चरम तक पहुँचा देता है। और सभी उसे लोगों की स्मृति से भुला देता है। यह उसका कैसा गति चक्र है और कैसा निर्णय? उसके साथ ही एक प्रश्न और भी खड़ा होता है कि क्या इस सबके लिए हम मात्र समय को ही दोषी ठहरा सकते हैं? या दूसरे शब्दों में, क्या सामाजिक मान्यताओं और जरूरतों की सापेक्षता में तत्वों की प्रसिद्धि अथवा विलुप्तता निर्भर नहीं करती? और यदि करती है तो वह कौन से सांस्कृतिक मूल्य है, जो किसी भी तत्व की शाश्वती अथवा नश्वरता की कसौटी बनते हैं, आचार्य द्विवेदी का रचनाकार प्रस्तुत निबंध में इन्हीं सभी तत्वों की खोज अशोक वृक्ष की सांस्कृतिक यात्रा के बहाने से करता हुआ दिखाई देता है।

भारतीय संस्कृति में अशोक वृक्ष का प्रवेश :

आर्यों के द्वारा यहाँ की मिश्रित जातियों को उनके देवी देवताओं और उनकी वैचारिक परम्परा सहित यहाँ की विविध संस्कृति में सम्मिलित कर लिया गया था। यही कारण है कि वृक्षों और गन्धर्वों के माध्यम से भारतीय संस्कृति में उनके देवताओं के रूप में कुबेर, सोम और कदर्प (काम) ने भी प्रवेश किया। यह तीनो देवता कहीं समृद्धि और आनंद के प्रतीक थे। इनमें भी कन्दर्प देवता ने भारतीय संस्कृति को बहुत दूर तक प्रभावित किया। शायद उसका यही कारण था कि इस देवता का संबंध मनुष्य की आदिम भूख 'काम' से था तथा मनुष्य निरंतर सभ्यता की सीढ़ियों चढ़ते हुए भी इसका दमन नहीं कर सका। फलतः मनुष्य ने अपनी जीवनचर्या में इसे अनेक कथाओं नके माध्यम से लोक-विश्वास के रूप में धारण कर लिया। इन्हीं लोक-विश्वासों को पुराणकारों ने अपने ग्रंथों में भिन्न-भिन्न प्रतीकों में बांधकर इसे चित्रित किया है।

भारतीय संस्कृति में अशोक के पेड़ की महत्ता निश्चित रूप से गंधर्वों की देन हैं। काम देवता के पाँच पुष्प बाणी (अरविंद, अशोक, आम्र, नवमल्लिका, चमेली और नीलकमल) को विशेष रूप से भारतीय संस्कृति में ख्याति प्राप्त हुई। इस प्रकार आर्यों की मित गन्धर्व जाति के काम-देवता के पाँच पुष्प बाणों और धनुष के विभिन्न भागों से परिवर्तित पाँच अन्य पुष्पों ने धरती पर सभी जीवों में काम-वासना के उद्दीपन का कार्य संभाल लिया। इनमें भी अशोक के पुष्प को विशेष और धीरे-धीरे इस सम्मान वृक्ष ने भारतीय संस्कृति के धार्मिक उत्सवों में अपना स्थान अक्षुण्ण बना लिया। चैत्र शुक्ल अष्टमी को व्रत करने और अशोक की आठ पत्तियों के भक्षण से स्त्रियों की संतान कामना की पूर्ति का विश्वास जुड़ गया तथा स्त्रियों के माध्यम से ही इस वृक्ष की पूजा का विधान बन गया। इस विधान के मूल में द्विवेदी जी स्पष्ट करते हैं कि 'असल पूजा अशोक की नहीं, बल्कि उसके अधिष्ठाता कंदर्प देवता की होती थी।'⁴

इतना ही नहीं पूजा का वह दिन विशेष रूप से मदनोत्सव के नाम से मनाया जाने लगा। इस अवसर पर सुंदर स्त्रियों के पदाघात से इसके पुष्पित होने की कल्पना ने इस वृक्ष के महत्व को और भी बढ़ा दिया। धीरे-धीरे इसके लाल और सफेद फूलों ने क्रमशः काम भावना उत्पन्न करके तथा तांत्रिक क्रियाओं में सिद्धि प्रदान करने का विश्वास भी अर्जित कर लिया और इस प्रकार यह वृक्ष भारतीय संस्कृति का अंग बनता चला गया। जो कार्य किसी समय काम-देवता स्वयं नहीं कर पाए थे। वह कार्य उन्होंने अशोक के पुष्पों के माध्यम से सम्पन्न किया। शायद अशोक वृक्ष उनका अंतिम अस्त्र था। भारतीय संस्कृति में अशोक अपने ढंग से प्रभाव जमाने लगा था।

भारतीय संस्कृति में अशोक वृक्ष का महत्व :

अशोक ने जब भारतीय संस्कृति में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया। तो स्वाभाविक है कि साहित्य के क्षेत्र में भी उसे प्रवेश करना था लगभग ईसवी सन् के आसपास उस वृक्ष का संदर्भ जब भारतीय धर्म और और संस्कृति से जुड़ा, उसी समय साहित्य में भी इसने प्रवेश किया। कवियों ने इसके मनोहर पुष्प को लेकर अनेक सुंदर कल्पनाओं को बार-बार प्रयोग करके कवि प्रसिद्धियों में इसे परिवर्तित कर लिया। अन्यथा किसने देखा है कि सुंदरियों के पदाघात से अशोक फूल खिल उठता है? परंतु जाने इसके मनोहर पुष्पों का आकर्षण था या काम देवता के पुष्प बाण होने का प्रभाव। कि जिस समय कालिदास ने साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया तो उसने इसे महत्व देकर विशेष गौरव प्रदान किया। इस गौरव का वर्णन करते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं, 'कालिदास के काव्यों में यह (पुष्प) जिस शोभा और सौकुमार्य का भार लेकर प्रवेश करता है वह पहले कहाँ था! उस प्रवेश में नववधू के गृह-प्रवेश की भाँति शोभा है, गरिमा है, पवित्रता है और सुकुमारता है।'⁵

कालिदास क्योंकि स्वयं कवि थे, इसीलिए उन्होंने कही तो इसे कवि प्रसिद्धियों के अंतर्गत सुंदरियों के अनुसार नुपूर वाले कोमल चरणों के हल्के आघात से खिलता हुआ दिखाया, तो कही इसके पुष्पों को किसी सुंदरी के कानों की अथवा

बालो की शोभा बढ़ाते हुए चित्रित किया गया। कहीं पुष्प के सौंदर्य और सुकुमारता द्वारा कहीं शिव में शृंगार भावना का उदय दिखाया, तो कही सीता के भ्रम में राम द्वारा उसके पुष्प को ही निहारते हुए दिखलाया।

कालिदास से पूर्व भी हम इस वृक्ष की चर्चा महाभारत में पाते हैं। उसमें ऐसी अनेक कथाएं हैं जिनमें संतान की कामना लेकर स्त्रियाँ इस वृक्ष के पास जाती थीं। इस संबंध में द्विवेदी जी बताते हैं कि “यक्ष और यक्षिणी साधारणतः विलासी और उर्वरता के जनक देवता समझे जाते थे।”⁶ निबंधकार बताता है कि “भरहूत, बोधगया, साँची आदि में उत्कीर्ण मूर्तियों में संतानार्थिनी स्त्रियों का यक्षों के सानिध्य के लिए वृक्षों के पास जाना अंकित है... अशोक इन वृक्षों में सर्वाधिक रहस्यमय है।”⁷ रामायण में रावण की विलास-स्थली के रूप में अशोक वाटिका का चित्रण है, जहाँ उसने सीता को विशेष उद्देश्य से छिपाकर रखा था ताकि वहा का मनोरम दृश्य उसमें शायद रावण के प्रति अनुरक्ति उत्पन्न कर दे। कालिदास के बाद भी यह वृक्ष और इसके पुष्प साहित्यकारों के लिए चर्चा का विषय बनें रहे। परवर्ती धर्म ग्रंथों से यह पता चलता है कि चैत्र शुक्ल की अष्टमी को व्रत करने और अशोक के वृक्ष की आठ पत्तियों के भक्षण से स्त्री की संतान की कामना फलवती होती है। इसी प्रकार एक अन्य ग्रंथ अशोक कल्प में अशोक के फूलों के दो रंगों (सफेद और लाल) की अलग-अलग उपलब्धियों पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार स्वीकार करना पड़ेगा इस वृक्ष ने धीरे-धीरे भारतीय साहित्य पर भी अपना अधिकार स्थापित कर लिया था।

भारतीय संस्कृति में अशोक वृक्ष की उपेक्षा:

भारतीय संस्कृति और साहित्य में जिस शान से अशोक वृक्ष ने प्रवेश किया था, उसके बिल्कुल विपरीत परिस्थितियों में उसे उपेक्षा का पात्र भी बनना पड़ा। उसकी इस स्थिति पर द्विवेदी जी कहते हैं, “अशोक किसी कुशल अभिनेता के समान झम से रंगमंच पर आता है और दर्शकों को अभिभूत करके खप-से निकल जाता है।”⁸ ऐतिहासिक तथ्य सिद्ध करते हैं कि मुस्लिम सत्ता की प्रतिष्ठा के साथ ही यह मनोहर पुष्प साहित्य के सिंहासन से चुपचाप उतार दिया गया। द्विवेदी जी के शब्दों में, “एकाएक मुसलमानी सल्तनत की प्रतिष्ठा के साथ-ही-साथ यह मनोहर पुष्प साहित्य के सिंहासन से चुपचाप उतार दिया गया। नाम तो लोग बाद में भी लेते थे, पर उसी प्रकार जिस प्रकार बुद्ध और विक्रमादित्य का।”⁹

आश्चर्य का विषय यह रहा कि कामदेवता के पाँचों पुष्प-बाणों में मात्र इसी के साथ ऐसा हुआ। अन्यथा अरविंद आज भी लोगों से सम्मान पाता है, आम का महत्व आज भी अक्षुण्ण है। नीलोत्पल अपने सौंदर्य से आज भी अभिभूत है, नवमल्लिका की स्थिति उसी प्रकार की है, जिस प्रकार पहले दिन थी। अशोक ही एकमात्र ऐसा वृक्ष है जिसकी उपेक्षा की गई। आम ने उपयोगिता की दृष्टि से आज भी अपना महत्व स्थापित कर रखा है। अरविंद आज भी लोगों के लिए प्रेरणा का स्रोत है। नवमल्लिका ने आज भी आकर्षण के बाजार में अपना स्थान बना रखा है, यही स्थिति नीलोत्पल की भी है। परंतु अशोक ही अपनी उपयोगिता स्थापित नहीं कर पाया। जबकि कदाचित् दुनिया की प्रकृति बड़ी विचित्र है, कि वह केवल इतना ही नहीं उसकी अस्मिता तक इतिहास में दबकर रह गई। तभी तो समस्त उत्तर भारत में लोगों ने एक अन्य निफुले वृक्ष को अशोक समझ लिया।

संस्कृति की प्रकृति और मनुष्य की जिजीविषा:

अशोक के वृक्ष के इतिहास में उत्कर्ष के कारणों को समझने और फिर आकर्षण के कारणों के लिए हमें संस्कृति किसी व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष की इच्छा के अनुरूप अपना स्वरूप निर्मित नहीं करती है। उसके मूल्य समाज सापेक्ष होकर ही निर्मित होते हैं। दूसरे शब्दों में उसके साथ समूचे मानवता के कल्याण का प्रश्न जुड़ा रहता है। इसलिए वह किसी एक समूह, जाति वर्ग या व्यक्ति के अनुरूप नहीं अपितु सारी मानव जाति के अनुरूप होकर चलती है, यही उसका धर्म है। इसीलिए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इसे अविरোধी सत्त्यों का समुच्चय मानते हैं। इस प्रकार संस्कृति अपने भीतर अविरোধी सत्त्यों को लेकर चलती है। जिनके अंतर्गत समूची मानवता के कल्याण की चिंता रहती है। साथ ही संस्कृति मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा (जीने की इच्छा) को भी ओढ़कर चलती है। इसीलिए संस्कृति की यात्रा में वहीं स्वीकृत होता है जो सामान्य मानव के जीवन का सहज अंग बनकर उसके कल्याणार्थ चलता है। अशोक वृक्ष उस गंधर्व जाति के माध्यम से भारतीय संस्कृति में आया था, जिसकी विलासिता की प्रकृति थी। विलासिता की प्रवृत्ति रखने वालों के लिए उसकी उपयोगिता और आकर्षण सदा के लिए हो सकता था क्योंकि यहाँ की संस्कृति गन्धर्वों की प्रकृति के बिल्कुल विपरीत त्याग और विरक्त की प्रवृत्ति से

युक्त थी। यहाँ व्यक्ति का आदर्श मात्र भोग में ही नहीं सिमटा था, उसकी यात्रा का अंत मोक्ष में होता था। इसीलिए विलास अथवा उसके विभिन्न साधन यहाँ की संस्कृति के अभिन्न अंग बनकर नहीं रह सकते।

यही कारण है कि भले ही अशोक का वृक्ष कला का प्रतीक बन गया और अनेक धार्मिक उत्सवों में भी प्रतिष्ठा प्राप्त कर गया, परंतु वह समाज के मात्र उस अभिजात्य वर्ग का ही प्रतिनिधि बन सका जो दलित वर्ग का शोषण करके स्वयं विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करता था। अशोक का वृक्ष जितना भी मनोहर, जितना भी रहस्यमय हो जितना भी अलंकारमय हो, परंतु वह है उस विशाल सामंत व्यवस्था की परिष्कृत रुचि का ही प्रतीक है, जो साधारण प्रजा के परिश्रमों पर पली थी, उसके रक्त के सारे कणों को खाकर बड़ी हुई थी और लाखों करोड़ों की उपेक्षा से समृद्ध हुई थी। सामान्य लोक जीवन प्रवाह में उसका किसी प्रकार का सहयोग नहीं था। इसीलिए समय ने उसे निर्गम बनाकर झटक दिया। उसकी इस सांस्कृतिक उपेक्षा को देखकर वही उदास हो सकता है जो रूढ़ीवाद से चिपके रहने का मोह नहीं त्याग पाता। पुरानी परम्पराओं या वस्तुओं का मात्र इसलिए संग्रह करते कि ये हमारी विकसित समाज की सम्पत्ति है। यह व्यक्ति का वृथा मोह है, झूठा पांडित्य है। मरे बच्चों को गोद में चिपकाए रहने वाली बंदरिया मनुष्य का आदर्श नहीं बन सकती। पुराने का निरंतर संस्कार करते रहना, उसका परिष्कार करते रहना ही मनुष्य का आदर्श है। तभी वह अपनी जिजीविषा की यात्रा को गतिशील रख पायेगा। तभी वह विवेकशील और ज्ञानवान कहलवाने का अधिकारी बनेगा। जब ज्ञान मात्र अतीत की मृत परंपराओं ले संग्रह का मोह बन जाए, तब वह ज्ञान नहीं अज्ञान बन जाता है।

निष्कर्ष :

उपर्युक्त लेख से स्पष्ट है स्थापित होता है कि केवल ज्ञान, भार है यदि वह मुक्ति की ओर नहीं ले जाता। वह भी ब्रह्मचार मात्र है, मृत है। ज्ञान का फूल मुक्ति है। यही कारण है कि निबंध के प्रारंभ में पुष्पित अशोक को देखकर उदास होने वाला लेखक भारतीय संस्कृति में अशोक के लुप्त हो जाने के वास्तविक कारणों से परिचित होकर आगे चलकर स्वीकार करता है कि पुराने चित्र से इसको (अशोक) देखने वाला उदास होता है वह अपने को पण्डित समझता है। पंडिताई भी एक बोझ है, जितनी ही भारी होती है उतनी ही तेजी से डुबाती है अर्थात् पण्डिताई जब मृत वस्तुओं के ज्ञान को ही वहन करने लगती है तब वह दम्भ और अज्ञान से ग्रस्त होकर बोझ बन जाती या है। अंततः लेखक इसी सत्य को उद्घाटित करते हुए लिखता है: "मगर उदास होना बेकार है। अशोक आज भी उसी मौज में है, जिसमें आज से दो हजार वर्ष पहले था। कहीं भी तो कुछ नहीं बिगड़ा है, कुछ भी तो नहीं बदला है। बदली है मनुष्य की मनोवृत्ति। यदि बदले बिना वह आगे बढ़ सकती तो शायद वह भी नहीं बदलती।"¹⁰

संदर्भ सूची-

- ¹ द्विवेदी, हजारीप्रसाद. (2024). *अशोक के फूल*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 14
- ² सिंह, नामवर. (1982). *दूसरी परंपर की खोज*. राजकमल प्रकाशन. पृ. 85-86
- ³ द्विवेदी, हजारीप्रसाद. (2024). *अशोक के फूल*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 10
- ⁴ द्विवेदी, हजारीप्रसाद. (2024). *अशोक के फूल*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 13
- ⁵ द्विवेदी, हजारीप्रसाद. (2024). *अशोक के फूल*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 9
- ⁶ द्विवेदी, हजारीप्रसाद. (2024). *अशोक के फूल*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 12
- ⁷ द्विवेदी, हजारीप्रसाद. (2024). *अशोक के फूल*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 12
- ⁸ द्विवेदी, हजारीप्रसाद. (2024). *अशोक के फूल*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 10
- ⁹ द्विवेदी, हजारीप्रसाद. (2024). *अशोक के फूल*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 9
- ¹⁰ द्विवेदी, हजारीप्रसाद. (2024). *अशोक के फूल*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 16

समवकार के आश्रयदाताओं का परिचयात्मक अध्ययन

विवेकानंद*

vivekvipra03@gmail.com

सार

समवकार संस्कृत साहित्य में एक प्रकार का नाटक है, जिसमें देव एवं दानवों के बीच युद्ध या पौराणिक कथाओं का वर्णन प्राप्त होता है। यह रूपक के दस भेदों में से एक है, जो वीर रस प्रधान नाटक है, इसमें तीन अंक होते हैं। समवकार में विमर्श-संधि के अलावा बाकी सभी संधियाँ (मुख संधि-प्रतिमुख संधि, गर्भ संधि, विमर्श-संधि, निर्वहण संधि) होती हैं। इसमें बिन्दु या प्रवेशक नहीं होते हैं। आधुनिक नाटककार आचार्य हरीलाल वर्मा, आचार्य महावीर अग्रवाल एवं आचार्य बलवीर ने माना कि इसमें वीथी एवं प्रहसन का अत्यधिक प्रयोग किया गया है। वत्सराज का समुद्रमंथन, त्रिपुरविजय, किरातार्जुनीय, व्यायोग, कर्पूरचरित, हास्यचूड़ामणि, रूक्मिणीहरण आदि नाटकों में रूपकों के अलग-अलग प्रकार के दर्शन होते हैं, यथा-व्यायोगः, भाणः, प्रहसनः, ईहामृगः, डिमः वीथीः अंकः, प्रकरणः समवकार के उदाहरण माने गये हैं। इन्हें कालिंजर के प्रशासक परमार्दिदेव के शासनकाल (1162-1203) तक मंत्री के रूप में भी कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ। अपने नाटकों में वत्सराज ने कहीं भी दीर्घ समासों का प्रयोग नहीं किया। इनके रूपक यद्यपि छोटे-छोटे हैं किन्तु वे गतिशीलता एवं रोचकता से भरे हुए हैं इनकी भाषा-शैली सरल-सहज एवं प्रभावपूर्ण है।

बीज शब्दः व्यायोगः, भाणः, प्रहसनः, ईहामृगः, डिमः, वीथीः, अंकः, प्रकरणः।

प्रस्तावना

आश्रय एवं प्रश्रय का साहित्य-सृष्टि में महत्वपूर्ण एवं अप्रतिम महत्त्व है, कवि-कलाकार राजाश्रय में निश्चिन्त भाव से अपनी साधना करते हैं और इसके विपरीत राज्याश्रय विहीन कवियों को नाना झंझटों का सामना करना पड़ता है। अतः उनकी क्षमता अधिकांश समस्याओं के समाधान में अपव्ययित होती है। इस दृष्टि से हमारे वत्सराज अधिक भाग्यशाली रहे, किन्तु परमार्दिदेव तथा त्रैलोक्य वर्मदेव के संरक्षण में भी इनकी कविता तथा रूपकों का प्रचार-प्रसार विद्वत्समाज के लिए आश्चर्य का विषय है। अप्रचलित रूपक-विधाओं के प्रणेता तथा उच्चकोटि के कवि होते हुए भी इनका अद्यावधि 'विस्मृत किं वा अनधीत' नितांत विचारणीय है। 'समवकार' का शाब्दिक तात्पर्य 'पूरी तरह से विखेरना' या 'संयोजन करना' इस रूपक में विभिन्न प्रकार के विषयों, क्रियाओं एवं भावों का एक साथ प्रस्तुति करण है।

समवकार की कथावस्तु पौराणिक एवं सुपरिचित होती हैं। इसका प्रसिद्ध उदाहरण 'समुद्र मंथन' है, यद्यपि इसमें विविध भाव हो सकते हैं किन्तु वीररस की प्रधानता होती है, इसमें संघर्ष, युद्ध, रोमांचक घटनाओं का वर्णन किया गया है। नाटक का उद्देश्य केवल मनोरंजन करना नहीं बल्कि यह शिक्षा एवं ज्ञान का स्रोत भी है।

शोध प्रविधि: विश्लेषणात्मक एवं तुलनात्मक शोध पद्धति का उपयोग कर निष्कर्ष प्रस्तुत किये जाएंगे।

कालंजराधिपति परमर्दिदेव (1163-1203 ई०)-

साहित्य निश्चिन्त, स्वस्थ, उर्वर मस्तिष्क तथा हृदय की भावाभिव्यक्ति-रूप एवं उपज है। ज्ञान के अभाव में प्राणी चिन्तन और सृजन का कार्य नहीं कर सकता है, यद्यपि चन्देलों के समय में राजनैतिक उथल-पुथल तथा अशान्ति का साम्राज्य

* शोधार्थी, संस्कृत साहित्य विभाग, महाकौशल विश्वविद्यालय, जबलपुर (मध्य प्रदेश)

था तथापि उन्होंने अपने सत्प्रयासों एवं कवियों को प्रदत्त संरक्षण एवं प्रश्रय से साहित्य को अविघ्नित रूप से पुष्पित एवं पल्लवित होने का अवसर प्रदान किया। कालिंजराधिपति परमार्दिदेव ने महाकवि वत्सराज को अपना आश्रय प्रदान कर संस्कृत-साहित्य का महदुपकार किया, क्योंकि यदि वत्सराज को इनके आश्रय से मानसिक स्वास्थ्य न मिला होता तो आज रूपकों की अनेक विद्याओं से अपरिचित होते। परमार्दिदेव ने वत्सराज को केवल आश्रय ही नहीं दिया, प्रत्युत उन्हें अमात्य के प्रतिष्ठित पद पर नियुक्त किया।¹ परमार्दिदेव के राज्याधिरोहण की निश्चित तिथि अज्ञात होने से इस विषय पर इतिहासकारों में मतभेद भी है। उनके दानपत्रों में 'मदनवर्मपादानुध्यात्' अंकित होने का ज्ञान होता है कि परमार्दिदेव मदनवर्मा के उत्तरधिकारी थे, जिसे हम 'परमा' के रूप में जानते हैं², किन्तु 'सेम्रा' दानपत्र तथा 'बघारी' अभिलेख की भूमिका में मदनवर्मा और परमार्दिदेव के मध्य यशोवर्मन का नाम होने से यह राज्याधिरोहण सम्बन्धी विवाद और अधिक परिपुष्ट हो जाता है, इतना ही नहीं, इस अभिलेख में उसे मदनवर्मन का पुत्र और परमार्दिदेव का पिता बताया गया है, किन्तु यशोवर्मन के शासनकाल का उल्लेख मिलता है, इन्होंने कि अल्पकाल तक शासन किया था।³

आभिलेखिक प्रमाण-

इन परस्पर विरुद्ध प्रमाणों से प्रतीत होता है, कि मदनवर्मन के ज्येष्ठ पुत्र प्रतापवर्मन की मृत्यु के पश्चात् उनका द्वितीय पुत्र यशोवर्मन उत्तराधिकारी हुआ। राजकुमार के रूप में ही उसने अतिशय ख्याति अर्जित कर ली और उसे एक प्रान्त का युवराज (उपासक) बनाया गया। मदनवर्मा दीर्घकाल तक जीवित रहे और उनके सम्मुख ही उनके पुत्र की अल्पायु में मृत्यु हो गयी।⁴ मदनवर्मा के पश्चात् परमार्दिदेव का बाल्यावस्था में ही राज्याभिषेक हुआ। 'परमाल रासों' के अनुसार परमार्दिदेव न पाँच वर्षीय अल्पायु में सिंहासनाधिरूढ़ हुआ।⁵ परमाल रासों के इस कथन की पुष्टि 'अजयगढ़ अभिलेख' 'बालोऽपिनेता' कहकर परिपुष्ट कालिंजर अभिलेख (बांदा उत्तर प्रदेश) करता है कि परमार्दिदेव का राज्याधिरोहण अशान्तिमय था उसने अपने पिता को पदच्युत कर उनसे राज्यापहरण किया।⁶ 'अजयगढ़ अभिलेख' के अनुसार सार्वभौम सम्प्रभुता की भाग्यदेवी ने अपने आप उसका वरण किया था, आभिलेखिक प्रमाणों के आधार पर हम परमार्दिदेव के शासनकाल की अवधि लगभग 35-40 वर्ष तक मान सकते हैं। परमार्दिदेव के पितामह श्रीमदनवर्मन् का अन्तिम अभिलेख 'महोबा जैनमूर्ति (इमेज) अभिलेख' पर 1163 ई. अंकित है। परमार्दिदेव का अन्तिम अभिलेख, 'कालिंजर-अभिलेख'-1258 वि.सं. (1201 ई.) है, ताज-उल मासिर 599 हिजरी (1202-1203 ई.) और उसके उत्तराधिकारी त्रैलोक्यवर्मदेव के प्रथम अभिलेख, 'गरा दानपात्र', पर अंकित 1204 ई. है। परमार्दिदेव के शासनकाल का आरम्भ 1163 ई. और अन्त 1204 ई. में होता है, लगभग 40 वर्ष की दीर्घावधि तक शासन किया। कतिपय विद्वानों के अनुसार अल्पायु में सिंहासनाधिरूढ़ होने के कारण उसे प्रबल विरोधियों का सामना भी करना पड़ा। 'अजयगढ़-अभिलेख' में भी 'रिपुवीरहन्ता' पद से इस तथ्य की ओर संकेत मिलता है। इस प्रकार हम परमार्दिदेव के सुदीर्घ शासनकाल को तीन भागों में विभक्तकर अध्ययन कर सकते हैं-

1. प्रारम्भिक जीवन एवं सिंहासनाधिरोहण
2. दिल्ली और अजमेर के चाहमानों (चैहानों) से संघर्ष
3. 1202 ई. में कुतुबुद्दीन ऐबक आदि मुस्लिमों के साथ संघर्ष⁸

कुशल योद्धा-

परमार्दिदेव की वीरता की गाथा, जितनी जनश्रुतियों एवं मुगल इतिहासकारों की लेखनी में मुखरित हुई उतनी चंदेल अभिलेखों में नहीं। चन्देल अभिलेख उसकी राजनैतिक घटनाओं के प्रति प्रायः मूक हैं। पृथ्वीराज और परमर्दी के युद्ध का संकेत चन्देल-अभिलेखों में नहीं मिलता क्योंकि वे इस पराजय को छिपाना चाहते थे। 'पृथ्वीराज रासो' परमार्दिदेव और पृथ्वीराज चैहान की अनवरत शत्रुता का वर्णन करते हैं।⁷ इस प्रकार का उल्लेख 'परमाल रासो'⁸ तथा 'आल्हारासो' (खण्ड)⁹ में भी मिलते हैं, जिनमें परमार्दिदेव (परमाल) तथा पृथ्वीराज चाहमान (चैहान) के भयंकर युद्ध का वर्णन है। इस युद्ध में परमार्दिदेव के दो वीर आल्हा और ऊदल ने पृथ्वीराज चौहान के छक्के छुड़ा दिये थे, किन्तु दुर्भाग्यवश वे वीरगति को प्राप्त हो गये।¹⁰ पृथ्वीराज के मदनपुर के दो पाषाण अभिलेखों के अनुसार 1182-83 में परमार्दिदेव को पृथ्वीराज के हाथों पराजय का

मुँह देखना पड़ा और 'जेजाक भुक्ति' पर पृथ्वीराज ने अधिकार कर लिया।¹¹ किन्तु चाहमान (चैहान) अधिक दिनों तक जेजाक भुक्ति पर अपना अधिकार बनाये नहीं रख सके। कालिंजर एवं महोबा क अभिलेखों से अभिप्रमाणित होता है कि संवत् 1240 (1182 ई.) में इन स्थानों पर परमार्दिदेव या परमाल का अधिकार था। भारत कलाभवन-‘ताम्रपत्र’ (1239 विक्रमी) से प्रतीत होता है कि उसने पृथ्वीराज-द्वारा विजित प्रदेशों पर अधिकार कर लिया, क्योंकि इसमें उसे ‘दशार्ण आदिनाथ’ कहा गया है।¹² चन्देलों और चाहमानों (चैहान) के संघर्ष की संस्तुति ‘शारंगधरा- पद्धति’¹³ तथा ‘प्रबन्धचिन्तामणि’¹⁴ से भी होती है। परमार्दिदेव और पृथ्वीराज तृतीय के युद्ध में अपने मित्र परमार्दिदेव की सहायता जयचन्द ने की थी। डॉ. वी.एस. पाठक के अनुसार जयचन्द्र के राजसूययज्ञ में सम्मिलित होने के लिए परमर्दी ने गढ़वाल-राजधानी जाते समय वाराणसी यात्रा की।¹⁵ पृथ्वीराज चैहान तृतीय (चाहमान) तथा परमार्दिदेव (चन्देल) की पारस्परिक शत्रुता एवं संघर्ष ने भारत की राष्ट्रीय अखण्डता को समाप्त कर दिया, क्योंकि पृथ्वीराज जैसे दुर्धर्षवीर के साथ लोहा लेने के पश्चात् उसकी शक्ति पूर्णतया क्षीण हो गई और कुतुबुद्दीन ऐबक तथा सुल्तान महमूद-प्रभृति मुगलों का डटकर मुकाबला करने में वह असमर्थ रहे और अल्प प्रयास से मुगलों ने हिन्दू-राष्ट्रों को समाप्तकर मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना करने में अद्भुत सफलता प्राप्त कर ली।¹⁶ यदि पृथ्वीराज और परमार्दिदेव सम्मिलित रूप से न सही, बिना परस्पर लड़े पृथक् रूप से भी पूरी शक्ति से लड़ते तो गोरीवंश के हाथों चाहमानों (चैहान)की पराजय न हुई होती। 1240 विक्रमसंवत् (1183 ई.) के महोबा अभिलेख से ज्ञात होता है कि परमार्दिदेव ने समकालीन चेदि नरेश पर विजय प्राप्त की थी, अभिलेखीय प्रमाणों के अनुसार उनके सैनिकों के वीरतापूर्ण गीतों को सुनते ही त्रिपुरी पति के छक्के छूट गये और उनका साहस उड़ गया। इतना ही नहीं कलचुरी पति परमार्दिदेव का गुणगान करने लगे। डॉ. दीक्षित ने इस त्रिपुरीपति का साम्य जयसिंह (1163- 1188 ई.) से किया है। इसी अभिलेख से यह भी विदित होता है कि परमर्दिदेव ने ‘अंग, बंग तथा कलिंग’ तक दिग्विजयाभियान किया था कि परमार्दिदेव ने कलचुरियों पर विजय करने के पश्चात् दिग्विजय अभियान चलाया। सम्भवतः पृथ्वीराज चाहमान (चैहान) तृतीय की सीमा तक चन्देलसेना दिग्विजय करने गयी रही होगी, जहाँ उसका पाला परमवीर पृथ्वीराज तृतीय से पड़ा और उन्हें चाहमानों के सम्मुख मुँह की खानी पड़ी। मेरी दृष्टि में चाहमान-चन्देल संघर्ष में चन्देल ही आक्रामक या दिग्विजय अभियानकर्ता रहे होंगे। ‘महोबा-अभिलेख’ के समर्थन में अन्य प्रमाणों के अभाव का अनुभव किया है किन्तु चन्देलों की त्रिपुरियों पर विजय का उत्कृष्ट प्रमाण वत्सराज का त्रिपुरदाह-डिम ही है जो स्पष्टतया कलचुरियों की पराजय और चन्देलों- द्वारा विजित कलचुरिराजधानी ‘त्रिपुरी’ के दाह (जलवा डालने) का संकेत करता है, कि जीतने के बाद चन्देलों में ‘कलचुरी राजधानी’ को भस्मीभूत कर दिया था। ‘त्रिपुरदाह’-नामकरण वत्सराज का लाक्षणिक प्रयोग है, जिसमें- ‘त्रिपुर’- त्रिपुरी का पर्याय है।¹⁷ अतः मैं डॉ. दीक्षित की विचार एवं अनुसन्धान-धारा में यह श्रृंखला उन्हें मरणोपरान्त गुरु दक्षिणा स्वरूप अर्पित करता हूँ।

इधर परमार्दिदेव अत्यन्त अभाग्यशाली सिद्ध हुआ। पृथ्वीराज के पराजय की घाव अभी पूरी तरह भर भी नहीं पाया था कि ‘ताज-उल-मथिर’ के अनुसार साहिब किशन, शमसुद्दीन अल्तमश तथा अन्य मुस्लिम-आक्रान्ताओं के साथ कुतुबुद्दीन ऐबक ने भी धर दबोचा। हिजरी-599 (1202 ई.) में उसे कई दिनों के संघर्षोपर्यन्त कालिंजर के किले में मुगलों से पूर्णतया घिर जाने पर खाद्य और यहाँ तक कि जल के अभाव में आत्मसमर्पण के लिए विवश होना पड़ा।¹⁸ हसन निजामी के अनुसार जब वह आत्म-समर्पण के साथ हाथियों-आदि की भेंट करने की तैयारी कर रहा था तभी उसकी स्वाभाविक मृत्यु हो गई और ‘दीवान अथवा राजकीय बही खाता’ अजदेव ने पुनः सैनिकों को संगठित करके वीरता एवं साहस के साथ शत्रुभूत मुसलमानों को बहुत पीड़ा पहुँचाया।¹⁹ फरिश्ता के अनुसार जब परमार्दिदेव कुतुबुद्दीन ऐबक को हाथी-आदि की भेंट देने की तैयारी कर गया था तभी उसके मन्त्री अजदेव ने विद्रोह कर दिया और जब परमार्दिदेव ने अजदेव की बात नहीं मानी तो उसने परमार्दिदेव की हत्या कर दी²⁰ तथा स्वयं युद्ध का संचालन करता रहा, किन्तु मुस्लिम-शक्ति के सम्मुख खाद्य एवं जलाभाववश उसे भी घुटने टेकने को मजबूर होना पड़ा। इस प्रकार अब कालिंजर का किला मुसलमानों के हाथ लगा। मुसलमानों ने हिन्दू-मन्दिरों को तोड़वाकर मस्जिदों में परिवर्तित करा दिया और हिन्दुओं को तलवार के बल पर मुसलमान बनाया। पचास हजार हिन्दूदास बनाये गये। निजामी के शब्दों में ‘मूर्तिपूजा का नामोनिशा’ मिट गया। इन मुस्लिम-आक्रान्ताओं ने किलों को लूट-लूट कर विध्वस्त कर हाजी वदरुद्दीन हसन अजमल को अपना प्रशासक (गवर्नर) नियुक्त किया। इस प्रकार विश्व में सिकन्दर की दीवाल की भाँति सुदृढता के लिए विख्यात कालिंजर का किला सोमवार 7 अप्रैल 1203 को हिन्दू-गौरव की कहानी को

छोड़कर मुसलमानों की आरती उतारने लगा।²⁷ डॉ. राय चैधरी के अनुसार दोनों मुस्लिम इतिहासकार (हसन निजामी और फरिश्ता) परमादिदेव के परवर्ती हैं और अजदेव-द्वारा विरोध स्वरूप विष-प्रदान करने की घटना इनकी कोरी कल्पना है। परमादिदेव के स्वाभाविक मृत्यु की परिचर्चा ताजुल-ए-अतहर²¹ में किया गया। 'पृथ्वीराजरासों' के अनुसार पृथ्वीराज-द्वारा पराजित हो जाने पर परमादिदेव बोधगया (बिहार) चला गया जहाँ उसकी मृत्यु हो गयी²², किन्तु रासों की यह घटना भी कपोलकल्पित है कि चन्देल-नरेश मुसलमानों-द्वारा किले में ही बन्दी बना दिया गया था और चारों ओर से मुसलमानों द्वारा नाकेबन्दी कर खाद्य तथा जल-आपूर्ति को भी रोक दिया जिससे भोजन और पानी के अभाव में परमादिदेव की दुःखद मृत्यु हुई।

कुशल प्रशासक-

परमादिदेव कुशल योद्धा के साथ-साथ एक उत्कृष्ट प्रशासक भी रहे, उन्होंने अनेक प्रतिभाओं का चयन करके उन्हें विभिन्न पदों पर प्रतिष्ठित किया था। वधारी अभिलेख के अनुसार वशिष्ठगोत्रीय ब्राह्मण 'संलक्षण' उनका प्रधान अमात्य था, जिसके कंधे पर उसने सम्पूर्ण प्रशासन के भार आरोपितकर उसके बल पर ही वह पृथ्वी का स्वामी बन बैठा था। संलक्षण ने ही विष्णु तथा शिव-मन्दिरों का निर्माण कराया था और उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र 'पुरुषोत्तम' को परमादिदेव में प्रधानामात्य पद पर उत्तराधिकारीस्वरूप नियुक्त किया था।²³ 'गदाधर' उसका 'सन्धान-विग्रह-महसचिव' था।²⁴ भोजवर्मन के समय अजयगढ़ अभिलेख का कायस्थ 'गंगाधर' को उनका कांचुकी बताते हैं इस प्रकार गंगाधर और उसके भाई जमुनाधर ने कुतुबुद्दीन ऐबक के विरुद्ध युद्ध किया था, न्याय अभिलेख एवं स्रोत से 'महिपाल' नामक अधिकारी की परिचर्चा होती है, इसके अतिरिक्त कल्हण सेनापति के पुत्र, दो ब्राह्मण सेनापतियों 'मदनलाल' और 'अजयपाल' का उल्लेख मिलता है। जनश्रुतियों तथा 'मदनपुर' अभिलेख (1235 विक्रमी) से उसके दो परमवीर सैनिक आल्हा और ऊदल का नाम ज्ञात होता है, जिसमें बनाफर सहोदर थे। मुस्लिम इतिहासकारों ने अजदेव (अजयदेव) दीवान या महतिया का उल्लेख किया है, इसी ने सम्भवतः कुतुबुद्दीन के सम्मुख आत्म-समर्पण करते समय परमादिदेव का विरोध किया था। 'रूपक षट्कम्' तथा 1317 विक्रमी के वीरवर्मन के 'अजयगढ़ अभिलेख' से ज्ञात है कि वत्सराज भी परमादिदेव के आश्रित कवि (राजकवि) तथा अमात्य थे।²⁵ हिन्दू-साम्राज्य एवं संस्कृति के संरक्षक परमवीर महाराजाधिराज कालिंजराधिपति श्री परमादिदेव की पराजय में मुस्लिम-साम्राज्य के स्थापना की सम्भावनाएँ बढ़ने लगीं और विखण्डित हिन्दू-राजाओं को जीतने का मार्ग खुल गया।

साहित्य का पोषक एवं संवर्धक-

साहित्यिक तथा आभिलेखिक प्रमाणों से सुविदित होता है, कि परमादिदेव जहाँ एक वीर योद्धा एवं कुशल प्रशासक थे, वहीं उसने कला तथा साहित्य के विकास तथा संवर्धन में भी अद्भुत योगदान दिया। यह केवल कवियों एवं साहित्यकारों का आश्रयदाता ही नहीं था, प्रत्युत् एक उत्कृष्ट कवि 'किंवा 'सरस्वती का अवतार' था।²⁶ वह निस्सीम विद्या-निधि तथा परमदानी था। उसके साम्राज्य में कहीं भी अशान्ति, परस्पर संघर्ष एवं कलह का वातावरण नहीं था। सरस्वती और लक्ष्मी का सापन्त्य-वैर समाप्त हो गया था।²⁷ वत्सराज उसके आश्रित कवियों एवं विद्वानों में सर्वोत्कृष्ट था, जिसने छः रूपकों का प्रणयन किया था और 'किरातार्जुनीयं' को छोड़कर उसने शेष पाँचों रूपक 'नीलकण्ठयात्रा महोत्सव' और 'चक्रधर स्वामी यात्रा' के अवसर पर परमादिदेव के आदेश और सामाजिकों के आग्रह पर अभिनीत हुए थे,²⁸ जो प्रशस्य विद्वान् एवं कवि थे। उसका 'संधान-विग्रह-महासचिव-गदाधर' जिसे 'कविचक्रवर्ती' के नाम से विभूषित किया जाता था।²⁹ 'आल्हा खण्ड' के प्रसिद्ध प्रणेता 'जगनिक' इन्हीं 'परमादिदेव' की राजसभा के कवि थे।³⁰ जैन महाकाव्य 'धन्यकुमारचरित' के कर्ता गुणभद्र मुनिसिद्धान्ती इनके समकालिक कवि थे। यह ग्रन्थसिद्धान्ती द्वारा परमद्रुदी के विषयक विलासपुर जैनालय में प्रवासकाल के दौरान लिखा गया। राजा परमादिदेव किससे पूजित नहीं हुआ³¹ असमान वीरों वाली पृथ्वी पर वह देवता के समान था और वात्सल्य के रहस्य में यह मेरा था। वह शौर्य में जितना आगे था, उतना ही सौन्दर्यशाली भी था। उसकी शैय्या पर जाने वाली सैकड़ों कामिनियाँ तथा उसके पैरों पर पड़ने वाले सैकड़ों शत्रु अस्वीकृत कर दिये जाते थे।³²

उदारता एवं दानवीरता-

परमार्दिदेव की उदारता और लोकप्रियता के विषय में प्रश्नचिन्ह लगाना उसके साथ अत्याचार ही नहीं, प्रत्युत अनेक अभिलेखों, दान-पत्रों और जनश्रुतियों का तिरष्कार होगा, क्योंकि परमार्दिदेव की वीरता और उदारता की गाथा आल्हा के रूप में जन-जन की कण्ठाहार बनी हुई है, उसकी अतिशय दानवीरता को देखकर विष्णु चिन्तामणि का हृदय रो पड़ा था।³³ ‘प्रबन्ध चिन्तामणि’ के अनुसार परमार्दिदेव ने बहुत विलासी और सुखी जीवनयापित किया था। यद्यपि परमार्दिदेव सिद्धांतः शैव थे, तथापि उनमें कहीं भी धार्मिक सङ्कीर्णता या असहिष्णुता नहीं थी, क्योंकि उनके मुख्यामात्य सल्लक्षण विष्णु-मन्दिर, अनाथालयों, विद्यामंदिरों का निर्माण कराया था। ब्राह्मण को ग्रामदान करने के बाद भी उसने बौद्धमठ के अधिकारों को सुरक्षित रखा। जैनों को भी उन्होंने पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान कर रखी थीं विलासपुर स्थित जैनालय के प्रवासकाल में स्वतन्त्रता पूर्वक गुणभद्रमुनि सिद्धान्ती ने ‘धन्य कुमार चरित’ का प्रणयन किया था। यद्यपि ‘पृथ्वीराजरसो’³⁴, ‘शारङ्गाधरपद्धति’ तथा ‘प्रबन्ध-चिन्तामणि’³⁵ उसे भीरु कहते हैं; अन्याय स्रोतों में उसे ‘वैधव्य-दान-दीक्षा-गुरु’ तथा ‘शृङ्गारव्रताचार्य’ कहा गया है। मेरी दृष्टि में मुख्यामात्य ‘सल्लक्षण’ पर उसकी प्रशासनिक-निर्भरता तथा विलासिता ने ही उसे भीरु की उपाधि प्रदान की तथा पृथ्वीराज और कुतुबुद्दीन ऐबक के हाथों पराजय मिली; अन्यथा उसमें शौर्य और पराक्रम की न्यूनता नहीं थी, उसकी विजय असन्दिग्ध थी, क्योंकि उसके उत्तराधिकारी पुत्र त्रैलोक्यवर्मन ने शीघ्र ही पुनः शत्रुओं से अधिकृत राज्य को छीनकर चन्देल-साम्राज्य का पुनर्गठन किया था। सार्वजनिक निर्माण की दृष्टि से भी उसने बुन्देलखण्ड पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है। अजयगढ़ स्थिति ‘परमाल-सरोवर’, ‘महोबा-महल’ (किले की पहाड़ी पर स्थित और बाद में मस्जिद में परिवर्तित) और ‘कालिंजर द्वार’ उसके भव्य स्मारक हैं। परमार्दिदेव ने येन केन प्रकारेण पृथ्वीराज चैहानरूपी आँधी को तो सहन कर लिया, किन्तु उसी कैप-कैपी में उसे मुस्लिम-आक्रमण (कुतुबुद्दीन ऐबक के आक्रमण)-रूपी तूफान के सम्मुख घुटने टेकने के लिए विवश होना पड़ा।

कालिंजर अभिलेख उसे ‘दशार्णाधिनाथ’ के नाम से विभूषित करता है जबकि अन्य स्रोतों में उसे ‘परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर तथा कालंजराधिपति’³⁶ कहा गया है जो चन्देलवंश के अन्तिम शासकों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। बुन्देलखण्डी लोकगीत और आल्हा-आदि में नित्य गीयमान परमार्दिदेव की प्रशस्तियाँ चिरकाल तक लोक में अनुगुंजित होती रहेंगी। प्रकृष्ट वीर, कुशल प्रशासक, प्रत्युत्पन्नमति नेता, कवि, विद्वान्, धर्म-सहिष्णु तथा कला-साहित्य के संरक्षक के रूप में उसमें योग्यता और क्षमता का अभाव नहीं था। प्रत्युत वह अभाग्यशाली था, जिससे उसे येन-केन प्रकारेण केवल पूर्वजों से प्राप्त साम्राज्य की सुरक्षा में ही सफलता मिली जीवन के अन्त में तो पृथ्वीराज तथा कुतुबुद्दीन ऐबक के हाथों पराजित होकर साम्राज्य की रक्षा में भी विफल हुआ। विजित राज्य को शत्रुओं से पुनः जीतकर उसके सुयोग्य उत्तराधिकारी पुत्र ने उसकी त्रुटियों का परिहार कर दिया। “वह चन्देलवंश का अन्तिम एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नरेश था” उसके शासनकाल में चन्देल शक्ति उत्कर्ष को पहुँच गयी थी। परमार्दिदेव के चरित्र की सर्वाधिक उत्कृष्ट विशेषता उसकी दानवीरता, उदारता तथा कला-साहित्य की संरक्षा थी। कविवर अमात्य वत्सराज द्वारा उदारता की दृष्टि से उसकी समुद्र से तुलना अत्यन्त सुघर एवं समीचीनप्रतीत होती है।³⁷ निरन्तर दान से वह पृथ्वी के प्रति निर्वेद हो गया और बार-बार भूदान से उसे निरतिशय आनन्द मिलता था-

“अनारता ज्ञान परम्परा निर्वेद आयाति कदाचिदुर्वी।

विभर्ति तत्पूर्वमिव प्रहर्ष मुहुः प्रदानैः परमद्रदिराजः।।³⁷”

(अश्वघोष रचित सौंदरनन्दम्)

इतना ही नहीं, युद्धवीर के रूप में भी परमार्दिदेव चिरस्मरणीय रहेगा, उसकी वीरता का इससे उत्कृष्ट प्रमाण और क्या हो सकता है, कि चन्देल राजमहिषी मल्हनादेवी ने चाहमान (चैहान) नरेश पृथ्वीराज चैहान तृतीय से डंके की चोट पर कहा कि आपकी तो बात ही क्या भगवान् चतुर्भुज विष्णु भी बिना युद्ध और सर्वनाश महोबा का तिनका भी नहीं पा सकते-

“विना युद्धं महीपाल न च सर्वक्षयं विना।
तृणमात्रम् महीपाल न प्राप्नोति सुयोधनः।।

(महाभारत)

निष्कर्षः

समवकार वत्सराज की महत्वपूर्ण नाट्यशास्त्रीय कृति है। संस्कृति साहित्य रूपी नाटक में प्रेम, राजनीति एवं धर्म के विभिन्न पहलुओं की विवेचना है जो अध्येयता को बलात् अपनी ओर आकर्षित करता है। नाटक की प्रस्तावना में नाटककार ने नाटक के उद्देश्य, कथानक एवं पात्रों का परिचय दिया है। समवकार रूपकों के संदर्भ में वत्सराज जैसा कोई ग्रन्थ नहीं है। इसकी जितनी प्रशंसा की जाय वह कमतर ही प्रतीत होती है।

संदर्भ:-

1. रूपक षट्कम्. पृ. 23.
2. Dikshit, R. K. *Candellas of Jajakabhukti*. p. 139.
3. Mishra, Sisir Kumar. *The Early Rulers of Khajuraho*. p. 118.
4. Dikshit, R. K. *Candellas of Jajakabhukti*. p. 140.
5. परमालरासो. पृ. 28, श्लोक 102.
6. *Dynastic History of Northern India*. p. 713.
7. श्यामसुन्दरदास एवं मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या. (1913). *पृथ्वीराजरासो* (अध्याय 19).
8. श्यामसुन्दरदास. (1920). *परमालरासो: महोबा खण्ड*.
9. जगनिक राव. *आल्हाखण्ड (रासो)*.
10. मिश्र, शिशिर कुमार. *द अर्ली रूलर्स ऑफ खजुराहो*. पृ. 118-120.
11. मिश्र, शिशिर कुमार. *द अर्ली रूलर्स ऑफ खजुराहो*. पृ. 121.
12. दीक्षित, आर. के. *चन्देलाज ऑफ जेजाकभुक्ति*. पृ. 145.
13. शाङ्खर्गपद्धति. श्लोक 56 एवं 12.
14. प्रबन्धचिन्तामणिः. भारतीय विद्याभवन, बम्बई. पृ. 191.
15. दीक्षित, रामकुमार. *चन्देलाज ऑफ जेजाकभुक्ति*. पृ. 146-147.
16. वैद्य, सी. वी. *हिस्ट्री ऑफ मेडीवल हिन्दू इण्डिया* (खंड 14). पृ. 183.
17. रूपक षट्कम्. पृ. 75-117.
18. इलियट. खंड 11. पृ. 231-232.
19. मिश्रा, एस. के. *द अर्ली रूलर्स ऑफ खजुराहो*. पृ. 118-134.
20. वही. (Ibid.)

21. शुक्ल, लक्ष्मणनारायण. रूपकार वत्सराज. पृ. 62.
22. The Journal of Asiatic Society, Bengal. (1881). खंड I. p. 29.
23. Dikshit, R. K. *Candellas of Jajakabhukti*. p. 149.
24. Epigraphica Indica. pp. 213-214, श्लोक 22-30.
25. Archaeological Survey of India, Annual Reports. (1935-36). p. 91.
26. रूपक षट्कम्. पृ. 23, 118 एवं 148.
27. रूपक षट्कम्. पृ. 45.
28. दीक्षित, आर. के. चन्देलाज ऑफ जेजाकभुक्ति. पृ. 151.
29. वही. (Ibid.)
30. शास्त्रिणम् कृतराज्ये रासौ श्री परमादिदेवः. मूल श्लोक उद्धरण.
31. शुक्ल, लक्ष्मणनारायण. रूपकार वत्सराज. पृ. 64.
32. चन्देल और उनका राजत्वकाल. पृ. 127.
33. श्यामसुन्दरदास. पृथ्वीराजरासो. पृ. 2588, 2561.
34. चन्देल और उनका राजत्वकाल. पृ. 127.
35. रूपक षट्कम्. पृ. 23.
36. रूपक षट्कम्. पृ. 150.
37. त्रिपुरदाह. 1/4.

WEALTH QUINTILE DIFFERENTIALS IN WOMEN'S AGE AT MARRIAGE IN BIHAR

BABLI KUMARI*

Abstract

Child marriage remains a critical public health and human rights concern in India, despite longstanding legislative prohibitions. Bihar, one of the country's most socio-economically disadvantaged states, consistently reports the highest prevalence of child marriage among females. While poverty is often cited as a primary driver, the relationship between household wealth quintiles and female age at marriage has not been systematically examined within Bihar's unique socio-cultural context.

This study analyzes data from the National Family Health Survey (NFHS-5, 2019–21) to investigate differentials in female age at marriage across wealth quintiles in Bihar. A cross-sectional sample of 19,452 ever-married women aged 20–24 years was examined. Household wealth quintiles (lowest, second, middle, fourth, highest) were derived from asset indices. Mean age at marriage and prevalence of child marriage (<18 years) were calculated for each quintile, with bivariate and multivariate logistic regression adjusting for caste, religion, education, and urban–rural residence.

Findings reveal a strong monotonic gradient: mean age at marriage increased steadily from 15.8 years in the lowest quintile to 21.4 years in the highest quintile. Child marriage prevalence was 68.4% in the poorest quintile compared to 12.7% in the richest ($p < 0.001$). Wealth retained an independent effect after controlling for covariates (AOR for highest vs. lowest quintile: 0.14, 95% CI: 0.11–0.18), with significant interaction between wealth and education.

In Bihar, wealth quintile is a powerful determinant of female age at marriage, with the poorest girls marrying nearly six years earlier than the richest. Policies must move beyond uniform legal bans to address economic vulnerabilities, with incentive-based interventions targeted at the lowest quintiles.

Keywords: *Child marriage, wealth quintile, Bihar, female age at marriage, NFHS-5, socio-economic inequality.*

Introduction

Bihar, a state in eastern India with a population of over 120 million, ranks among the lowest in human development indicators. According to the National Family Health Survey-5 (2019–21), 40.8% of women aged 20–24 in Bihar were married before the legal age of 18 years—almost double the national average of 23.3%. This problem is not evenly distributed across the population; large differences exist by caste, education, geography, and especially household wealth.

* **Research Scholar, Department of Sociology, Patna University, Patna, Bihar**

The age at which a woman marries is a key demographic indicator with serious consequences. Early marriage (before 18) is linked to higher fertility, lower contraceptive use, increased maternal and infant mortality, and interrupted education. For girls, marriage often ends schooling and begins a cycle of poverty and poor health that can continue across generations.

Poverty is often seen as the main reason for child marriage—families marry daughters early to reduce financial burden, secure bride price, or transfer responsibility. Yet wealth alone does not explain all differences. Social norms, dowry practices, and kinship structures also play important roles. Bihar is a critical case because it is both economically disadvantaged (33% of the population lives below the poverty line) and deeply patriarchal, with female literacy at 59% compared to the national average of 71%.

Using wealth quintiles—dividing households into five equal groups from poorest to richest—helps to see whether age at marriage improves step by step with higher wealth, or only in extreme poverty or extreme wealth. This distinction is important for policy: if only the poorest quintile marries early, programs can focus on cash transfers; but if the gradient is continuous, broader economic upliftment is needed.

This study therefore asks: what are the differences in female age at marriage across wealth quintiles in Bihar, and what independent role does household wealth play after accounting for education and other social factors?

Literature Review

Global Evidence on Wealth and Age at Marriage Studies worldwide show a clear link between household wealth and the age at which girls marry. In sub-Saharan Africa, girls from the poorest households often marry 3–5 years earlier than those from the richest (ICRW, 2020). In Bangladesh, Amin et al. (2017) found that each increase in household wealth reduced the chance of child marriage by 28%. In contrast, in high-income countries such as Sweden or Japan, wealth differences in marriage timing are minimal. This suggests that the wealth effect is strongest in societies where marriage involves economic transactions such as dowry or bride price.

Indian Evidence from NFHS Studies Indian surveys also show this pattern. Using NFHS-4 (2015–16), Singh and Vennam (2019) reported that 35% of women in the lowest wealth quintile married before 18, compared to only 12% in the highest quintile. Paul (2021), using NFHS-5 preliminary data, noted that child marriage among the poorest rural girls in Bihar was 71%. More recent NFHS-5 based analyses confirm this gradient: the *NFHS-5 Bihar Analytical Report (2022)* found that 54% of girls from the lowest quintile married before 18 compared to only 9% in the highest quintile. Similarly, the *Child Marriage Free India Campaign Report (2023)* documented that Bihar accounted for the largest share of prevented child marriages nationwide, highlighting the continuing importance of wealth and poverty in shaping marriage practices.

A key gap in the literature is whether wealth operates in a linear way (step by step across quintiles) or only in extreme poverty. This study addresses that gap using Bihar-specific NFHS-5 data.

Caste and Wealth Intersectionality Caste also shapes marriage practices in Bihar. Upper-caste families often practiced *kanyadaan* (gift of a virgin daughter) and dowry, which sometimes delayed marriage until dowry was arranged. Lower-caste families, especially Scheduled Castes and

Scheduled Tribes, often practiced bride price, which could encourage earlier marriage. Thorat and Sabharwal (2015) found that SC/ST households in Bihar tend to have both lower wealth and younger marriage ages, making caste and wealth closely connected. This study controls for caste to isolate the independent effect of wealth.

Theoretical Perspectives Several frameworks explain why wealth matters:

- Economic Rational Choice Theory (Becker, 1981): Poor families marry daughters early to reduce costs, while wealthier families can afford to delay marriage and invest in education.
- Social Norms Theory (Mackie, 1996): Child marriage continues because families expect others to do the same. Wealth can disrupt these norms by signaling status through later marriage.
- Dowry Inflation Hypothesis (Rao, 1993): In Bihar, dowry amounts rise with groom's age and education. Poor families marry daughters early to avoid high dowry costs, while wealthier families delay marriage to accumulate resources.

Policy Evaluations Recent evaluations of Bihar's schemes, such as the *Mukhyamantri Kanya Vivah Yojana* and *Ladli Yojana*, show mixed results. A 2023 policy analysis (GNLU Journal of Law & Economics) found that while cash transfers encouraged families to delay marriage, social norms and dowry pressures often limited their effectiveness. This highlights the need for combining economic incentives with education and awareness campaigns.

Objectives of the Study

- Estimate the average age at marriage among women aged 20–24 years in Bihar across five wealth quintiles (lowest, second, middle, fourth, highest).
- Calculate the percentage of women married before the legal age of 18 years within each wealth quintile.
- Examine whether the wealth–age relationship is linear (gradual increase across quintiles) or threshold-based (only extreme poverty or extreme wealth matters).
- Assess the independent effect of wealth quintile on early marriage after controlling for education, caste, religion, urban/rural residence, and husband's education.
- Identify interaction effects, specifically whether wealth strengthens or weakens the relationship between female education and age at marriage.
- Provide evidence-based recommendations for interventions in Bihar, clarifying whether universal anti-poverty programs or quintile-specific strategies are more effective.

Hypotheses

- H0 (Null Hypothesis): There is no significant association between household wealth quintile and female age at marriage in Bihar. Any observed differences are due to chance or confounding factors such as education and caste.

- H1 (Alternative Hypothesis): Female age at marriage increases steadily with higher wealth quintile, with women in the richest quintile marrying significantly later than those in poorer quintiles.
- H2 (Sub-hypothesis): The effect of wealth is partly explained by female education, but wealth continues to have a direct independent influence even after controlling for education.
- H3 (Interaction Hypothesis): The protective effect of wealth against child marriage is stronger for girls with secondary education than for girls with no education, showing a combined effect of wealth and schooling.

Direction of Test: One-tailed for monotonic trend; two-tailed for point comparisons. Significance Level: $\alpha = 0.05$.

Methodology

Data Source, This study uses data from the *National Family Health Survey-5 (NFHS-5, 2019–21)*, conducted by the International Institute for Population Sciences (IIPS) and the Ministry of Health and Family Welfare, Government of India. NFHS-5 provides nationally representative information on health, nutrition, and family welfare.

Study Population and Sample Selection

Inclusion Criteria

- Women aged 20–24 years at the time of survey (this ensures most had the opportunity to marry by age 18; using 25–49 years would introduce recall bias).
- Ever-married women (including currently married, divorced, widowed, or separated).
- Usual residents of Bihar.

Exclusion Criteria

- Never-married women ($n = 12,103$) were excluded because age at marriage is not applicable.
- Women reported as married before age 10 ($n = 87$) were excluded, as these are likely data errors or exceptional cases.
- Women with missing data on wealth index or age at marriage ($n = 342$) were excluded.

Final Analytical Sample After applying these criteria, the final analytical sample consisted of 19,452 women.

Variables

Dependent Variable (Outcome)

- *Age at marriage (years)*: Measured as age in completed years at first marriage, derived from the NFHS-5 question: “How old were you when you started living with your first husband?”
- For analysis, this was used in two forms:

- o Continuous: Mean age at marriage (in years).
- o Binary: Child marriage (coded as 1 if married before 18 years, and 0 if married at 18 years or later).

Independent Variable (Primary Exposure)

- *Household wealth quintile*: Constructed by NFHS-5 using principal component analysis of 33 household assets (e.g., television, bicycle, toilet type, flooring material, bank account).
- Households were assigned a continuous score and then divided into five equal-sized quintiles for Bihar: Lowest (poorest 20%), Second, Middle, Fourth, and Highest (richest 20%).
- Treated as an ordinal categorical variable in analysis.

Covariates (Confounders)

- *Woman's education*: None, Primary (1–8 years), Secondary (9–12 years), Higher (≥ 13 years).
- *Caste*: Scheduled Caste (SC), Scheduled Tribe (ST), Other Backward Class (OBC), General/None.
- *Religion*: Hindu, Muslim, Other.
- *Place of residence*: Urban, Rural.
- *Husband's education (for married women)*: Same categories as woman's education.

Analytical Strategy

All analyses used the survey weights provided by NFHS-5 to account for the complex sampling design and unequal selection probabilities. Analyses were conducted in Stata 17.0 using the *svy* prefix.

Step 1 – Descriptive Statistics

- Computed weighted means and percentages of age at marriage by wealth quintile.
- Tested for linear trend using the adjusted Wald test.

Step 2 – Bivariate Analysis

- For the binary outcome (child marriage yes/no), calculated prevalence ratios and odds ratios for wealth quintiles, using the lowest quintile as the reference group.
- Applied chi-square tests for independence.

Step 3 – Multivariate Logistic Regression

- *Model 1 (unadjusted)*: Wealth quintile only.
- *Model 2*: Added woman's education.
- *Model 3*: Added caste, religion, and place of residence.
- *Model 4 (full model)*: Added husband's education.

- Reported adjusted odds ratios (AORs) with 95% confidence intervals.

Step 4 – Interaction Analysis

- Included a product term (wealth quintile $\times$ woman's education) in the full model.
- Tested significance using the likelihood ratio test.
- If significant, computed stratified AORs.

Step 5 – Sensitivity Analysis

- Restricted the sample to rural areas only (since Bihar is 89% rural) to check whether urban wealthy households drive results.
- Tested an alternative cutoff of <21 years (UN definition of “early marriage” in South Asia) to examine whether the wealth gradient holds.

Ethical Considerations

NFHS-5 is publicly available anonymized data with no individual identifiers. Therefore, no additional ethical approval was required. The study follows ICMR guidelines for secondary data analysis.

Results

Sample Characteristics

Of 19,452 women aged 20–24 years in Bihar, the overall mean age at marriage was 17.4 years (SD = 2.8). The prevalence of child marriage (<18 years) was 42.1% (95% CI: 40.8–43.4). Wealth distribution was balanced across quintiles (20% each), but education varied sharply: only 3% of women in the lowest quintile had secondary or higher education compared to 68% in the highest quintile.

Age at Marriage by Wealth Quintile

Wealth Quintile	Mean Age at Marriage (years)	% Married <18 years	% Married <15 years
Lowest	15.8 (0.12)	68.4%	32.1%
Second	16.4 (0.11)	58.2%	22.5%
Middle	17.2 (0.10)	44.6%	14.3%
Fourth	18.9 (0.09)	26.8%	6.7%
Highest	21.4 (0.08)	12.7%	2.1%

p-for trend <0.001 for all outcomes. A strictly monotonic gradient is observed. Women in the highest quintile marry 5.6 years later than those in the lowest quintile. The risk of marriage below 18 is 5.4 times higher in the lowest vs. highest quintile (68.4% vs. 12.7%). Extreme child marriage (<15 years) is 15 times more common in the lowest quintile (32.1%) than the highest (2.1%).

Multivariate Logistic Regression (Adjusted Odds Ratios for Child Marriage)

Variable	Model 1 (Unadj)	Model 2 (+Education)	Model 3 (+Demographics)	Model 4 (Full)
Wealth quintile (ref: Lowest)				
Second	0.62 (0.55–0.70)	0.71 (0.63–0.80)	0.73 (0.64–0.83)	0.77 (0.68–0.87)
Middle	0.36 (0.32–0.41)	0.45 (0.39–0.52)	0.48 (0.41–0.56)	0.53 (0.45–0.62)
Fourth	0.18 (0.15–0.21)	0.26 (0.21–0.31)	0.31 (0.25–0.39)	0.36 (0.28–0.46)
Highest	0.07 (0.06–0.09)	0.11 (0.08–0.14)	0.13 (0.10–0.17)	0.14 (0.11–0.18)
Woman's education (ref: None)				
Primary	–	0.68 (0.60–0.77)	0.70 (0.61–0.80)	0.72 (0.63–0.82)
Secondary	–	0.27 (0.23–0.31)	0.30 (0.26–0.35)	0.33 (0.28–0.39)
Higher	–	0.09 (0.06–0.14)	0.11 (0.07–0.17)	0.13 (0.08–0.20)
Caste (ref: General)	–	–	1.42 (1.18–1.71)	1.38 (1.15–1.66)
Rural (vs Urban)	–	–	1.52 (1.30–1.78)	1.46 (1.25–1.70)

Key Findings:

- Wealth remains a strong independent predictor even after full adjustment. Women in the highest quintile have 86% lower odds (AOR 0.14) of child marriage compared to the lowest quintile.
- Education is more powerful than wealth (AOR 0.09 for higher education), but wealth effects persist within each education level.
- Scheduled Caste and rural residence significantly increase odds of child marriage, independent of wealth.

Interaction Effect

The wealth × education interaction term was significant ($p = 0.02$).

- Among uneducated women, moving from lowest to highest quintile reduced child marriage probability from 78% to 35% (absolute reduction 43%).
- Among secondary-educated women, the same wealth move reduced probability from 22% to 4% (absolute reduction 18%). Thus, wealth is protective even without education, but education amplifies the effect.

Discussion

This study provides the first comprehensive analysis of female age at marriage differentials by wealth quintile in Bihar using NFHS-5 data. The results reject the null hypothesis and confirm a strong, monotonic, and independent wealth gradient. Notably, even women in the second quintile (20–40th percentile) had significantly lower child marriage prevalence compared to those in the lowest quintile, challenging the assumption that only extreme poverty drives early marriage. Each upward step in wealth delayed marriage by approximately 1–1.4 years.

Why Does Wealth Matter in Bihar?

Three mechanisms may explain the strong wealth gradient observed:

1. **Dowry dynamics:** In Bihar, dowry amounts rise steeply with groom's age, education, and occupation. Poor families often marry daughters early to younger, less-educated grooms who demand minimal dowry. Wealthier families delay marriage to accumulate dowry and secure better matches.
2. **Educational opportunity:** Wealth enables school retention. Each additional year of schooling correlates with a 0.4-year delay in marriage. Even after controlling for education, wealth remained a strong predictor, suggesting that economic security itself reduces pressure to marry daughters early.
3. **Social networks and norms:** Poor communities have dense networks where child marriage is normative. Wealth disrupts these networks; richer families interact with peers who delay marriage, thereby reshaping norms.

Comparison with Other States

Bihar's wealth gradient (difference of 5.6 years between lowest and highest quintile) is steeper than in Kerala (2.1 years) and similar to Rajasthan (5.2 years). This suggests that in high-poverty, high-patriarchy states, wealth exerts a stronger influence because economic constraints are binding.

Policy Implications

- **Targeted interventions:** Programs must prioritize the lowest two wealth quintiles. Cash transfer schemes (e.g., *Mukhyamantri Kanya Vivah Yojana*) should be quintile-targeted rather than universal.
- **Conditional incentives:** Link cash transfers directly to age at marriage, with higher payments for marriages after 18. Schemes like *Ladli* could be restructured to penalize early marriage.
- **Education and wealth synergies:** Since education amplifies wealth effects, investing in secondary schooling for poorest quintile girls (cycles, uniforms, stipends) may yield higher returns than cash alone.
- **Norms change:** Mass media campaigns highlighting that even moderately wealthy families delay marriage can shift community expectations.

Limitations

- **Cross-sectional design:** The study is based on cross-sectional data, which prevents causal inference. Wealthier families may also have unobserved preferences (e.g., less patriarchal attitudes) that both increase wealth and delay marriage.
- **Recall bias:** Age at marriage is self-reported and subject to recall bias, though this is minimized by focusing on women aged 20–24 years.
- **Missing variables:** Data on parental attitudes, dowry transactions, and neighborhood norms were not available, limiting the ability to test cultural mechanisms directly.
- **Wealth measurement:** The NFHS wealth index is asset-based rather than income-based, which may miss liquid wealth or debt.
- **Generalizability:** Findings are specific to Bihar. While similar patterns may exist in other high-poverty states, this remains untested.

Conclusion

In Bihar, household wealth quintile emerges as a powerful and graded determinant of female age at marriage. A girl born into the poorest quintile will marry nearly **six years earlier** on average than one born into the richest quintile, and is **five times more likely** to marry before the legal age of 18. While education is the single strongest predictor of delayed marriage, wealth retains a strong independent effect, underscoring that economic vulnerability directly accelerates marriage independent of schooling.

Policies that fail to address wealth differentials—relying solely on legal bans or generic awareness campaigns—will continue to see the poorest girls married early. A combined strategy is essential:

- **Quintile-targeted cash transfers** to reduce economic pressure,
- **Secondary education incentives** for the poorest girls to amplify protective effects, and
- **Social norm disruption** through community and media engagement.

Only by integrating economic, educational, and normative interventions can Bihar close the child marriage gap and ensure that girls across all wealth groups have the opportunity to delay marriage and pursue fuller life trajectories.

References

1. International Institute for Population Sciences (IIPS) and ICF. (2021). National Family Health Survey (NFHS-5), 2019-21: India Report. Mumbai: IIPS.
2. UNICEF. (2021). The State of the World's Children 2021: On My Mind – Promoting, protecting and caring for children's mental health. New York: UNICEF.
3. Singh, A., & Vennam, U. (2019). Factors associated with child marriage in India: A district-level analysis. *Journal of Biosocial Science*, 51(3), 408-424.

4. Paul, P. (2021). Wealth and child marriage in India: A propensity score matching analysis. *SSM - Population Health*, 15, 100857.
5. Amin, S., Ahmed, J., & Haque, M. (2017). Economic shocks and early marriage in Bangladesh. *Population and Development Review*, 43(S1), 125-143.
6. Becker, G. S. (1981). *A Treatise on the Family*. Cambridge, MA: Harvard University Press.
7. Mackie, G. (1996). Ending footbinding and infibulation: A convention account. *American Sociological Review*, 61(6), 999-1017.
8. Rao, V. (1993). Dowry 'inflation' in rural India: A statistical investigation. *Population Studies*, 47(2), 283-293.
9. Thorat, S., & Sabharwal, N. S. (2015). Caste and social exclusion: Issues related to concepts, indicators and measurement. In *Handbook on Social Exclusion*. Oxford University Press.
10. Government of Bihar. (2020). *Bihar Human Development Report 2019*. Patna: Planning and Development Department.
11. International Institute for Population Sciences (IIPS). (2022). *NFHS-5 Bihar Analytical Report*. Mumbai: IIPS.
12. Child Marriage Free India Campaign. (2023). *Annual Report on Prevented Child Marriages*. New Delhi: CMFI.
13. Patel, R. (2023). *Assessing the Impact of Legislative Intervention on Child Marriage in Bihar*. *GNLU Journal of Law & Economics*, 5(2), 45-62.

स्याद्वाद : समकालीन मानव संकटों के समाधान की एक दार्शनिक पद्धति

विनय कुमार¹

vinaywitt2022@gmail.com

सारांश

वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में मानवता अनेक प्रकार के वैचारिक, मानसिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक संकटों से जूझ रही है। धार्मिक असहिष्णुता, राजनीतिक ध्रुवीकरण, सामाजिक विखंडन, मानसिक तनाव तथा संवादहीनता जैसी समस्याएँ आधुनिक मानव जीवन के समक्ष गंभीर चुनौती बनकर उभरी हैं। इन संकटों का मूल कारण सत्य के प्रति एकांतिक दृष्टिकोण तथा वैचारिक कट्टरता है, जिसके कारण व्यक्ति एवं समाज अन्य दृष्टिकोणों को स्वीकार करने में असमर्थ होते जा रहे हैं। प्रस्तुत शोध-पत्र में जैन दर्शन के स्याद्वाद सिद्धांत का अध्ययन समकालीन मानव संकटों के समाधान की एक दार्शनिक पद्धति के रूप में किया गया है। स्याद्वाद सत्य की सापेक्षता एवं बहुआयामी स्वरूप को स्वीकार करते हुए यह प्रतिपादित करता है कि किसी भी वस्तु अथवा विचार को एकमात्र दृष्टिकोण से पूर्णतः नहीं समझा जा सकता। यह सिद्धांत वैचारिक सहिष्णुता, संवादशीलता, मानसिक संतुलन तथा सह-अस्तित्व की भावना को विकसित करता है।

प्रस्तुत शोध में स्याद्वाद की दार्शनिक अवधारणा, अनेकांतवाद से उसका संबंध तथा सप्तभंगी नय की तार्किक संरचना का विश्लेषण किया गया है। साथ ही समकालीन मानव संकटों के स्वरूप एवं कारणों का अध्ययन करते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि स्याद्वाद किस प्रकार वैचारिक कट्टरता, मानसिक जड़ता तथा सामाजिक संघर्षों के समाधान में सहायक सिद्ध हो सकता है। शोध में विश्लेषणात्मक एवं समीक्षात्मक पद्धति का उपयोग किया गया है। अध्ययन से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि स्याद्वाद केवल जैन तर्कशास्त्र की पारंपरिक अवधारणा न होकर वर्तमान वैश्विक समाज के लिए एक व्यावहारिक एवं मानवीय जीवन-दृष्टि है, जो बहुलतावाद, संवाद एवं शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है।

मुख्य शब्द :

स्याद्वाद, अनेकांतवाद, समकालीन मानव संकट, वैचारिक सहिष्णुता, दार्शनिक परामर्श, सह-अस्तित्व

परिचय

मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ उसके समक्ष उत्पन्न होने वाले संकटों का स्वरूप भी निरंतर परिवर्तित होता रहा है। वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में विज्ञान, प्रौद्योगिकी एवं भौतिक उन्नति के अभूतपूर्व विस्तार के बावजूद मानव जीवन अनेक प्रकार के मानसिक, सामाजिक, नैतिक एवं वैचारिक संकटों से घिरा हुआ है। आज का मनुष्य बाह्य रूप से समृद्ध दिखाई देने पर भी आंतरिक रूप से असुरक्षा, तनाव, असहिष्णुता, एकाकीपन, वैचारिक कट्टरता तथा अस्तित्वगत संकट जैसी समस्याओं का अनुभव कर रहा है। सामाजिक स्तर पर धार्मिक उग्रता, सांस्कृतिक संघर्ष, राजनीतिक ध्रुवीकरण एवं संवादहीनता ने मानवीय संबंधों को जटिल बना दिया है। आधुनिकता के इस संक्रमणकाल में मनुष्य की सबसे बड़ी समस्या सत्य के प्रति एकांगी आग्रह तथा अन्य दृष्टिकोणों के प्रति अस्वीकार की प्रवृत्ति बनती जा रही है। विशेषकर सूचना प्रौद्योगिकी और सोशल मीडिया के इस युग में 'इको-चेंबर्स' ने मनुष्य को अपनी ही वैचारिक सीमाओं में कैद कर दिया है। ऐसी परिस्थिति में भारतीय दर्शन की बहुलतावादी एवं समन्वयवादी परंपराएँ पुनः प्रासंगिक प्रतीत होती हैं। भारतीय चिंतन ने सदैव जीवन की

¹ शोधार्थी, दर्शनशास्त्र विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

समस्याओं को केवल भौतिक या बौद्धिक स्तर पर नहीं बल्कि व्यापक मानवीय एवं आध्यात्मिक दृष्टि से समझने का प्रयास किया है। इसी परंपरा में जैन दर्शन का स्याद्वाद सिद्धांत अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। तात्त्विक स्तर पर जो 'अनेकांतवाद' (वस्तु के अनंत धर्मात्मक स्वरूप की स्वीकृति) है, ज्ञानमीमांसीय एवं व्यावहारिक स्तर पर वही 'स्याद्वाद' (सापेक्ष कथन की पद्धति) के रूप में अभिव्यक्त होता है। स्याद्वाद केवल एक पारंपरिक दार्शनिक तर्क-पद्धति नहीं बल्कि जीवन एवं सत्य को बहुआयामी दृष्टि से समझने की वैज्ञानिक एवं मानवीय पद्धति है। यह सिद्धांत इस तथ्य को स्वीकार करता है कि किसी भी वस्तु, विचार अथवा सत्य को पूर्णतः निरपेक्ष रूप में नहीं जाना जा सकता अपितु प्रत्येक निर्णय (Judgment) विशिष्ट परिस्थितियों, दृष्टिकोणों (नय) एवं संदर्भों के सापेक्ष ही सत्य होता है। इस प्रकार कथनों के आगे 'स्यात्' (किसी अपेक्षा से) का प्रयोग करके यह सिद्धांत सत्य के प्रति विनम्रता, सहिष्णुता एवं संवाद की भावना को विकसित करता है।

जैन दर्शन का यह दृष्टिकोण मानव विचार को कठोरता से मुक्त कर बहुविध दृष्टियों के समन्वय की प्रेरणा देता है। स्याद्वाद के अनुसार किसी भी विषय पर अंतिम, एकांत और पूर्ण सत्य का दावा करना उचित नहीं है, क्योंकि प्रत्येक दृष्टिकोण में आंशिक सत्य (आंशिक नय) निहित हो सकता है। यह दृष्टि वर्तमान समय की वैचारिक असहिष्णुता, सामाजिक विभाजन एवं मानसिक तनाव जैसी समस्याओं के समाधान में विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध हो सकती है। समकालीन समाज में बढ़ती हुई वैचारिक कठोरता एवं संवादहीनता के बीच स्याद्वाद पारस्परिक समझ, सह-अस्तित्व एवं संतुलित चिंतन की आधारभूमि प्रस्तुत करता है। यह 'आइदर/ऑर' (या तो यह, या वह) की बाइनरी सोच को विखंडित कर सप्तांश के माध्यम से सत्य के सात संभावित आयामों को स्वीकार करने का मार्ग प्रशस्त करता है। वर्तमान युग में मानव संकट केवल आर्थिक अथवा राजनीतिक नहीं रह गए हैं बल्कि वे गहरे स्तर पर मानसिक एवं दार्शनिक संकटों का रूप धारण कर चुके हैं। मनुष्य अपने अस्तित्व, मूल्यों एवं संबंधों को लेकर निरंतर द्वंद्व की स्थिति में है। ऐसी परिस्थिति में स्याद्वाद का सापेक्षवादी एवं बहुआयामी दृष्टिकोण व्यक्ति को वैचारिक लचीलापन, मानसिक संतुलन तथा संवादात्मक चेतना प्रदान कर सकता है। यह सिद्धांत मानव को यह शिक्षा देता है कि सत्य बहुआयामी है और विभिन्न दृष्टिकोणों के बीच समन्वय स्थापित करके ही एक स्वस्थ, शांतिपूर्ण और सहिष्णु सामाजिक एवं वैश्विक व्यवस्था का निर्माण संभव है।

प्रस्तुत शोध का उद्देश्य स्याद्वाद की दार्शनिक अवधारणा का विश्लेषण करते हुए उसकी समकालीन मानव संकटों के समाधान में संभावित भूमिका का समीक्षात्मक अध्ययन करना है। इस अध्ययन में स्याद्वाद के मूल तात्त्विक आधार, उसकी व्यावहारिक उपयोगिता तथा आधुनिक सामाजिक एवं मानसिक परिस्थितियों में उसकी प्रासंगिकता का विवेचन किया जाएगा। साथ ही यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया जाएगा कि स्याद्वाद केवल पारंपरिक दार्शनिक सिद्धांत न होकर वर्तमान वैश्विक समाज के लिए सहिष्णुता, संवाद एवं सह-अस्तित्व की एक प्रभावी दार्शनिक पद्धति के रूप में स्थापित हो सकता है।

स्याद्वाद की अवधारणा

जैन दर्शन की ज्ञानमीमांसा में स्याद्वाद का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। यह केवल एक तार्किक सिद्धांत नहीं बल्कि सत्य के बहुआयामी स्वरूप को अभिव्यक्त करने वाली दार्शनिक पद्धति है। 'स्याद्वाद' शब्द 'स्यात्' तथा 'वाद' दो पदों से मिलकर निर्मित हुआ है। सामान्यतः संस्कृत व्याकरण में 'स्यात्' का अर्थ 'शायद' या 'संभवतः' ग्रहण किया जाता है, जिसके कारण अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने इसे संशयवाद के रूप में व्याख्यायित किया, किन्तु जैन दर्शन में 'स्यात्' का अर्थ संशय न होकर 'कथंचित्', 'किसी अपेक्षा से' अथवा 'एक विशिष्ट दृष्टिकोण से' माना गया है। इस संदर्भ में आचार्य इन्द्रचन्द्र शास्त्री का कथन है कि "स्यात् शब्द का अर्थ है किसी अपेक्षा से। लौकिक जगत् में हमारा कोई भी निर्णय एकांत या निरपेक्ष नहीं हो सकता। वह काल, स्थान, परिस्थिति और दृष्टिकोण के सापेक्ष ही सत्य होता है।"² इस प्रकार स्याद्वाद यह प्रतिपादित करता है कि किसी भी वस्तु अथवा सत्य के संबंध में किया गया कथन पूर्णतः निरपेक्ष न होकर विशिष्ट संदर्भों में ही मान्य होता है। अतः स्याद्वाद ज्ञान में विनम्रता तथा अन्य दृष्टिकोणों के प्रति सहिष्णुता की भावना का विकास करता है।

जैन दर्शन में स्याद्वाद का संबंध अनेकांतवाद से अत्यंत घनिष्ठ है। अनेकांतवाद वस्तु के तात्त्विक स्वरूप का प्रतिपादन करता है जबकि स्याद्वाद उस बहुआयामी सत्य की अभिव्यक्ति की भाषिक एवं तार्किक पद्धति है। अनेकांतवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु अनंत धर्मों एवं अनंत विशेषताओं से युक्त होती है किंतु मानव की सीमित बुद्धि और भाषा उन समस्त

² शास्त्री, इन्द्रचन्द्र. (1990). जैन दर्शन का आलोचनात्मक इतिहास. नई दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 112

पक्षों को एक साथ ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। इसलिए वस्तु के विभिन्न पक्षों को अपेक्षानुसार अभिव्यक्त करने की आवश्यकता होती है, जिसे स्याद्वाद कहा गया है। इस संदर्भ में मल्लिषेणसूरि ने 'स्याद्वादमंजरी' में स्पष्ट किया है "अनेकान्तात्मकं वस्तु वाचकं स्यात्पदाङ्कितम्।"³ अर्थात् अनेकान्तात्मक वस्तु को अभिव्यक्त करने वाला वचन ही 'स्यात्' पद से युक्त होता है। इससे स्पष्ट होता है कि स्याद्वाद अनेकांतवाद की व्यावहारिक अभिव्यक्ति है जो सत्य के विविध आयामों को स्वीकार करने की तार्किक पद्धति प्रदान करता है।

स्याद्वाद की तार्किक परिणति सप्तभंगी नय के रूप में व्यक्त होती है। जैन न्याय के अनुसार किसी भी वस्तु के संबंध में सात प्रकार के कथन संभव हैं जिन्हें क्रमशः स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति-नास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् अस्ति च अवक्तव्य, स्यात् नास्ति च अवक्तव्य तथा स्यात् अस्ति-नास्ति च अवक्तव्य के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है।⁴ इन सातों भंगों का आधार यह है कि वस्तु विभिन्न अपेक्षाओं से भिन्न-भिन्न रूपों में जानी जा सकती है। उदाहरणतः स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल और स्व-भाव की अपेक्षा से वस्तु का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है जबकि पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल और पर-भाव की अपेक्षा से उसका अनस्तित्व भी स्वीकार्य होता है। जब अस्तित्व और अनस्तित्व दोनों को एक साथ व्यक्त करने का प्रयास किया जाता है तब वस्तु 'अवक्तव्य' अर्थात् अकथनीय प्रतीत होती है। इस प्रकार सप्तभंगी नय सत्य की जटिलता और बहुआयामी स्वरूप को तार्किक रूप से स्पष्ट करता है। स्याद्वाद के इस तार्किक प्रतिपादन से यह सिद्ध होता है कि सत्य एकांगी या निरपेक्ष न होकर बहुआयामी एवं सापेक्ष है। समकालीन विश्व में वैचारिक संघर्षों, धार्मिक कट्टरता तथा सामाजिक ध्रुवीकरण का मूल कारण सत्य के किसी एक पक्ष को अंतिम एवं पूर्ण सत्य मान लेना है। जैन दर्शन इस प्रवृत्ति का खंडन करते हुए यह प्रतिपादित करता है कि प्रत्येक दृष्टिकोण में आंशिक सत्य निहित हो सकता है। 'अन्ध-गज न्याय' का उदाहरण इसी तथ्य को स्पष्ट करता है कि वस्तु के किसी एक अंश को पूर्ण सत्य मान लेना विवाद और संघर्ष का कारण बनता है। स्याद्वाद का मूल उद्देश्य सत्य के प्रति वैचारिक विनम्रता, सह-अस्तित्व एवं संवाद की भावना को विकसित करना है। यही कारण है कि वर्तमान वैश्विक संदर्भ में जहाँ मानव समाज वैचारिक असहिष्णुता और संवादहीनता के संकट से जूझ रहा है, स्याद्वाद एक संतुलित एवं मानवीय दार्शनिक पद्धति के रूप में अत्यंत प्रासंगिक सिद्ध होता है।

समकालीन मानव संकट : स्वरूप एवं कारण

समकालीन मानव सभ्यता आज जिन बहुआयामी संकटों का सामना कर रही है, उनका मूल कारण केवल आर्थिक अथवा राजनीतिक असंतुलन नहीं बल्कि मानवीय चिंतन में बढ़ती हुई एकांगिकता एवं वैचारिक अहंकार है। आधुनिक युग में मनुष्य ने विज्ञान और तकनीक के माध्यम से भौतिक उन्नति तो प्राप्त कर ली है किन्तु वैचारिक स्तर पर वह अधिक असहिष्णु, आक्रामक और संकीर्ण होता जा रहा है। राजनीतिक विचारधाराओं, धार्मिक मान्यताओं तथा सांस्कृतिक अस्मिताओं के बीच बढ़ती हुई दूरी ने समाज को वैचारिक रूप से अत्यधिक ध्रुवीकृत बना दिया है। वर्तमान वैश्विक संकट का सबसे गंभीर पक्ष यह है कि प्रत्येक व्यक्ति, समुदाय अथवा राष्ट्र अपने दृष्टिकोण को ही अंतिम एवं सार्वभौमिक सत्य के रूप में स्थापित करना चाहता है। परिणामस्वरूप संवाद की संस्कृति क्षीण होती जा रही है तथा उसके स्थान पर संघर्ष, अस्वीकार और वर्चस्व की प्रवृत्तियाँ विकसित हो रही हैं।

मानव संकटों की यह स्थिति मूलतः एकांतवादी दृष्टिकोण की उपज है। जब व्यक्ति यह मान लेता है कि "केवल मेरा ही विचार सत्य है" तब वह अन्य दृष्टिकोणों के अस्तित्व को स्वीकार करने की क्षमता खो देता है। आधुनिक सामाजिक एवं राजनीतिक विमर्शों में यही प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। सोशल मीडिया तथा डिजिटल माध्यमों ने इस संकट को और अधिक गहरा कर दिया है क्योंकि आधुनिक एल्गोरिथ्मिक संरचनाएँ व्यक्ति को केवल वही विचार दिखाती हैं जो उसकी पूर्वनिर्धारित मान्यताओं के अनुकूल होते हैं। फलतः व्यक्ति वैचारिक रूप से एक सीमित घेरे में बंद हो जाता है तथा भिन्न दृष्टिकोणों के प्रति उसकी सहिष्णुता समाप्त होने लगती है। यह मानसिक स्थिति वैचारिक कट्टरता, धार्मिक उग्रवाद तथा सामाजिक वैमनस्य को जन्म देती है। जैन दर्शन का स्याद्वाद इसी संकट के समाधान हेतु सापेक्षतावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, जिसके अनुसार प्रत्येक कथन किसी विशिष्ट अपेक्षा से सत्य होता है और सत्य का पूर्ण स्वरूप बहुआयामी होता है।

³ मल्लिषेणसूरि. (2000). स्याद्वादमंजरी (जगदीशचन्द्र जैन, अनु.). नई दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 42.

⁴ शास्त्री, इन्द्रचन्द्र. (1990). जैन दर्शन का आलोचनात्मक इतिहास. नई दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 115.

समकालीन समाज में संवाद का अभाव भी मानव संकटों का एक प्रमुख कारण बन चुका है। लोकतांत्रिक संस्थाओं और वैश्विक मंचों की उपस्थिति के बावजूद वास्तविक संवाद की संस्कृति निरंतर कमजोर होती जा रही है। वर्तमान विमर्शों में असहमति को वैचारिक विविधता के रूप में नहीं बल्कि शत्रुता के रूप में देखा जाने लगा है। शक्तिशाली वर्ग अथवा राष्ट्र अपने विचारों और मूल्यों को दूसरों पर आरोपित करने का प्रयास करते हैं, जिससे बौद्धिक अधिनायकवाद की प्रवृत्ति विकसित होती है। आधुनिक भाषा-विन्यास भी निषेधात्मक एवं आक्रामक होता जा रहा है, जहाँ स्वीकार और समन्वय के स्थान पर विरोध और अस्वीकार को महत्व दिया जाता है। इसके विपरीत स्याद्वाद संवादात्मक चेतना को विकसित करता है तथा यह स्वीकार करता है कि विभिन्न दृष्टिकोण अपने-अपने संदर्भ में उचित हो सकते हैं। यही कारण है कि जैन दर्शन में स्याद्वाद को वैचारिक अहिंसा तथा सह-अस्तित्व की आधारभूमि माना गया है।

मानव संकटों का एक महत्वपूर्ण पक्ष मानसिक असंतुलन एवं संज्ञानात्मक जड़ता भी है। आधुनिक मनुष्य भौतिक समृद्धि के बावजूद आंतरिक रूप से तनाव, अवसाद और असुरक्षा से ग्रस्त होता जा रहा है। इसका प्रमुख कारण यह है कि व्यक्ति मानसिक रूप से अत्यधिक रूढ़ एवं कठोर हो गया है। वह बदलती परिस्थितियों तथा नए विचारों के साथ स्वयं को समायोजित करने में कठिनाई अनुभव करता है। अति-उपभोक्तावाद और प्रतिस्पर्धात्मक जीवनशैली ने भी व्यक्ति की चेतना को एकांगी बना दिया है, जिसके परिणामस्वरूप मानसिक संतुलन और सामाजिक संवेदनशीलता का हास हो रहा है। स्याद्वाद व्यक्ति को विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करने की क्षमता प्रदान करता है तथा मानसिक लचीलेपन का विकास करता है। इस प्रकार यह सिद्धांत व्यक्ति को पूर्वाग्रहों और मानसिक कठोरता से मुक्त कर संतुलित एवं सहिष्णु दृष्टिकोण विकसित करने में सहायक सिद्ध होता है। सामाजिक विखंडन एवं पारस्परिक संघर्ष भी समकालीन मानव संकट के महत्वपूर्ण आयाम हैं। पारिवारिक संबंधों का विघटन, सामाजिक विश्वास का संकट तथा व्यक्तिवाद की बढ़ती प्रवृत्ति ने सामूहिक चेतना को कमजोर कर दिया है। व्यक्ति “स्व” के सीमित दायरे में सिमटता जा रहा है और “पर” के अस्तित्व एवं उसकी अपेक्षाओं को समझने की क्षमता खोता जा रहा है। पारिवारिक एवं सामाजिक स्तर पर अधिकांश संघर्षों का मूल कारण विभिन्न दृष्टिकोणों को स्वीकार न कर पाना है। स्याद्वाद इस संदर्भ में समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, जिसके अनुसार भिन्न व्यक्तियों के दृष्टिकोण एक ही समय में अपनी-अपनी अपेक्षा से सत्य हो सकते हैं। यह दृष्टि संघर्ष के स्थान पर सह-अस्तित्व एवं पारस्परिक समझ को विकसित करती है।

मानव संकटों के समाधान में स्याद्वाद की भूमिका

समकालीन मानव संकटों के स्वरूप एवं कारणों के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि आधुनिक युग की अधिकांश समस्याओं का मूल कारण मानवीय दृष्टिकोण की एकांगिकता, वैचारिक असहिष्णुता तथा संवादहीनता है। जब व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र अपने विचारों को ही अंतिम सत्य मानकर अन्य दृष्टिकोणों का निषेध करने लगते हैं तब संघर्ष, तनाव एवं विखंडन की स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। ऐसी परिस्थिति में जैन दर्शन का स्याद्वाद मानव जीवन के लिए एक संतुलित एवं समन्वयवादी दार्शनिक दृष्टि प्रस्तुत करता है। यह सिद्धांत सत्य की सापेक्षता एवं बहुआयामी स्वरूप को स्वीकार करते हुए यह प्रतिपादित करता है कि किसी भी वस्तु अथवा विचार को एकमात्र दृष्टिकोण से पूर्णतः नहीं समझा जा सकता। फलतः स्याद्वाद आधुनिक मानव संकटों के समाधान हेतु सहिष्णुता, संवाद, मानसिक संतुलन तथा सह-अस्तित्व की चेतना को विकसित करता है। समकालीन वैचारिक संकटों के समाधान में स्याद्वाद की भूमिका विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। वर्तमान समय में धार्मिक उग्रवाद, राजनीतिक ध्रुवीकरण तथा सांस्कृतिक संघर्षों का मूल कारण अपने मत के प्रति निरपेक्ष आग्रह है। प्रत्येक विचारधारा स्वयं को पूर्ण सत्य के रूप में स्थापित करना चाहती है, जिसके परिणामस्वरूप विरोधी विचारों के प्रति अस्वीकार एवं घृणा की भावना उत्पन्न होती है। स्याद्वाद इस एकांतिक प्रवृत्ति का खंडन करते हुए यह स्पष्ट करता है कि प्रत्येक दृष्टिकोण किसी विशेष अपेक्षा से सत्य हो सकता है। इस प्रकार यह सिद्धांत व्यक्ति को वैचारिक विनम्रता तथा अन्य मतों के प्रति सहिष्णुता का संस्कार प्रदान करता है। जैन दर्शन के अनुसार सत्य बहुआयामी है और उसका पूर्ण स्वरूप किसी एक सीमित दृष्टिकोण से ग्रहण नहीं किया जा सकता। यही दृष्टि सामाजिक समरसता एवं बौद्धिक अहिंसा की आधारभूमि निर्मित करती है।

संवादहीनता भी समकालीन मानव संकट का एक प्रमुख कारण है। आधुनिक समाज में विचार-विनिमय की प्रक्रिया क्रमशः संघर्ष और आरोप-प्रत्यारोप में परिवर्तित होती जा रही है। व्यक्ति एवं समुदाय संवाद के स्थान पर वर्चस्व स्थापित करने का प्रयास करते हैं, जिससे सामाजिक तनाव और अधिक तीव्र हो जाता है। स्याद्वाद इस स्थिति में संवादात्मक चेतना को विकसित करता है। यह सिद्धांत यह स्वीकार करता है कि विरोधी प्रतीत होने वाले विचार भी अपने-अपने संदर्भ में सार्थक हो

सकते हैं। परिणामस्वरूप व्यक्ति दूसरों के दृष्टिकोण को समझने एवं स्वीकार करने की क्षमता विकसित करता है। इस प्रकार स्याद्वाद विवाद की संस्कृति को संवाद की संस्कृति में रूपांतरित करने का कार्य करता है, जो किसी भी लोकतांत्रिक एवं बहुलतावादी समाज के लिए अत्यंत आवश्यक है। मानसिक तनाव एवं संज्ञानात्मक असंतुलन की समस्या भी आधुनिक जीवन की एक गंभीर चुनौती बन चुकी है। प्रतिस्पर्धा, उपभोक्तावाद एवं असुरक्षा की भावना ने व्यक्ति को मानसिक रूप से अस्थिर बना दिया है। आधुनिक मनुष्य मानसिक रूप से इतना रूढ़ एवं पूर्वाग्रही होता जा रहा है कि वह बदलती परिस्थितियों तथा नए विचारों को सहज रूप में स्वीकार नहीं कर पाता। स्याद्वाद व्यक्ति को मानसिक लचीलापन प्रदान करता है तथा उसे विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करने की क्षमता विकसित करने के लिए प्रेरित करता है। यह दृष्टिकोण व्यक्ति को पूर्वाग्रहों, मानसिक कठोरता एवं आक्रामकता से मुक्त कर संतुलित चिंतन की ओर उन्मुख करता है। इस प्रकार स्याद्वाद आधुनिक मानसिक स्वास्थ्य संकटों के समाधान में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

सामाजिक एवं पारिवारिक संघर्षों के समाधान में भी स्याद्वाद की उपयोगिता स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। अधिकांश विवाद विभिन्न व्यक्तियों की अपेक्षाओं एवं अनुभवों को न समझ पाने के कारण उत्पन्न होते हैं। व्यक्ति केवल अपने दृष्टिकोण को ही उचित मानकर दूसरों की परिस्थितियों एवं संवेदनाओं की उपेक्षा करता है। स्याद्वाद यह शिक्षा देता है कि प्रत्येक व्यक्ति का दृष्टिकोण उसकी परिस्थिति एवं अनुभव के संदर्भ में समझा जाना चाहिए। यह समन्वयवादी दृष्टि पारिवारिक सौहार्द, सामाजिक सहयोग तथा सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना को सुदृढ़ करती है। इस प्रकार स्याद्वाद सामाजिक विखंडन को रोककर सह-अस्तित्व एवं पारस्परिक विश्वास की भावना को विकसित करता है। वैश्विक स्तर पर भी स्याद्वाद की प्रासंगिकता अत्यंत व्यापक है। वर्तमान विश्व धार्मिक असहिष्णुता, सांस्कृतिक वर्चस्ववाद तथा भू-राजनीतिक संघर्षों के कारण निरंतर अशांति की स्थिति से गुजर रहा है। शक्तिशाली राष्ट्र और समुदाय अपने मूल्यों एवं जीवन-पद्धति को सार्वभौमिक सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, जिससे बहुलतावादी विश्व व्यवस्था संकटग्रस्त हो जाती है। स्याद्वाद विविधता को सत्य की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार करता है तथा किसी एक दृष्टिकोण के सार्वभौमिक वर्चस्व का विरोध करता है। यही कारण है कि यह सिद्धांत वैश्विक सहिष्णुता, सांस्कृतिक सह-अस्तित्व एवं विश्वशांति की स्थापना के लिए एक महत्वपूर्ण दार्शनिक आधार प्रदान करता है। अतः कहा जा सकता है कि स्याद्वाद समकालीन मानव संकटों के समाधान के लिए केवल एक सैद्धांतिक अवधारणा नहीं बल्कि एक व्यावहारिक जीवन-दृष्टि है। यह मनुष्य को वैचारिक विनम्रता, संवादशीलता, मानसिक संतुलन तथा सह-अस्तित्व की भावना से संपन्न बनाता है। वर्तमान वैश्विक परिस्थितियों में, जहाँ मानवता विभाजन, संघर्ष एवं असहिष्णुता के संकटों से जूझ रही है, वहाँ स्याद्वाद का बहुआयामी एवं सापेक्षतावादी दृष्टिकोण अधिक मानवीय, संतुलित एवं शांतिपूर्ण विश्व व्यवस्था के निर्माण में अत्यंत सहायक सिद्ध हो सकता है।

समीक्षात्मक विश्लेषण

समग्र अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि जैन दर्शन का स्याद्वाद समकालीन मानव संकटों के संदर्भ में अत्यंत महत्वपूर्ण एवं प्रासंगिक दार्शनिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। आधुनिक युग में मानवता जिन समस्याओं जैसे वैचारिक कट्टरता, धार्मिक असहिष्णुता, मानसिक तनाव, सामाजिक विखंडन तथा वैश्विक संघर्ष से जूझ रही है, उनका मूल कारण सत्य के प्रति एकांतिक आग्रह एवं अन्य दृष्टिकोणों के प्रति अस्वीकार की प्रवृत्ति है। स्याद्वाद इस वैचारिक संकीर्णता का विरोध करते हुए सत्य की बहुआयामी प्रकृति को स्वीकार करता है तथा यह प्रतिपादित करता है कि किसी भी वस्तु अथवा विचार को एक ही दृष्टिकोण से पूर्णतः नहीं समझा जा सकता। इस प्रकार यह सिद्धांत व्यक्ति में बौद्धिक विनम्रता, सहिष्णुता एवं समन्वयशीलता का विकास करता है। जैन आचार्यों ने स्पष्ट किया है कि वस्तु अनेकान्तात्मक है और उसका यथार्थ निरूपण केवल 'स्यात्' पद से अंकित सापेक्ष कथनों द्वारा ही संभव है।⁵

स्याद्वाद की यह विशेषता आधुनिक मानव संकटों के समाधान में विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होती है। वर्तमान समय में वैचारिक धुवीकरण एवं संवादहीनता ने सामाजिक समरसता को गंभीर रूप से प्रभावित किया है। व्यक्ति एवं समुदाय अपने विचारों को अंतिम सत्य मानकर विरोधी मतों को अस्वीकार करने लगे हैं, जिसके परिणामस्वरूप संघर्ष एवं वैमनस्य की स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। स्याद्वाद इस एकांतिक दृष्टिकोण का खंडन करते हुए यह स्वीकार करता है कि विरोधी प्रतीत होने

⁵ सूरि, मल्लिषेण. (1935). स्याद्वादमञ्जरी (डॉ. जगदीश चन्द्र जैन कृत हिंदी अनुवाद एवं भावार्थ). ईपुस्तकालय डिजिटल संस्करण, पृ. 274-275.

वाले विचार भी भिन्न अपेक्षाओं से सत्य हो सकते हैं। फलतः यह सिद्धांत संवाद, सह-अस्तित्व एवं लोकतांत्रिक चेतना को सुदृढ़ करने का कार्य करता है। इसी कारण स्याद्वाद को बौद्धिक अहिंसा एवं वैचारिक सहिष्णुता का आधार माना गया है।⁶

मनोवैज्ञानिक स्तर पर भी स्याद्वाद की उपयोगिता अत्यंत महत्वपूर्ण है। आधुनिक जीवन की जटिलताओं ने व्यक्ति को मानसिक तनाव, असुरक्षा एवं संज्ञानात्मक जड़ता की स्थिति में पहुँचा दिया है। स्याद्वाद व्यक्ति को परिस्थितियों को अनेक दृष्टिकोणों से देखने की क्षमता प्रदान करता है, जिससे मानसिक लचीलापन विकसित होता है। सप्तभंगी नय की तार्किक संरचना यह स्पष्ट करती है कि सत्य को विभिन्न सापेक्ष रूपों में समझा जा सकता है अतः किसी एक निष्कर्ष से कठोर रूप से बंध जाना आवश्यक नहीं है। यह दृष्टिकोण व्यक्ति को पूर्वाग्रहों मानसिक कठोरता एवं आक्रामकता से मुक्त कर संतुलित चिंतन की ओर उन्मुख करता है।

यद्यपि स्याद्वाद की उपर्युक्त विशेषताएँ अत्यंत महत्वपूर्ण हैं तथापि इसकी कुछ सीमाएँ भी स्वीकार करनी आवश्यक हैं। अत्यधिक सापेक्षता की स्थिति में निर्णय प्रक्रिया जटिल हो सकती है तथा सामान्य जनमानस के लिए इसकी दार्शनिक गहनता को समझना सहज नहीं है। कुछ आलोचकों ने इसे संशयवाद अथवा अनिश्चिततावाद के रूप में भी व्याख्यायित किया है। तथापि जैन आचार्यों ने स्पष्ट किया है कि स्याद्वाद सत्य का निषेध नहीं करता बल्कि उसके बहुआयामी स्वरूप को स्वीकार करता है। इसका उद्देश्य निर्णयहीनता उत्पन्न करना नहीं बल्कि वैचारिक संतुलन एवं समन्वय स्थापित करना है।⁷

निष्कर्ष

प्रस्तुत शोध के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि जैन दर्शन का स्याद्वाद केवल एक पारंपरिक तार्किक सिद्धांत नहीं बल्कि समकालीन मानव संकटों के समाधान हेतु एक अत्यंत प्रासंगिक एवं व्यावहारिक दार्शनिक पद्धति है। आधुनिक वैश्विक समाज जिन समस्याओं जैसे वैचारिक कट्टरता, धार्मिक असहिष्णुता, मानसिक तनाव, सामाजिक विखंडन एवं वैश्विक संघर्ष का सामना कर रहा है, उनका मूल कारण मनुष्य की एकांगी एवं निरपेक्ष दृष्टि है। जब व्यक्ति अथवा समाज अपने विचारों को ही अंतिम सत्य मान लेते हैं और अन्य दृष्टिकोणों के अस्तित्व को अस्वीकार कर देते हैं तब संघर्ष, संवादहीनता एवं अशांति की स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। स्याद्वाद इस वैचारिक संकीर्णता का खंडन करते हुए सत्य की बहुआयामी एवं सापेक्ष प्रकृति को स्वीकार करता है।

इस शोध में यह प्रतिपादित किया गया कि स्याद्वाद का मूल आधार अनेकांतवाद है, जिसके अनुसार वस्तु अनंत धर्मों एवं अनंत विशेषताओं से युक्त होती है। मानव की सीमित बुद्धि किसी वस्तु के संपूर्ण स्वरूप को एक साथ ग्रहण करने में समर्थ नहीं होती इसलिए प्रत्येक कथन किसी विशेष अपेक्षा से ही सत्य होता है। यही दृष्टिकोण व्यक्ति में बौद्धिक विनम्रता, सहिष्णुता एवं संवादशीलता का विकास करता है। समकालीन समाज में जहाँ वैचारिक ध्रुवीकरण एवं असहमति को शत्रुता के रूप में देखा जा रहा है वहाँ स्याद्वाद विभिन्न दृष्टिकोणों के मध्य समन्वय स्थापित करने की प्रेरणा देता है। इस प्रकार यह सिद्धांत लोकतांत्रिक चेतना, सामाजिक समरसता एवं शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की आधारभूमि निर्मित करता है। अध्ययन से यह भी स्पष्ट हुआ कि स्याद्वाद केवल सामाजिक एवं वैचारिक स्तर पर ही नहीं बल्कि मनोवैज्ञानिक स्तर पर भी अत्यंत उपयोगी सिद्ध होता है। आधुनिक जीवन की प्रतिस्पर्धात्मक एवं उपभोक्तावादी प्रवृत्तियों ने व्यक्ति को मानसिक तनाव, असुरक्षा तथा संज्ञानात्मक जड़ता की स्थिति में पहुँचा दिया है। स्याद्वाद व्यक्ति को विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करने की क्षमता प्रदान कर मानसिक संतुलन एवं वैचारिक लचीलापन विकसित करता है। फलतः यह सिद्धांत आधुनिक मानसिक स्वास्थ्य संकटों के समाधान में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

समीक्षात्मक दृष्टि से यह स्वीकार करना आवश्यक है कि स्याद्वाद की कुछ सीमाएँ भी हैं। इसकी अत्यधिक सापेक्षतावादी प्रवृत्ति कुछ परिस्थितियों में निर्णय प्रक्रिया को जटिल बना सकती है तथा सामान्य जनमानस के लिए इसकी दार्शनिक गहनता सहज रूप से ग्राह्य नहीं है। तथापि इन सीमाओं के बावजूद इसकी समन्वयवादी एवं बहुलतावादी दृष्टि

⁶ शास्त्री, इन्द्रचन्द्र. (1990). जैन दर्शन का आलोचनात्मक इतिहास. नई दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 112-115.

⁷ सूरि, मल्लिषेण. (1935). स्याद्वादमञ्जरी. ईपुस्तकालय डिजिटल संस्करण, पृ. 280

वर्तमान वैश्विक परिस्थितियों में अत्यंत प्रासंगिक प्रतीत होती है। यह सिद्धांत मानवता को वैचारिक अहंकार, कट्टरता एवं संघर्ष की प्रवृत्तियों से मुक्त कर सह-अस्तित्व, सहिष्णुता एवं शांति की दिशा में अग्रसर करने की क्षमता रखता है। अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि स्याद्वाद वर्तमान मानव सभ्यता के लिए केवल एक दार्शनिक अवधारणा नहीं बल्कि एक मानवीय जीवन-दृष्टि है, जो विविधता में एकता, संवाद में समाधान तथा सापेक्षता में सत्य की खोज का मार्ग प्रशस्त करती है। यदि आधुनिक विश्व वैचारिक संघर्षों, सामाजिक विभाजन एवं मानसिक अशांति से मुक्ति प्राप्त करना चाहता है तो स्याद्वाद की बहुआयामी एवं सहिष्णु दृष्टि को व्यक्तिगत, सामाजिक तथा वैश्विक जीवन में आत्मसात करना अत्यंत आवश्यक होगा।

सन्दर्भ :

1. उपाध्याय, अमरमुनि. (2005). *अनेकांत द्वार और स्याद्वाद*. राजगीर: वीरायतन प्रकाशन.
2. दिवाकर, सिद्धसेन. (2001). *सन्मतितर्क (सम्पा. एवं व्याख्या)*. वाराणसी: पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान.
3. मल्लिषेणसूरि. (2000). *स्याद्वादमंजरी (जगदीशचन्द्र जैन, अनुवादक)*. नई दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ.
4. शास्त्री, इन्द्रचन्द्र. (1990). *जैन दर्शन का आलोचनात्मक इतिहास*. नई दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ.
5. सूरि, मल्लिषेण. (1935). *स्याद्वादमञ्जरी (जगदीश चन्द्र जैन, अनुवादक एवं व्याख्याकार)*. डिजिटल संस्करण: ईपुस्तकालय.
6. Barbato, M. (2019). Anekantavada and dialogical identity construction. *Religions*, 10(5), 16–23.
7. Jaini, P. S. (1979). *The Jaina Path of Purification*. Delhi: Motilal Banarsidass.
8. Matilal, B. K. (1981). *The Central Philosophy of Jainism (Anekāntavāda)*. Ahmedabad: L. D. Institute of Indology.
9. Raabe, P. B. (2001). *Philosophical Counseling: Theory and Practice*. Westport: Praeger Publishers.
10. Shah, N. J. (1998). *Jain Philosophy and Religion*. Delhi: Motilal Banarsidass.
11. Tatia, N. (1951). *Studies in Jaina Philosophy*. Banaras: Jain Cultural Research Society.

‘पत्ताखोर’ उपन्यास में चित्रित आज के युवावर्ग का यथार्थ

लिपिपुष्पा नायक*

nayaklipipuspa604@gmail.com

शोधसार-

समकालीन हिंदी साहित्य की प्रतिष्ठित लेखिका, कथाकार तथा उपन्यासकार के रूप में परिचित मधु कांकरिया ने अपने जीवन के चार दशक साधारण स्त्री के रूप में बिताने के बाद अभी डेढ़ दशक से ही साहित्य में सक्रीय भूमिका निभा रही है। वह साहित्य में उभरे किसी भी वाद के पीछे न पड़ कर वर्तमान दुनिया की वास्तविक समस्याओं के नस-नस को बड़ी ही कुशलता से समझने का प्रयत्न करती है। साथ में उन समस्याओं को अपने रचनाओं में स्थान देते की भरसक कोशिश करती हुई नज़र आती है। कहानियाँ और उपन्यासों के अलावा उनके द्वारा लिखित कथेतर साहित्य भी हिंदी साहित्य की दुनिया में मिल के पत्थर की भांति मार्गदर्शक रहा है। अभी तक उनके द्वारा रचित सात उपन्यासों के केंद्र समाज में व्याप्त अनेक समस्याएँ दिखाई देती हैं जैसे कि नक्सलवादियों की समस्या, फौजी जीवन, वेश्याओं का जीवन, धर्म की समस्या, आदिवासियों की समस्या, किसानों की समस्या, नाशापान की समस्या आदि अतः कहा जा सकता है की मधु कांकरिया का साहित्य अपने-आप में युगीन युगबोध को दर्शाते हुए दिखाई देता है। उनके रचनाओं के केंद्र में हमेशा हाशिए पर जीवन जीने वाले वर्ग ही रहे हैं। मधु कांकरिया ने पूरी निर्भीकता और जोश के साथ अपने समय और समाज की वास्तविकताओं को अपनी लेखनी के माध्यम से चित्रित किया है। समकालीन समय में मधु कांकरिया साहित्य एवं कथेतर गद्य के समाज की ज्वलंत समस्याओं को बेबाकी से उजागर कर रही हैं।

बीज शब्द-

नशाखोरी, सामाजिक बुराई, समकालीन युवावर्ग, मानसिक तनाव, अकेलापन, भटकाव, एकल परिवार, यथार्थता, आत्महत्या।

मूल आलेख-

मधु कांकरिया द्वारा कोलकाता शहर के युवा वर्ग में बढ़ते नशाखोरी को आधार बना कर ‘पत्ताखोर’(2005) उपन्यास लिखा गया है। दो भागों में वर्णित इस उपन्यास में 18 उपशीर्षक हैं। ‘पत्ता’ का मतलब एक पुडिया हेरोइन या ब्राउनशुगर और उसका सेवन करने वाले को ‘पत्ताखोर’ कहा जाता है। नशाखोरी एक ऐसा सामाजिक अभिशाप है जो कि शहर से लेकर गांव तक तेजी से अपना विस्तार कर रहा है। नशा एक ऐसी समस्या है जो न सिर्फ एक परिवार की समस्या बल्कि आज समकालीन समय में पूरे विश्व की समस्याओं में से सबसे महत्वपूर्ण समस्या है। जिस प्रकार दीमक लकड़ी को बर्बाद कर देता है उसी तरह युवा पीढ़ी को नशा। आज के समकालीन दौर में समाज का बाहरी रूप यानी भौतिक और आर्थिक प्रगति तेजी से हो रही है। दिन-ब-दिन नए-नए आविष्कार हो रहे हैं। लेकिन आंतरिक रूप से मनुष्य टूटता और बिखरता जा रहा है इस संदर्भ में डॉ. सुनीता कावले कहती हैं कि “आज के उत्तर आधुनिकता ने जहाँ चकाचौंध, सुनहरी जिन्दगी दी वहीं दूसरी ओर अनेक समस्याएँ, तनाव, कुंठा और असंतोष ने मनुष्य के जीवन को बुरी तरह व्यापा हैं।”¹

‘पत्ताखोर’ उपन्यास के केंद्र में हेमंत बाबू और वनश्री के एकलौता बेटा आदित्य हैं जो महानगरीय युवा वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। यह उपन्यास आदित्य के इर्द-गिर्द घुमाता हुआ दिखाई देता है। इकलौता बेटा होने के बावजूद भी नौकरी के सिलसिले में माता-पिता दोनों आदित्य को पर्याप्त समय न दे पाने के कारण और माता-पिता के बीच कलह के कारण

* शोधार्थी, हिन्दी विभाग, अंग्रेज़ी एवं विदेशी भाषा विश्वविद्यालय, हैदराबाद

आदित्य हमेशा उदास, हताश और निराशा जैसी भावना से ग्रसित हो जाता है। मन्नु भंडारी के बाल मनोवैज्ञान उपन्यास 'आपका बंटी' उपन्यास के 'बंटी' की तरह आदित्य भी बारह-तेरह वर्ष के उम्र में अकेलेपन का शिकार हो जाता है इस संदर्भ में लेखिका कहती है कि "एक ही घर में रहते हुए भी तीन जिंदगियां अपने- अपने दीप में बहती-विचारित रहीं, बिना किसी को छूते हुए।"²

अतः समकालीन भूमंडलीकरण के दौर में मनुष्य सफलता के अंधे दौड़ में दौड़ रहा है, इसी कारण वह चकाचौंध भरी दुनिया में अकेला एवं अपने-आप को बंधा हुआ महसूस करता है।

हेमंत बाबू और वनश्री वैचारिक स्तर पर एक दूसरे से संपूर्ण भिन्न थे। हेमंत बाबू अपने बेटे के मानसिकता को अच्छे से समझते थे। एक दिन अपने बेटे के द्वारा लिखी गई आत्मकथा स्कूल के टीचर से हेमंत बाबू को प्राप्त होती है। जिसे पढ़ कर वह हैरान थे, परेशान थे। उन्हें अनुभव होता है कि आदित्य उम्र से पहले परिपक्व, संवेदनशील बन गया है। बेटे द्वारा लिखी गई आत्मकथा के बारे में अपने पत्नी के साथ साझा करते हुए वह कहते हैं कि "जो बच्चे समय से पूर्व ही इतने परिपक्व, संवेदनशील और गहराई से सोचने वाले होते हैं, उन्हें बहुत ही कोमल हाथों से कोमल फूलों की तरह छोना होता है- हैंडिल विद केअर और हम हैं कि उसे सारे-सारे दिन इस पिछे के बालकनीवाले फ्लैट में एकदम अकेला छोड़ देते हैं।"³

पहले जमाने में लोग संयुक्त परिवार में रहना पसंद करते थे। उन्हें दादा-दादी, चाचा-चाची, चचेरे भाई-बहनों का स्नेह, श्रद्धा और प्रेम मिलता था। लेकिन आज से दौर में लोग एकल परिवार में रहना पसंद करते हैं। माता-पिता अपने बच्चों को दाई के पास, क्रेच में डालकर अपने-अपने काम में चले जाते हैं। लेकिन बच्चों के ऊपर उसका कितना प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है उसे कोई समझ नहीं पाता है। माँ अपने आप में व्यस्त रहती है। बेटे को समझने की कोशिश भी नहीं करती है। बेटे की बैचेनी, उदासी, अकेलेपन को दूर करने के लिए वह पत्नी से सहयोग की आशा रखते हैं। पत्नी वनश्री को बेटे के अच्छे भविष्य के लिए नौकरी छोड़ कर घर पर रहने के लिए सलाह देते हुए कहते हैं कि "कम सुविधाओं के साथ रहा जा सकता है पर माँ के बिना नहीं।"⁴ बच्चों को माँ की जरूरत होती है। माँ के सामने बच्चा अपने अंतर्मन के सारे बातों का खुलकर वर्णन करता है। वनश्री अपनी नौकरी छोड़ने को तैयार नहीं होती है। उन्हें अपनी स्वतंत्रता की चिंता होती है। वह अपने बच्चे की जिम्मेदारी को निभाने के लिए धन की आवश्यकता को अधिक प्रदानता देती है। उनका कहना है कि वह जो कुछ भी कर रहे हैं आदित्य के भविष्य के लिए ही कर रही हैं। फिर भी आदित्य उन्हें नफरत करता है। वनश्री को समझाने के लिए हेमंत बाबू कहते हैं कि "देखो, तुम जो कुछ भी उसके लिए कर रही हो, उसके वर्तमान को नकारकर कर रही हो, जबकि वर्तमान ही सबसे बड़ा सत्य है, जिसकी अपेक्षा कर भविष्य को नहीं संवारा जा सकता है।"⁵ आदित्य संगीत के माध्यम से अपने अकेलापन को दूर करने की कोशिश करता है। पढ़ाई से ज्यादा उसे संगीत में ही रुचि थी। आदित्य का कहना है कि "स्कूली पढ़ाई जैसी बोर चीज मुझे जिंदगी की खुशी नहीं दे पाएगी। मेरा यह भी विश्वास है कि इस धरती को संगीत-नृत्य जैसी कलाओं से ही सुंदर बनाया जा सकता है। इस धरती की खुशी इन्हीं रास्तों से मिलेगी।"⁶ लेकिन अपने ही सहपाठी के बड़े भाई अभिज्ञान के बुरे संगत में पड़ कर नशे की दुनिया में अपना पैर रखता है। प्रारंभिक अवस्था में उसे सुकून मिलता है। लेकिन धीरे धीरे ये एक जरूरत की सामग्री बन जाती है जो समय पर न मिलने से इन्सान पागल हो जाता है। "कैसा सर्वनाश चक्रव्यूह...पीड़ा का कारण भी वही और उपाय भी वही।"⁷

समकालीन समय में मनुष्य अपनी मानसिक पीड़ा, अकेलापन को दूर करने के लिए नशे का सहारा लेते हुए दिखाई देता है। लेकिन धीरे-धीरे मनुष्य इसी नशे का आदि हो जाता है। आज समकालीन समय में बढ़ते युवावर्ग में मादक द्रव्यों के परिणाम स्वरूप भारत का भविष्य कहीं-न-कहीं गर्त में जाते हुए दिखाई दे रहा है इस संदर्भ में लेखिका कहती है कि- "युवाओं में बढ़ती नशे और ड्रग्स की लत एक ऐसी बीमारी है, जो एक तरफ़ समाज की रग-रग में तनाव-घुटन, कुंठा और असंतोष व्याप रहा है, युवाओं को हर तरफ़ अंधी और अवरुद्ध गलियाँ नज़र आ रहीं हैं। लगातार खुले बाज़ार की चकाचौंध से मध्य और निम्न वर्ग का युवा स्तब्ध है। नतीजा भटकाव और विकृति।"⁸ इस उपन्यास में नशे की पैकेट को खरीदने के लिए आदित्य को पैसे की जरूरत पड़ता है। जिसके कारण वह घर से चोरी करता है। माता-पिता के रुपये, अपनी घड़ी, किताबें, यहाँ तक कि पीतल की गणेश मूर्ति को भी बेच देता है। कभी-कभी घर के बाथरूम में भी नशा करते हुए दिखाई देता है। आदित्य के पिता जितने शांत स्वभाव के थे, माँ उतने ही गुस्से वाली थी। प्रारंभिक अवस्था में पिता आदित्य को नशे की दुनिया से दूर रहने के लिए उपदेश दे कर समझाते हैं। हेमंत बाबू सोचते हैं कि "कहां सपना देखा था जन आंदोलन से जुड़ने का ...हर आंसू को पोंछ देने का और कहां एक अच्छा पिता तक नहीं बन सके।"⁹

अपने बेटे को लेकर हेमन्तबाबू उच्च आकांक्षा रखे थे। लेकिन नशे की ओर अग्रसर होते बेटे को देख कर उनका हृदय बुरी तरह से उद्विग्न हो उठता है। इस प्रकार बेटे के द्वारा नशे का आदी हो जाने पर उनपर मानसिक दबाव पड़ने लगता है।

लेकिन आदित्य को नशे की लत ऐसी लग गई थी कि वह घर से भाग जाता है। पुरी में एक होटल में रहकर काम करता है। हेमन्त बाबू ने उसे ढूँढते हुए घर ले आते हैं और उसे कॉलेज में दाखिल करा देते हैं। आदित्य की माँ अपने बैंक की नौकरी भी छोड़ कर आदित्य के लिए घर पर रहने के लिए निर्णय लेती हैं। लेकिन हेमन्त बाबू और वनश्री के बीच पारिवारिक कलह को लेकर आदित्य फिर से उदास और अकेलेपन को झेलता है। प्यार के तलाश में वह कॉलेज में राशि नाम के एक लड़की से प्यार कर बैठता है लेकिन राशि से भी उसे निराश होना पड़ता है। अपनी जिंदगी की बोरियत और भविष्यहीनता से लड़ने के लिए फिर से वह नशे का सहारा लेता है। हेमन्त बाबू उसे मनोरोगी चिकित्सक डॉ. सरोज कोठारी के चिकित्सालय में ले जाते हैं। जहाँ आदित्य के जैसे अनेक नव युवकों को देखा जाता है जो आज नशे की जाल में फँसे रहते हैं। डॉ. रंजीता परब के अनुसार “जिस पीढ़ी को देश की उन्नति के लिए अपनी ऊर्जा लगानी चाहिए, वह पीढ़ी आज अपनी अनमोल शारीरिक और मानसिक ऊर्जा सामाजिक कुरीतियों को बढ़ाने में लगा रहे हैं।”¹⁰

आज के युवावर्ग माता-पिता के टूटे संबंध, पारिवारिक तनाव, अकेलापन, बेरोजगारी जैसे समस्याओं से छुटकारा पाने के लिए तो, कुछ लोग बुरे संगत में पड़कर नशेली पदार्थों का सेवन करते हैं। मनोरोग विशेषज्ञ डॉ. सरोज कोठारी के अनुसार “अकेले कोलकाता में चालीस प्रतिशत युवा गांजा, हेरोइन, ब्राउन... मतलब किसी न किसी नशा का शिकार है।”¹¹ अतः कहा जा सकता है कि समकालीन समय में न जाने कितने युवा नशे की आदत के कारण अपने को समाप्त कर रहे हैं उन्हें रोकना आज के समाज की माँग है। आज शहरों में नशे को रोकने के लिए अनेक संगठनों का गठन किया गया जिसमें प्रमुख हैं- मनोरोग चिकित्सक केंद्र, नशा मुक्ति केंद्र एवं सरकार की तरफ से ड्रग्स को रोकने के लिए भिन्न प्रकार के विभाग दिखाई देते हैं लेकिन विडम्बना यह है कि समाज में युवा वर्ग के मध्य नशे का स्तर बढ़ते ही जा रहा है।

आदित्य को नशे की दुनिया से मुक्त करने के लिए हेमन्त बाबू अपनी पूरी जमा पूंजी खर्च कर देते हैं लेकिन वह अपने कोशिश में सफल नहीं हो पाते हैं। इस उपन्यास के आवरण पृष्ठ में मधु कांकरिया लिखती हैं कि “स्वातंत्रोत्तर भारतीय समाज में हमने जहाँ विकास और प्रगति की कई मंजिलें तय की है, वहीं अनेक व्याधियाँ भी अर्जित की हैं। अनेक समाजार्थिक कारणों से हम ऐसे कुछ बीमारियों से घिरे हैं जिनका कोई सिरा पकड़ में नहीं आता। युवाओं में बढ़ती नशे और ड्रग्स की लत एक ऐसी बीमारी है। एक तरफ समाज की रग- रग में तनाव, घुटन, कुंठा और असन्तोष व्याप्त रहा है, युवाओं को हर तरफ आंधी और अवरुद्ध गलियाँ नजर आ रही है, लगातार खुलते बाजार की चौकाचौंध से मध्य और निम्न मध्य वर्ग का युवा स्तब्ध है। नतीजा भटकाव और विकृति। नशे के लिए व्यक्ति खुद जिम्मेदार है, नशे की व्यापारी जिम्मेदार हैं या हमारी सामाजिक- आर्थिक वास्तविकताएँ, कहना कठिन है।”¹²

अपने नशे की लत से छुटकारा न पाने की वजह से आदित्य अकेलेपन का शिकार हो जाता है जिसकी वजह से वह आत्महत्या करने का संकल्प लेते हुए दिखाई देता है। आत्महत्या करने के लिए वह ‘मोहनबगान’ गली में पहुँचता है तो जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण बदल ही जाता है। इस गली में आदित्य ऐसे लोगों को देखता है जिसने आर्थिक अभाव के बावजूद भी जीने के लिए संघर्ष कर रहे उनके पास न रहने के लिए घर है न ही खाने के लिए पर्याप्त खाद्य। आदित्य उन लोगों के प्रति आकर्षित होता गया, उन लोगों के बीच रहकर आदित्य अपने जीवन का सही मतलब को ढूँढ पता है उन बस्ती के लोगों के लिए कुछ करने की इच्छा उसमें जागृत होती है। आदित्य बाहर रहकर लोगों के उन्नति के लिए अनेक कार्यों पर काम करने लगता है। 5 साल बाद आदित्य को ढूँढते हुए उसके माता-पिता और राशी उस गली में पहुँचते हैं। जो वनश्री अपनी नौकरी और पैसा को महत्व दे रही थी वह जॉब छोड़ कर आदित्य को समय देना चाहती है, बेटे के साथ रहना चाहती है। जब माता आदित्य को घर लौट कर आने के लिए कहती हैं तो आदित्य कहता है कि “यही मैंने महसूस की बिना भावनात्मक समृद्धि के जीवन शून्य है... सुरक्षित है। उष्ण आत्मीयता और इंसानी लगाव ही जीवन का सबसे बड़ा बीमा है। डी-टोक्सीफिकेशन है, न पर तुम्हारे साथ वे परिस्थितियाँ नहीं, याद रखना माँ, आदमी अपने लिए जीता हुआ ही दूसरे के लिए जी सकता है, अन्यथा वह टूट जाता है, बिखर जाता है।”¹³

आदित्य नशे के प्रतिकूल पक्ष से परिचित होकर आनेवाली पीढ़ी को सतर्क करने को कोशिश करता है। सदियों से प्रताड़ित, गरीब, शोषित, पिछड़े वर्ग के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर देता है।

निष्कर्ष:

मधु कांकरिया ने 'पत्ताखोर' उपन्यास में समकालीन भारतीय समाज के युवावर्ग की जटिल मनोस्थिति, उनकी समस्याओं और भटकाव का यथार्थ और मार्मिक चित्रण किया है। यहाँ उपन्यास केवल नशाखोरी की समस्या का वर्णन के साथ उसके पीछे छिपे सामाजिक, पारिवारिक और मनोवैज्ञानिक कारणों को भी गहराई से उजागर करता है। आज के दौर में बढ़ते नशे की प्रवृत्ति और उसके पीछे का कारण, परिणाम आदि को बारीकी से वर्णन करने का भरसक कोशिश करते हैं। है लेखिका यहाँ भी स्पष्ट करती है कि नशा केवल एक व्यक्तिगत कमजोरी नहीं है, बल्कि आज के युगीन जीवन की विसंगतियों, टूटते पारिवारिक संबंधों, भावनात्मक उपेक्षा और सामाजिक दबावों का परिणाम है। आदित्य जैसे ज्यादातर बच्चे आज भौतिक सुख-सुविधाओं के बीच पलते हुए भी भावनात्मक रूप से अत्यंत अकेला और असुरक्षित महसूस करते हैं। एकल परिवार व्यवस्था, माता-पिता की व्यस्तता, और पारिवारिक कलह उन्हें भीतर से तोड़ देती है, जिससे वह गलत संगति और नशे की ओर आकर्षित होते हैं। शुरूआती दौर में उन्हें नशा राहत का साधन प्रतीत होता है, लेकिन धीरे-धीरे यह विनाश का कारण बन जाता है। आदित्य को बस्ती में रहने के बाद ही जीवन का असली अर्थ समझ आता है। अपना दिशाहीन जीवन को नई दिशा मिलता है। आदित्य की तरह हर कोई अपने जीवन की तलाश करते-करते जीवन के असली लक्ष्य तक पहुँच नहीं पाते हैं। उपन्यास में लेखिका यह बताते हैं कि बच्चों के समुचित विकास के लिए केवल आर्थिक संसाधन पर्याप्त नहीं हैं, बल्कि उन्हें भावात्मक सुरक्षा, प्यार और संवाद की आवश्यकता होती है। केवल नशामुक्ति केन्द्रों या सरकारी प्रयासों से नशापान की समस्या को रुका नहीं जा सकता है, जब तक पारिवारिक वातावरण सुदृढ़ और संवेदनशील न बने। अतः यह जरूरी है कि आधुनिकता की दौड़ में हमें अपने मानवीय संबंधों और मूल्यों को नहीं खोना चाहिए। प्रेम, संवाद और सामाजिक जिम्मेदारियों से युवाओं को सही मार्ग पर लाया जा सकता है।

संदर्भ-

1. कावले, सुनीता. *कथाकार मधु कांकरिया*. कानपुर: रोली प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2011, पृ. 58.
2. कांकरिया, मधु. *पत्ताखोर* (उपन्यास). नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2012, पृ. 23.
3. कांकरिया, मधु. *पत्ताखोर* (उपन्यास). नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2012, पृ. 17.
4. वही, पृ. 20.
5. वही, पृ. 17.
6. वही, पृ. 16.
7. वही, पृ. 59.
8. कांकरिया, मधु. *पत्ताखोर* (उपन्यास). नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2012, आवरण पृष्ठ.
9. कांकरिया, मधु. *पत्ताखोर* (उपन्यास). नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2012, पृ. 78.
10. वही, पृ. 61.
11. वही, पृ. 75.
12. कांकरिया, मधु. *पत्ताखोर* (उपन्यास). नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2012, मुखपृष्ठ.
13. कांकरिया, मधु. *पत्ताखोर* (उपन्यास). नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2012, पृ. 211.

चंपारण सत्याग्रह : गांधीवाद का उदय और बिहार के लोगो का योगदान का एक अवलोकन

विकास कुमार*

vk12119600@gmail.com

परिचय:-

भारतीय इतिहास में चंपारण सत्याग्रह एक महत्वपूर्ण घटना है, क्योंकि यह चंपारण सत्याग्रह गांधी जी के द्वारा 1917 ई. में बिहार के चंपारण जिले में किया गया था। यह आंदोलन का नेतृत्व गांधी ने बहुत सूझबूझ कर बिहार ही नहीं बल्कि पूरे देश के जनहित में यह आंदोलन किया था। भारत में यह गांधी जी का प्रथम सत्याग्रह था जो अंग्रेजों के द्वारा जबरन नील की खेती करने के लिए यहां के किसानों के मजबूर किया जाता था। क्योंकि इस खेती के माध्यम से किसानों का शोषण चरम सीमा पर था। यह आंदोलन में सिर्फ गांधी जी ही नहीं थे, बल्कि यह आंदोलन में अनेक नेता जुड़े हुई थे और बिहार के जानता ने यह आंदोलन में एक सक्रिय भूमिका निभाई। यह आंदोलन गांधी जी के नेतृत्व में किया जा रहा था, लेकिन गांधी को साथ देने के लिए राजकुमार शुक्ला, डॉ राजेंद्र प्रसाद, आचार्य जे. वी. कृपाली, और महादेव देसाई आदि लोगों ने यह आंदोलन को सक्रिय बनाने के लिए बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया था। राजकुमार शुक्ला खुद एक किसान थे और वह अंग्रेजों के द्वारा हो रहे शोषण से भली-भांति परिचित थे। इसलिए उन्होंने इस शोषण के विरुद्ध आवाज उठाना शुरू किया और उन्होंने पहली बार गांधी से भी मिला। जब चंपारण के किसान ने अपने ऊपर हो रहे शोषण का विरोध किया तो स्थानीय लोगों ने भी इस विरोध में सक्रिय रूप से भाग लिया। क्योंकि यहां किसान नील का खेती नहीं करना चाहते थे क्योंकि यह खेती में परिश्रम ज्यादा लगता था और मुनाफा कम होता था। लेकिन अंग्रेजों ने अपनी स्वार्थ को पूरा करने के लिए नील की खेती करने के लिए मजबूर करते थे और उन्हें तरह-तरह के शोषण करते थे। इसलिए यह आंदोलन और चरम सीमा पर पहुंच गया, क्योंकि यह सिर्फ आंदोलन एक विशिष्ट क्षेत्र का नहीं था बल्कि यह आंदोलन का प्रभाव पूरे देश में था। क्योंकि ब्रिटिश हुकूमत इस कदर से भारत में अपने आप को बढ़ा रहे थे, जिससे यहां के सिर्फ किसान ही नहीं हर एक भारतीयों की स्थिति दैनिक होती जा रही थी और उनका शोषण चरम सीमा पर था।

कुंजी शब्द:- चंपारण , सत्याग्रह, नील की खेती, किसानों की शोषण, आन्दोलन और बिहार में इसका प्रभाव

नील की खेती बंगाल के बाद बिहार में ही होता था। चंपारण में नील बागान के मालिक के द्वारा किसानों पर काफी अत्याचार हो रहे थे। क्योंकि वहां पर **तीनकथिया** प्रथा प्रचलित थी और इस प्रथा के माध्यम से बागान मालिक वहां के किसानों को जबरन अपने खेती पर नील की खेती करने के लिए मजबूर करते थे। क्योंकि इस प्रथा के अंतर्गत **एक बीघा** खेती के अंतर्गत **तीन कट्टा** पर अनिवार्य रूप से नील की खेती करनी पड़ती थी। इस प्रकार बागान मलकियों के द्वारा किसानों के ऊपर जबरन नील की खेती करने के लिए उनके ऊपर थोपा जा रहा था। क्योंकि यह नीति ब्रिटिश के लोगों द्वारा लागू किया गया था। यह नीति भारतीय किसानों के विरुद्ध में था क्योंकि नील की जड़े बहुत मजबूत होती थी और वह बहुत गहरे तक होती थी जिसके कारण सभी मिट्टी के पोषण तत्व को सोख लेती थी। इसके बाद नील की खेती जब हो जाता था तब उसके बाद वह भूमि जिस पर नील की खेती किया गया था वह बंजर हो जाती थी। नील कटाई के बाद वहां पर कोई कृषि या अन्य फसल उगाना संभव नहीं होता था। क्योंकि नील की जड़ भूमि के बहुत अंदर तक जाती थी और वहां के सारे मिट्टी के पोषण तत्व अपने अंदर समाहित कर लेती थी। जिसे यह खेती के बाद वहां के भूमि पूरी तरह से वीरान हो जाती थी। इस प्रकार के खेती से नील की खेती करने वाले किसान बहुत परेशान होते थे। क्योंकि उस समय ऐसे भी गरीबी चरण सीमा पर था और ब्रिटिश हुकूमत के पालन करना बहुत मुश्किल था। इसलिए किसान लोगों ने इस खेती का विरोध किया ताकि यह खेती जबरन न थोपा जाए। यह विरोध में स्थानीय लोगों ने भी बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया क्योंकि यह आंदोलन सिर्फ एक नेताओं के द्वारा

* Nalanda Open University, Nalanda, Bihar

नहीं चलाया जा रहा था। बल्कि यह आंदोलन में नेता तो सिर्फ चेहरा थे लेकिन मुख्य भूमिका स्थानीय लोगों और स्थानीय नेताओं ने निभाया था।

साहित्य पुनरावलोकन:-

नील सत्याग्रह 1917 में आरंभ हुआ था, क्योंकि अंग्रेजों के द्वारा यहां किसानों की शोषण किया जा रहा था तथा उन्हें जबरन नील की खेती करने के लिए बाद किया जा रहा था। इसलिए स्थानीय लोगों ने भी इस आंदोलन में बढ़-चढ़कर भाग लिया तथा स्थानीय नेताओं का भी हाथ इस आंदोलन में रहा (Jaco, 2018)। अंग्रेज के बागान मालिकों ने चंपारण के स्थानीय किसानों को नील और गन्ने की खेती करने के लिए बढ़ावा दिया। स्थिति यह हुआ कि खेती से मुनाफा किसानों को नहीं होता था और इसका अधिकतर भाग बागान मालिक ही हड़प जाते थे। जबरन नील की खेती करने के लिए किसानों को मजबूर करते थे, इस प्रकार की खेती से किसान के मुनाफा नहीं होता था सिर्फ नुकसान होता था। इसलिए यहां के लोगों ने चंपारण आंदोलन में अपनी आजादी के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभाई (Bhagat, 2021)। 20. वीं सदी की शुरुआत में चंपारण जिले पर ब्रिटिश नील बागान मालिकों की काफी दबदबा था। जो स्थानीय किसानों को उनकी जमीन के एक हिस्से पर नील के खेती उगाने के लिए मजबूर करते थे। अक्सर बहुत ही दमनकारी और शोषणकारी शर्तों के तहत नील की खेती करने के लिए यहां को किसानों को मजबूर करते थे। इस खेती में बहुत कठिनाई और असंतोष फैला हुआ था। खासकर इस प्रकार के नील की खेती से किसान अशहज महसूस कर रहे थे। इसलिए स्थानीय लोगों ने यह शोषण के विरोध आवाज उठाई (Kumar, 2025)। भारत के बिहार राज्य के चंपारण क्षेत्र में बड़ी संख्या में भूमिहीन किसानों, मजदूरों और छोटे खाद्य फसलों के मालिकों द्वारा नीला और अन्य नगदी फसलों उगानी पड़ती थी। यूरोपीय उपनिवेशवादियों ने स्थानीय लोगों को जबरदस्ती नील की खेती करने के लिए मजबूर कर रहे थे। किसानों की स्थिति को देखते हुए अनेक लोगों ने इस प्रकार के दमन नीति को विरोध किया (Manisha, 2021)। जैसे-जैसे व्यापार में होने वाले मुनाफे के कारण व्यावसायिक फसलों का चलन बढ़ने लगा। वैसे-वैसे कंपनी राज का दमन और प्रभुत्व भी बढ़ता गया। बंगाल से शुरू होकर नील की खेती बिहार तक फैल गई और यूरोपीय बागान मालिक, जमींदारी व्यवस्था का इस्तेमाल करके किसान पर अपनी मनमानित थोपती गयी (Kumar, 2023)। 1917 का चंपारण सत्याग्रह भारत में महात्मा गांधी का पहला बड़ा राजनीतिक आंदोलन था। इसे बिहार के चंपारण जिले में ब्रिटिश नील बागान मालिकों के द्वारा किसानों के शोषण की समस्या को दूर करने के लिए शुरू किया गया था। इस आंदोलन ने भारत के स्वतंत्रता संग्राम में गांधी की नेतृत्व की शुरुआत की और अन्य की विरुद्ध एक शक्तिशाली हथियार के रूप में सत्याग्रह को प्रस्तुत किया (Duragappa, 2025)। चंपारण में चले आंदोलन ने भारतीय राष्ट्रवाद के उदय में एक महत्वपूर्ण योगदान दिया है। हालांकि यहां के मुद्दा अखिल भारतीय राजनीति के स्तर तक पहुंच गए थे। लेकिन चंपारण के मामले में इस बात का पर्याप्त परिणाम मिलते हैं कि महात्मा गांधी के आने से बहुत पहले ही यहां के असंतोष और विरोध की भावना मजबूत थी। वास्तव में औपनिवेशिक भारत में नील की खेती के विभिन्न पहलुओं पर आधारित साहित्य का एक विशाल भंडार मौजूद है (Kumar, 2018)। औद्योगिक क्रांति से पहले नील ही एकमात्र ऐसा प्राकृतिक रंग था जिससे कपड़ों को नीला रंगा जा सकता था। यह पौधा मूल रूप से भारत में का ही था और सदियों से इसका इस्तेमाल रंग निकालने के लिए किया जाता था। इसके व्यापार के सबूत मिश्रा के साम्राज्य के समय से ही मिलते हैं। मध्यकाल में जब भारत और यूरोप के बीच व्यापारिक रास्ते खुल गए तो नील की मांग अचानक बहुत ज्यादा बढ़ गई। इसी का नाजायज फायदा उठाकर ब्रिटिश के बागान मालिकों ने अपना फायदा उठाने का प्रयास किया और किसानों पर शोषण नीतियां लागू किया (Sharma, 2023)। जब यूरोपीय व्यापारियों ने पहली बार इस रंग को खरीदना और निर्यात करना शुरू किया तो इसका उत्पादन पश्चिमी भारत और उत्तरी भारत में होता था। इसे मुख्य रूप से सूरत भेजा जाता था और वहां से पुर्तगाली इसे लिस्बन ले जाते थे और आगे हालैंड के रंगरेज को भेज देते थे। इस प्रकार के व्यापार से अंग्रेज लोग बहुत मुनाफा कमाते थे। इस लालच के क्रम में ही उन्होंने अनेक प्रकार के किसानों पर नियम लगाये ताकि वह ज्यादा से ज्यादा नील की खेती के द्वारा मुनाफा प्राप्त कर सके (Singh, 2018)।

शोध अंतराल:-

उपर्युक्त साहित्य समीक्षा से यह पता चलता है कि ब्रिटिश के बागान मालिक ने बहुत चतुराई से अनेक ऐसे नियम कानून बनाए ताकि उस नियम का किसानों पर लागू करके नाजायज फायदा उठाया जा सके। क्योंकि किसान लोग जहां धान, गेहूं की खेती करते थे वह उपजाऊ भूमि होता था। वहां उन्हें जबरन नील की खेती करने के लिए मजबूर करने लगे। नतीजा यह हुआ कि नील की खेती के बाद वहां फसल नहीं उगाया जा सकता था। क्योंकि यह नील की खेती सारे उर्वरक शक्ति को शोष

लेती थी। इस कारण किसानों की दैनिक स्थिति होने लगी और किसान लोग अपने शोषण के विरुद्ध आवाज उठाने लगे। स्थानीय नेताओं ने इस आंदोलन को आगे बढ़ाया। यह आंदोलन उस समय कहां तक सही था और इसका भारत में क्या प्रभाव पड़ा। इस पर अध्ययन बहुत कम हुए हैं, इसलिए चंपारण विद्रोह के वास्तविकता को जानने के लिए यह अध्ययन आवश्यक है।

शोध का उद्देश्य:- चंपारण आंदोलन के प्रभावों को समझना।

आंकड़े संकलन की विधि:-

गांधी द्वारा चलाए गए चंपारण सत्याग्रह से संबंधित वास्तविक तथ्यों को प्राप्त करने के लिए मात्रात्मक शोध प्रविधि का प्रयोग करके वास्तविक तथ्य को ज्ञात किया गया है। क्योंकि मात्रात्मक शोध प्रविधि एक ऐसी वैज्ञानिक विधि है जिसके माध्यम से वास्तविक ज्ञान को प्राप्त किया जाता है। क्योंकि बिहार के चंपारण जिला में बागान मलको के द्वारा वहां के किसान के भूमि पर जबरन नील की खेती करने के लिए बाध्य किया जाता था। स्थिति यह होता था कि जिस भूमि पर नील की खेती किया जाता था वहां फसल उगाना बहुत मुश्किल काम होता था। क्योंकि नील की खेती के बाद वह भूमि बंजर हो जाती थी इसलिए किसानों की बहुत नुकसान उठाना पड़ता था। यह आंदोलन का क्या प्रभाव रहा समाज पर आदि से संबंधित अध्ययन करने के लिए सर्वेक्षण, रिकॉर्ड्स, रिव्यू, पत्र-पत्रिकाएं, बुक, इंटरनेट आदि के माध्यम से वास्तविक तथ्य को ज्ञात किया गया है।

विश्लेषण:-

ब्रिटिश हुकूमत के बागान मालिक बहुत ही चतुराई से किसानों को अपने चंगुल में फसाते थे। उन्हें उस जमीन पर नील की खेती करने के लिए मजबूर करते थे, जहां किसान गेहूं, धान जैसे अनेक फसल उगाते थे। यह फसल सिर्फ उपजाऊ भूमि पर ही होता है, वही बागान मालिक ने किसान को लालच देते थे या जबरन यह कहते थे कि आपको कुल भूमि के कुछ हिस्सों पर नील की खेती करना ही पड़ेगा। किसान उनकी आज्ञाओं के पालन अपनी अज्ञानता और डर के कारण करते थे। जिसका नतीजा यह होता था कि यह नील की खेती से ब्रिटिश हुकूम के बागान मलको के तो लाभ होता था। लेकिन किसान लोग अपनी मूलभूत आवश्यकताओं और खाद्य पदार्थों की न्यूनतम पूर्ति भी नहीं कर पाते थे। स्थिति इतना दयनीय हो गया था की वह आंदोलन करने के लिए मजबूर हो गए। इस प्रकार आर्थिक शोषण के साथ-साथ सामाजिक शोषण भी किया जाता था। इसलिए बिहार के लोगों ने यह नीति के खिलाफ खुलकर विरोध किया।

शोध का महत्व:-

- गांधी द्वारा चलाए गए चंपारण आंदोलन कि समाज पर क्या प्रभाव पड़ा उसको समझना आवश्यक है।
- यह आंदोलन के माध्यम से किस को क्या फायदा हुआ इस पर विचार करने की आवश्यकता है।
- चंपारण आंदोलन में स्थानीय लोगों को बहुत बड़ा भूमिका था। वहां के लोगों ने यह आंदोलन के कैसे सफल किया आदि को समझना अति आवश्यक है।
- चंपारण आंदोलन के माध्यम से लोगों ने कैसे राहत भरा सांस लिया और यह क्रांति का छोटा सा हिस्सा था, इसको समझना अति आवश्यक है।

निष्कर्ष:-

चंपारण आंदोलन का कोई एक कारण नहीं था, इसका अनेक कारण था। लेकिन नील की खेती इसका मुख्य कारण था। क्योंकि बागान मलकों के द्वारा किसानों पर शोषण और दमन चरम सीमा पर था। क्योंकि किसान अपने भूमि पर कौन सी खेती करेंगे उसको ब्रिटिश हुकूमत के अधिकारी और बागान मालिक मिलकर तय करते थे। यदि किसान अपनी स्थिति को देखते हुए वह कहता था कि हम नील की खेती नहीं करेंगे। तब किसानों पर शारीरिक अत्याचार बहुत किया जाता था और उनकी पूरी संपत्ति को नष्ट कर दी जाती थी। इतना वैभह स्थिति था कि उसकी कल्पना नहीं की जा सकती था गरीब और अशिक्षित किसान लोग डर से बागान मलकों की आज्ञा का पालन करते थे। चंपारण में बहुत गरीब किसान मजदूर लोग रहते थे, उनके पास भूमि की छोटी-छोटी टुकड़ी था। उस पर किसी प्रकार खेती करके फसल उगाते थे और अपना जीवन यापन

करते थे लेकिन बगान मालिक ने उन्हें यह कह देते थे कि यदि आप ने नील की खेती नहीं करेंगे तो माना जाएगा कि आप बागान मलकी की आज्ञाओं का पालन नहीं कर रहे हैं। स्थिति के देखते हुए कुछ किसान नील की खेती करते थे, लेकिन नील की शोर बहुत भूमि के अंदर तक जाता था और वह संपूर्ण मिट्टी का पोषण तत्व खींच लेता था। जिसके कारण नील की खेती जहां की जाती थी, वह भूमि प्राकृतिक तौर पर बंजर हो जाती थी। जहां धान, गेहूं या किसी प्रकार के सब्जी उगाना मुश्किल काम होता था। इतना ही नहीं क्योंकि नील को साफ करने के लिए और रंग को निकालने के प्रक्रिया में अत्यधिक मात्रा में पानी की आवश्यकता होती थी। नील की यह प्रक्रिया पूरी करने में बहुत ज्यादा पानी खपत होता था। स्थिति यह होता था कि जल के स्रोत में पानी की कमी आ जाती थी और अपशिष्ट जल प्रदूषण बढ़ता जाता था। जिसके कारण अनेक समस्याओं का सामना स्थानीय लोगों को करना पड़ता था। फिर भी ब्रिटिश हुकूमत के वफादार अधिकारी और बागान मालिकों ने यहां के स्थानीय लोगों पर दमन और शोषण करना बंद नहीं किया। यह स्थिति के देखते हुए बिहार के अनेक नेताओं सहित जानता ने भी जन आक्रोश में आकर यह आंदोलन किया। यह आंदोलन के माध्यम से अपने बागान मालिकों को बताने का प्रयास किया कि स्वतंत्रता की एक छोटी सी यह झांकी है अभी आजादी की तो लड़ाई तो बाकी।

संदर्भ सूची:-

- Jacob, E. (2018). A journey to Champaran: Celebrating 100 years of Neel Satyagraha. *International Journal of Applied Research*. 4(12). 370-371 Retrieved from <https://www.allresearchjournal.com/archives/2018/vol4issue12/PartF/4-12-38-249.pdf>
- Bhagat, U., K. (2021). A study of the legacy of Champaran Satyagrah in Contemporary India. *Airo Journal*. 4(3). 555-559. Retrieved from [https://www.airo.co.in/publications/33433-82421--thfhfhgupendra-kumar-bhagat-\(2\)--pape.pdf](https://www.airo.co.in/publications/33433-82421--thfhfhgupendra-kumar-bhagat-(2)--pape.pdf)
- Kumar, S. (2025). The Role of Mahatma Gandhi in the Champaran Satyagrah Movement. *International Journal for Multidisciplinary Research*. 7(6). 1-4. Retrieved from <https://www.ijfmr.com/papers/2025/6/63077.pdf>
- Manisha, R. (2021). Research on the Champaran Satyagraha's Influence in Contemporary India. *Airo Journal*. 3(3). 196-199. Retrieved from [https://www.airo.co.in/publications/66875-39806-ranixdfghdszg-manisha-paper-\(9\)-s-21.pdf](https://www.airo.co.in/publications/66875-39806-ranixdfghdszg-manisha-paper-(9)-s-21.pdf)
- Kumar, B. (2023). Champaran Satyagraha: A Reflection Of Gandhian Idea Of Justice. *International Journal of Creative Research Thoughts*. 11(3). 511-514. Retrieved from <https://www.ijcrt.org/papers/IJCRT23A6013.pdf>
- Duragappa, J., G. (2025). Gandhiji's Early Satyagraha Movements in India. *International Journal Of Novel Research And Development*. 10(2). 278-281. Retrieved from <https://www.ijnrd.org/papers/IJNRD2502138.pdf>
- Kumar, D. (2018). Indigo Plantations in Bihar Under Structure of Agrarian - A Critical Review. *International Journal of Scientific Research in Science and Technology*. 4(10). 485-488. Retrieved from <https://ijsrst.com/paper/7009.pdf>
- Sharma, D. (2028). Indigo Cultivation In India: The Story of Production and Destruction. Ecosystemic A Season Publication. Retrieved from <https://ecosystemicmag.org/indigo-cultivation-in-india-the-story-of-production-and-destruction/>
- Singh, (2018). cultivation of indigo in medieval india. *Journal of Emerging Technologies and Innovative Research*. 5(3). 996-999. Retrieved from <https://www.jetir.org/papers/JETIR1803188.pdf>

Impact of Sumithion and Alphamethrine on Oxidative Stress Biomarkers and Acetylcholinesterase (AChE) Activity in the Brain of Freshwater Catfish

DR. NEETU SINGH*
neetusinghmail90@gmail.com

Abstract

The pesticide contamination caused by intensive agricultural practices are increasingly threatening aquatic ecosystems. The current study examines the effects of Sumithion (fenitrothion) and alphamethrin on oxidative stress biomarkers and acetylcholinesterase (AChE) activity in the brain of freshwater catfish in the natural field environment. Fish were used to sample water bodies with different degrees of exposure to pesticides and biochemical parameters were analyzed to determine the presence of oxidative and neurotoxic effects. The findings showed that the lipid peroxidation (LPO) levels were significantly higher in fish at contaminated locations, which means increased oxidative damage. Conversely, the antioxidant defense mechanisms such as superoxide dismutase (SOD), catalase (CAT), and glutathione (GSH) were significantly reduced and this indicates loss of the protective mechanisms against reactive oxygen species. Moreover, it was observed that the activity of AChE was much inhibited in fish which were exposed to pesticides, showing the neurotoxicity of these substances. Overall, both the oxidative stress markers and the enzyme activity of the freshwater catfish, exposed to pesticides, suggests that pesticide exposure disrupts cellular homeostasis and neural activity of freshwater catfish. The paper has highlighted the hazards of agricultural chemicals running off into the environment and the importance of using biochemical indicators to track changes to the environment. The results can be utilized in their understanding of the toxicity effects pesticides produce on freshwater organisms and the necessity of effective management strategies to prevent the increase of chemicals in the freshwater ecosystems.

Keywords

Pesticide toxicity, Oxidative stress, Acetylcholinesterase (AChE), Freshwater catfish, Sumithion and Alphamethrin.

Introduction

The wide adoption of pesticides in the present day agricultural sector has brought serious concerns regarding their effects on aquatic food chains and in particular the freshwater environment. Organophosphates and synthetic pyrethroids are some of the most common pesticides used because they are effective in controlling pests. Nevertheless, agricultural runoff, leaching and drift of

* Department of Zoology, Jai Prakash University, Chapra

chemicals like Sumithion (fenitrothion) and alphamethrin are common causes of chemicals entering into water bodies and threatening non-target aquatic organisms. Freshwater fish particularly catfish are deemed as significant bioindicators of environmental pollution because they are sensitive to toxic substances and they are ecologically relevant. In this regard, it is necessary to study the biochemical and neurophysiological responses of fish to the exposure of pesticides to understand the ecological risks of these contaminants.

Oxidative stress is one of the key routes through which pesticides cause toxicity. The consequences of the imbalance between the generation of reactive oxygen species (ROS) and the antioxidant defense system are cellular damage. Some of the common biomarkers that can be used to determine oxidative damage by environmental stressors in fish include superoxide dismutase (SOD), catalase (CAT), glutathione (GSH), and lipid peroxidation (LPO). A few studies have shown that exposure to pesticides and other pollutants significantly changes these biomarkers, indicating that cellular homeostasis has been disrupted. This study known that organophosphate pesticides like Sumithion inhibit the activity of AChE, which may result in the accumulation of acetylcholine and continuous stimulation of neurons leading to neuromuscular dysfunction and behavioral abnormalities. Its importance as a biomarker of neurotoxicity has been reported in previous studies that reported significant inhibition of AChE activity in fish exposed to organophosphates confirming its significance (Oruc, 2009; Raibeemol & Chitra, 2020)). Whereas the pyrethroids, such as alphamethrin, are known to act, principally, on sodium channels within nerve cells, other effects, which are indirect, can also occur, particularly on the AChE activity.

The freshwater catfish like *Clarias gariepinus* are popular in ecotoxicology studies as they are adaptable, economically important and sensitive to environmental pollutants. Although these fish are resilient, they are significantly affected by exposure to pesticides, such as increased lipid peroxidation, disrupted antioxidant defense systems, and reduced AChE activity (Mahboub et al., 2021; Mohamed et al., 2020)). Such alterations can negatively impact the health and survival of fish and eventually affect aquatic life.

In this regard, the current study will assess the toxicity of Sumithion and alphamethrin on freshwater catfish. In particular, the research aims at evaluating changes in oxidative stress biomarkers in the brain and determining the effects of these pesticides on acetylcholinesterase (AChE) activity, therefore, providing an insight into the combined oxidative and neurotoxic effects of these pesticides.

Methodology

The current study was conducted as a field-based observational study to assess the effect of the pesticide contamination on the oxidative stress biomarkers as well as acetylcholinesterase (AChE) activity in the brain of freshwater catfish. The research was based solely on the environment of nature where fish were subjected to pesticides by the agricultural runoff in their natural environments. No exposure or controlled experimental design was applied, making sure that the results are representative of the ecological conditions in the real world.

1. Study Area Selection

Sampling locations were selected in the fresh water bodies including rivers, ponds and irrigation canals which are located in agricultural areas with known use of pesticides. Environmental monitoring reports and agricultural data provided by the agencies like the Central Pollution Control Board, Tamil Nadu Pollution Control Board, and Food and Agriculture Organization helped to identify these locations. Based on the available data, there were high pesticide exposure areas that were located near agricultural fields and low exposure reference areas that were located far away in areas that were not engrossed in intensive agricultural production activities. This classification allowed comparing contaminated and rather clean environments.

2. Fish Sampling (Primary Data Collection)

The freshwater cat fish (*Clarias gariepinus*) were sampled directly by using the traditional fishing techniques like nets and traps in the selected natural water bodies with the help of the local fishermen. Enough fish of each location were collected to be statistically reliable and only healthy people of similar size and weight were selected to minimize variability. The fish were carried to the laboratory using aerated containers with water of their respective habitats to ensure physiological stability and reduce the amount of stress and stress experienced by the fish during transit.

3. Water Quality and Pesticide Data Collection

Water samples were taken at the same time in each sampling point in order to measure the physicochemical parameters and the level of contamination of the pesticides. On-site measurement was done using portable equipment to measure parameters like temperature, pH, dissolved oxygen and turbidity. Standard analytical methods were used to determine the presence and levels of pesticides (organophosphates and pyrethroids). The guidelines that were issued by the World Health Organization as well as the United States Environmental Protection Agency provided the reference values and allowed limits of pesticide residues. Also, the data of CPCB and TNPCB on the regional monitoring was used to validate the level of contamination in the chosen areas.

4. Sample Dispensation and Tissue Gathering

The captured fish on arrival at the fish lab were already under anesthetic and were dissected in a sterile environment. The tissues of the brain were carefully removed and washed with ice cold physiological saline in order to eliminate blood and impurities and then it was stored at -20 C until further analysis. The homogenates of tissues were prepared to carry out biochemical assays based on the appropriate buffer solution which ensured consistency and accuracy of measurement.

5. Biochemical Analysis

Oxidative stress levels were measured in the brain tissues by measuring the key biomarkers such as lipid peroxidation (LPO), superoxide dismutase (SOD), catalase (CAT), and reduced glutathione (GSH). The estimation of lipid peroxidation was used as a measure of cellular membrane damage and antioxidants enzymes like the SOD and CAT were measured as indicative of the defence mechanism against reactive oxygen species. The amount of glutathione was determined to determine the total antioxidant activity of the tissue. Also, the acetylcholinesterase (AChE) activity was measured using standard spectrophotometric technique, which is used to measure the rate of hydrolysis of acetylcholine. This enzyme activity was a major indicator of neurotoxicity that was caused by the exposure to pesticides.

To enhance the credibility of the study, the environmental data and baseline information were collected using authentic sources like CPCB, TNPCB, FAO, WHO and US EPA. These sources presented standard information on the use of pesticide, the level of the pollution of the environment, and the safety limits that can be tolerated. The combination of these data made sure that the field observations were put into place within a set regulatory and environmental framework.

6. Statistical Analysis

The data collected were presented in the form of mean $\pm$ standard deviation. The statistical analysis was done by using one way analysis of variance (ANOVA) to determine significant differences between fish in various sampling areas. Correlation analysis was also performed to investigate the relationship between the level of contamination of pesticides and biochemical responses of fish brain tissues. All statistical tests would have a significant level of $p < 0.05$.

Any process that was associated with the collection and manipulation of fish was done in line with ethical considerations of animal research. Relevant authorities were consulted to give necessary instructions and attention was taken to ensure that the stress and damage to the fish during the research were minimized.

Results and discussion

Table 1: Oxidative Stress Biomarkers in Brain Tissue of Freshwater Catfish

Parameter	Control	Low Exposure Site	High Exposure Site
Lipid Peroxidation (nmol MDA/mg protein)	2.10 ± 0.20	3.65 ± 0.27	5.52 ± 0.33
Superoxide Dismutase (U/mg protein)	8.50 ± 0.40	6.80 ± 0.32	5.05 ± 0.28
Catalase (U/mg protein)	12.45 ± 0.50	9.70 ± 0.38	7.20 ± 0.34
Glutathione ($\mu\text{g}/\text{mg}$ protein)	6.80 ± 0.30	5.05 ± 0.25	3.60 ± 0.20

This difference in the biomarkers of oxidative stress in the brain tissue of freshwater catfish caught in an environment contaminated with pesticides is noticeable as the results in Table 1 show. The lipid peroxidation (LPO) as one of the main indicators of oxidative damage significantly increased between control and high exposure sites, indicating an increase in the production of reactive oxygen species (ROS) in contaminated habitats. When the LPO levels increase, it is an indication that there is cell membrane damage which is most pronounced in neural tissues which contain a lot of lipid.

Conversely, antioxidant defense parameters such as, superoxide dismutase (SOD), catalase (CAT) and reduced glutathione (GSH) has demonstrated progressive reducing effect on exposed fish. This reduction may be explained by the loss of the antioxidant system in attempts to neutralize the excessive amount of ROS. The decrease in activity of SOD and CAT is indicative of the impaired non-enzymatic defense.

The imbalance between the generation of ROS and antioxidant defense in the presence of an oxidative stress in fish living in contaminated water bodies is confirmed. These results indicate that chronic exposure of pesticides such as Sumithion and alphamethrin interferes with cellular homeostasis resulting in biochemical changes in brain tissues.

Table 2: Acetylcholinesterase (AChE) Activity in Brain Tissue

Parameter	Control	Low Exposure Site	High Exposure Site
AChE Activity ($\mu\text{mol/min/mg protein}$)	9.30 ± 0.42	7.05 ± 0.35	4.80 ± 0.30

The results presented in the Table 2 show the significant decrease of the acetylcholinesterase (AChE) activity in the brain tissue of freshwater catfish collected in the pesticides-exposed environment. The highest activity of AChE in the control group and a progressive decrease in the activity of AChE in fish of low and high-exposure areas, testified the strong inhibitory activity of pesticide contamination on the functions of neural enzymes.

AChE inhibition is an established biomarker of neurotoxicity, notably that of organophosphate pesticides such as Sumithion. These compounds will inhibit AChE by binding to its active site and preventing the breakdown of the neurotransmitter acetylcholine. Consequently, acetylcholine gathers at the synaptic junctions causing the neurons to be continuously stimulated. This may lead to neuromuscular dysfunction, abnormalities in behavior and physiological responses impairment in fish.

Though the alphas-methrin presence mainly targets sodium channels in nerve cells, its presence in combination with organophosphates may have an indirect yet potentially enhancing effect on neurotoxic effects by increasing oxidative stress. The lower AChE activity in this study indicates that fish in the contaminated locations are greatly impaired in the neurotransmission processes.

Altogether, the reduction in AChE activity, as well as, the increased oxidative stress, demonstrate that the exposure to pesticides influences both biochemical and neurological activities in freshwater catfish. The results also highlight the significance of AChE in the evaluation of neurotoxicity caused by pesticides in aquatic life.

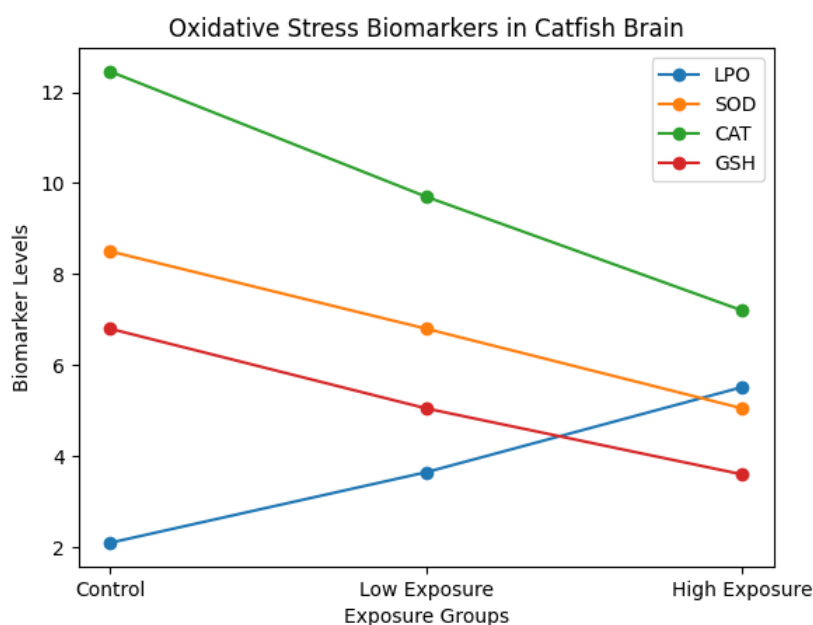


Figure.1 Changes in oxidative stress biomarkers (LPO, SOD, CAT, and GSH) in the brain of freshwater catfish under different pesticide exposure levels

Fig.1, shows clearly the variation in oxidative stress biomarkers in the different exposure groups of fresh water catfish. The increasing trend observed in Lipid peroxidation (LPO) between control and high exposure conditions is consistently increasing with the change of conditions. This increase is an indication of greater production of reactive oxygen species (ROS), which attack lipid molecules of the membrane and disrupt cell integrity, especially in brain tissues that are rich in polyunsaturated fatty acids.

On the contrary, the antioxidant defense parameters of superoxide dismutase (SOD), catalase (CAT), and glutathione (GSH) all show a decreasing trend as the exposure level increases. This decrease in SOD and CAT indicates that the fish has a weakened system of enzymatic defense mechanisms against superoxide radicals and hydrogen peroxide. Equally, a reduction in the glutathione level means that non-enzymatic antioxidants are depleted in the state of prolonged stress.

Conclusion

Overall, the study clearly indicate that the presence of pesticide contamination in the natural aquatic systems has a strong influence on the oxidative stress and neurophysiological functions in the freshwater catfish. The observed rise in levels of lipid peroxidation, as well as the simultaneous decrease in antioxidant enzyme (e.g. superoxide dismutase, catalase, glutathione) levels, point to an increase in oxidative damage in brain tissues, and a weakening of the defense system against reactive oxygen species. These alterations affirm that the exposure to such pesticides as Sumithion and alphamethrin causes the oxidative imbalance and dysfunction of cells. In sum, this paper highlights the essence of monitoring the pesticide pollution of freshwater ecosystems and using biochemical biomarkers as a valid indicator of environmental stress. The findings recommend tighter control and sustainable use of pesticides to minimize their negative impacts on fresh water life and to guarantee the long-term health and stability of fresh water ecosystem.

References

- Almeida, É. C., Passos, L. S., Vieira, C. E. D., Acayaba, R. D., Montagner, C. C., Pinto, E., Martinez, C. B. D. R., & Fonseca, A. L. (2021). Can the insecticide Imidacloprid affect the health of the Neotropical freshwater fish *Astyanax altiparanae* (Teleostei: Characidae)? *Environmental Toxicology and Pharmacology*, 85, 103634. <https://doi.org/10.1016/j.etap.2021.103634>
- Asl, R. S., Shariatmadari, F., Sharafi, M., Torshizi, M. a. K., & Shahverdi, A. (2018). Dietary fish oil supplemented with vitamin E improves quality indicators of rooster cold-stored semen through reducing lipid peroxidation. *Cryobiology*, 84, 15–19. <https://doi.org/10.1016/j.cryobiol.2018.08.008>
- Baker, B. P., Van Wie, I., Braun, E., & Jimenez, A. G. (2020). Thermal stability vs. variability: Insights in oxidative stress from a eurytolerant fish. *Comparative Biochemistry and Physiology Part a Molecular & Integrative Physiology*, 249, 110767. <https://doi.org/10.1016/j.cbpa.2020.110767>
- Banday, U. Z., Swaleh, S. B., & Usmani, N. (2020). Heavy metal toxicity has an immunomodulatory effect on metallothionein and glutathione peroxidase gene expression in *Cyprinus carpio* inhabiting a

- wetland lake and a culture pond. *Chemosphere*, 251, 126311. <https://doi.org/10.1016/j.chemosphere.2020.126311>
- Formicki, G., Goc, Z., Bojarski, B., & Witeska, M. (2025). Oxidative stress and neurotoxicity Biomarkers in fish toxicology. *Antioxidants*, 14(8), 939. <https://doi.org/10.3390/antiox14080939>
- Haider, K., Haider, M. R., Neha, K., & Yar, M. S. (2020). Free radical scavengers: An overview on heterocyclic advances and medicinal prospects. *European Journal of Medicinal Chemistry*, 204, 112607. <https://doi.org/10.1016/j.ejmech.2020.112607>
- Iturburu, F. G., Bertrand, L., Mendieta, J. R., Amé, M. V., & Menone, M. L. (2018). An integrated biomarker response study explains more than the sum of the parts: Oxidative stress in the fish *Australoheros facetus* exposed to imidacloprid. *Ecological Indicators*, 93, 351–357. <https://doi.org/10.1016/j.ecolind.2018.05.019>
- Jia, R., Du, J., Cao, L., Feng, W., He, Q., Xu, P., & Yin, G. (2021). Application of transcriptome analysis to understand the adverse effects of hydrogen peroxide exposure on brain function in common carp (*Cyprinus carpio*). *Environmental Pollution*, 286, 117240. <https://doi.org/10.1016/j.envpol.2021.117240>
- Lee, J., Kim, J., Lee, D., Lim, H., & Kang, J. (2022). Toxic Effects on Oxidative Stress, Neurotoxicity, Stress, and Immune Responses in Juvenile Olive Flounder, *Paralichthys olivaceus*, Exposed to Waterborne Hexavalent Chromium. *Biology*, 11(5), 766. <https://doi.org/10.3390/biology11050766>
- Lee, J., Lee, J., Deng, D., Lee, J., Lee, J., Kim, K., Jung, H. J., Choe, Y., Park, S. H., & Yoon, M. (2020). The adverse effects of selenomethionine on skeletal muscle, liver, and brain in the steelhead trout (*Oncorhynchus mykiss*). *Environmental Toxicology and Pharmacology*, 80, 103451. <https://doi.org/10.1016/j.etap.2020.103451>
- Liu, M., Guo, H., Liu, B., Zhu, K., Guo, L., Liu, B., Zhang, N., Yang, J., Jiang, S., & Zhang, D. (2021). Gill oxidative damage caused by acute ammonia stress was reduced through the HIF-1 α /NF- κ B signaling pathway in golden pompano (*Trachinotus ovatus*). *Ecotoxicology and Environmental Safety*, 222, 112504. <https://doi.org/10.1016/j.ecoenv.2021.112504>
- Mahboub, H. H., Khedr, M. H., Elshopakey, G. E., Shakweer, M. S., Mohamed, D. I., Ismail, T. A., Ismail, S. H., & Rahman, A. N. A. (2021). Impact of silver nanoparticles exposure on neuro-behavior, hematology, and oxidative stress biomarkers of African catfish (*Clarias gariepinus*). *Aquaculture*, 544, 737082. <https://doi.org/10.1016/j.aquaculture.2021.737082>
- Manrique, W. G., Figueiredo, M. a. P., Charlie-Silva, I., De Andrade Belo, M. A., & Dib, C. C. (2019). Spleen melanomacrophage centers response of Nile tilapia during *Aeromonas hydrophila* and *Mycobacterium marinum* infections. *Fish & Shellfish Immunology*, 95, 514–518. <https://doi.org/10.1016/j.fsi.2019.10.071>
- Mohamed, A. A., El-Houseiny, W., El-Murr, A. E., Ebraheim, L. L., Ahmed, A. I., & El-Hakim, Y. M. A. (2019). Effect of hexavalent chromium exposure on the liver and kidney tissues related to the expression of CYP450 and GST genes of *Oreochromis niloticus* fish: Role of curcumin supplemented diet. *Ecotoxicology and Environmental Safety*, 188, 109890. <https://doi.org/10.1016/j.ecoenv.2019.109890>
- Mohamed, A. A., Rahman, A. N. A., Mohammed, H. H., Ebraheim, L. L., Abo-ElMaaty, A. M., Ali, S. A., & Elhady, W. M. (2020). Neurobehavioral, apoptotic, and DNA damaging effects of sub-chronic

- profenofos exposure on the brain tissue of *Cyprinus carpio* L.: Antagonistic role of Geranium essential oil. *Aquatic Toxicology*, 224, 105493. <https://doi.org/10.1016/j.aquatox.2020.105493>
- Oruç, E. Ö. (2009). Oxidative stress, steroid hormone concentrations and acetylcholinesterase activity in *Oreochromis niloticus* exposed to chlorpyrifos. *Pesticide Biochemistry and Physiology*, 96(3), 160–166. <https://doi.org/10.1016/j.pestbp.2009.11.005>
- Ottinger, C. A., Smith, C. R., & Blazer, V. S. (2019). In vitro immune function in laboratory-reared age-0 smallmouth bass (*Micropterus dolomieu*) relative to diet. *Fish & Shellfish Immunology*, 95, 1–10. <https://doi.org/10.1016/j.fsi.2019.10.005>
- Raibeemol, K., & Chitra, K. (2020). Induction of immunological, hormonal and histological alterations after sublethal exposure of chlorpyrifos in the freshwater fish, *Pseudotropheus maculatus* (Bloch, 1795). *Fish & Shellfish Immunology*, 102, 1–12. <https://doi.org/10.1016/j.fsi.2020.04.005>
- Sánchez-Nuño, S., Sanahuja, I., Fernández-Alacid, L., Ordóñez-Grande, B., Carbonell, T., & Ibarz, A. (2019). Oxidative attack during temperature fluctuation challenge compromises liver protein homeostasis of a temperate fish model. *Comparative Biochemistry and Physiology Part B Biochemistry and Molecular Biology*, 236, 110311. <https://doi.org/10.1016/j.cbpb.2019.110311>
- Shahab, M., Rosati, R., Meyer, D. N., Shields, J. N., Crofts, E., Baker, T. R., & Jamesdaniel, S. (2020). Cisplatin-induced hair cell loss in zebrafish neuromasts is accompanied by protein nitration and Lmo4 degradation. *Toxicology and Applied Pharmacology*, 410, 115342. <https://doi.org/10.1016/j.taap.2020.115342>
- Tan, X., Sun, Z., Liu, Q., Ye, H., Zou, C., Ye, C., Wang, A., & Lin, H. (2017). Effects of dietary ginkgo biloba leaf extract on growth performance, plasma biochemical parameters, fish composition, immune responses, liver histology, and immune and apoptosis-related genes expression of hybrid grouper (*Epinephelus lanceolatus* ♂ × *Epinephelus fuscoguttatus* ♀) fed high lipid diets. *Fish & Shellfish Immunology*, 72, 399–409. <https://doi.org/10.1016/j.fsi.2017.10.022>
- Topal, A., Çomaklı, S., Özkara, M., Baran, A., Köktürk, M., Parlak, V., Sağlam, Y. S., Atamanalp, M., & Ceyhan, S. B. (2017). Immunofluorescence evaluation of 4-hydroxynonenal and 8-hydroxy-2-deoxyguanosine activation in zebrafish (*Danio rerio*) larvae brain exposed (microinjected) to propyl gallate. *Chemosphere*, 183, 252–256. <https://doi.org/10.1016/j.chemosphere.2017.05.110>
- Wang, S., Meng, F., Liu, Y., Xia, S., & Wang, R. (2020). Exogenous inositol ameliorates the effects of acute ammonia toxicity on intestinal oxidative status, immune response, apoptosis, and tight junction barriers of great blue-spotted mudskippers (*Boleophthalmus pectinirostris*). *Comparative Biochemistry and Physiology Part C Toxicology & Pharmacology*, 240, 108911. <https://doi.org/10.1016/j.cbpc.2020.108911>
- Zhang, L., Zheng, X., Huang, Y., Ge, Y., Sun, M., Chen, W., Liu, W., & Li, X. (2021). Carbonyl cyanide 3-chlorophenylhydrazone induced the imbalance of mitochondrial homeostasis in the liver of *Megalobrama amblycephala*: A dynamic study. *Comparative Biochemistry and Physiology Part C Toxicology & Pharmacology*, 244, 109003. <https://doi.org/10.1016/j.cbpc.2021.109003>
- Zhong, Y., Shen, L., Ye, X., Zhou, D., He, Y., & Zhang, H. (2020). Mechanism of immunosuppression in zebrafish (*Danio rerio*) spleen induced by environmentally relevant concentrations of perfluorooctanoic acid. *Chemosphere*, 249, 126200. <https://doi.org/10.1016/j.chemosphere.2020.126200>

वैश्वीकरण और स्त्री अस्मिता के प्रश्न

डॉ. रीतेश रावत*

Reeteshrawat52@gmail.com

शोध सार-

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात संप्रति, राजनीति, अर्थनीति, समाज व संस्कृति को गहरे रूप से प्रभावित करने वाली प्रक्रिया को हम वैश्वीकरण के नाम से जानते हैं। इसके लिए भूमण्डलीकरण, विश्वायन, ग्लोबलाइजेशन, जगतीकरण, नव-साम्राज्यवाद, नव उपनिवेशवाद, नव-उदारवाद, जैसे शब्दों का बहुधा प्रयोग होता रहा है। वैश्वीकरण बीसवीं शताब्दी की महत्वपूर्ण घटना है क्योंकि इसके अन्तर्गत विभिन्न मुद्दों के साथ स्त्री विमर्श के समसमायिक विषयों को उठाया गया है। स्त्री विमर्श केवल अब एक सरहद तक नहीं वरन वैश्विक स्तर पर स्त्री स्वातंत्र्य का आह्वान करना है। आज स्त्रियाँ पारिवारिक पितृसत्तामकता से बाहर तो आई है परन्तु वही उसके अस्तित्व का भी हनन हुआ है। पश्चिमी देशों में स्त्री मुक्ति के कई आन्दोलन हुए हैं। भूमण्डलीकरण मीडिया, पंजीवाद एवं बाजारीकरण ने महिलाओं को स्वावलम्बी बनाया तो वहीं उसके स्थापत्य पर प्रश्न चिन्ह भी खड़ा कर दिया। उन्हें संवैधानिक अधिकार तो प्राप्त है, लेकिन कहीं न कहीं उसके जीवन पर उसका स्वयं का अधिकार नहीं है। यह आजादी अधूरी आजादी लगती है। उसकी सामाजिक स्थिति एवं मानव अधिकारों के स्वरूप में वह कहीं नहीं है लेकिन इस सृष्टि में वह सब जगह है। उसके बिना न संसार चलता है, न परिवार, न घर, न समाज। विश्व के सर्वोत्तम शिखर पर काबिज होने के पश्चात भी स्त्री का निम्न स्थान पर बना रहना चिन्तनीय विषय है। संक्षेप में कहे तो एक ओर भूमण्डलीकरण ने स्त्रियों की स्थिति में सुधार किया परन्तु जो सुधार, जो दशा और दिशा की महती आवश्यकता है, वह अभी शेष है।

बीज शब्द- भूमण्डलीकरण, स्त्री विमर्श, अस्तित्व एवं अस्मिता, बाजारवाद संस्कृति, वैश्वीकरण की प्रक्रिया, सामाजिकता, स्वतंत्रता, पश्चिमी संस्कृति, राजनीति एवं अर्थनीति।

मूल लेख-

भारत में भूमण्डलीकरण ने बाजारवादी संस्कृति और उपभोक्तावादी संस्कृति को जन्म दिया। यह संस्कृति मानवों को सदैव उपभोक्ता की दृष्टि से देखती है जिसका प्रमुख उद्देश्य हर प्रकार से लाभ अर्जित करना है इस नव पूँजीवादी तथा नव साम्राज्यवादी संस्कृति में उपभोक्ता को अपनी ओर आकर्षित कर अधिक माल बेचने के लिए महिलाओं को साधन बनाकर प्रयोग में लाया जा रहा है। भूमण्डलीकरण के इस दौर में स्त्री किसी प्रकार पुनः उपनिवेशित संस्कृति के मायाजाल में फँसती जा रही है उसका एहसास अभी उसे नहीं है। प्रसिद्ध स्त्रीवादी चिंतक प्रभा खेतान लिखती है कि- “भूमण्डलीकरण जीवन के हर कोने में अस्तित्व के हर रूप का वस्तुकरण करता है।” वैश्वीकरण और बाजारवाद के इस समय में जीवन और मानुषिक परिस्थितियों में परिवर्तन आया है, रहन-सहन के आयाम भी बदल गए परन्तु स्त्री और उसकी अस्मिता का प्रश्न आज भी वही है कि एक स्त्री का संसार कितना बदला। महिला शोषण के जितने भी मामले दर्ज होते हैं इसका प्रमुख कारण निरक्षरता, अंधविश्वास, परंपरागत रुढ़िया आदि है। ग्लोबलाइजेशन के कारण संचार क्रांति तो अवश्य आई परन्तु उससे भी यह ज्ञात होता है कि अभी भी भारत में लिंगानुपात में गिरावट जारी है। समाज ने स्त्रियों को ऐसा समाजीकरण तैयार किया है कि अधीनता को वह स्वयं भीतर तक आत्मसात कर बैठी है। शिक्षा, स्वास्थ्य, राजनीतिक स्वतंत्रता, आर्थिक स्वतंत्रता, अस्तित्व बोध यहां तक कि स्वयं की अस्मिता जैसे मौलिक अधिकारों से वह आज भी वंचित है। प्रभा खेतान लिखती हैं- “नारीवादी श्रम के संदर्भ में सैद्धान्तिक स्पष्टता, नारीवादी दृष्टिकोण की अलग से जरूरत इसलिए है कि जब तक श्रमजीवी महिलाएं इसे हासिल नहीं कर

* असिस्टेंट प्रोफेसर (हिन्दी विभाग), बरेली कॉलेज, बरेली

लेती तब तक शोषण का विरोध महज व्यक्तिगत प्रलाप माना जायेगा। लेकिन यह समस्या व्यक्तिगत प्रलाप की नहीं है। जरूरत है कि नारीवादी सोच और चिंतन न केवल स्थानीय बल्कि भूमण्डलीकरण स्तर पर संवाद स्थानीय समस्याओं को समझने की चेष्टा करें।”

भूमण्डलीकरण 20वीं शताब्दी की ऐसी घटना है जिसने समूचे विश्व को अर्थ के महत्ता की दृष्टि प्रदान की। वस्तु, विमर्श या मनुष्य सभी को अर्थ की नजरों से देखा जाने लगा। यह कहने में संकोच नहीं किया जा सकता कि वैश्वीकरण ने विश्व को ‘अर्थ’ मानक चश्मा दिया जिसको लगाने के बाद पूरी दुनिया बाजार सदृश दिखने लगी। भूमण्डलीकरण की अवधारणा के बीच समय में ही ‘उदारीकरण’ और ‘निजीकरण’ की अवधारणा की भी उत्पत्ति होती है जिसने वैश्विक संबंधों को व्यापक रूप से प्रभावित किया और कला, साहित्य, समाज, संस्कृत, भाषा, विचार आदि के आदान-प्रदान का रास्ता खोल दिया। किंतु विकसित देशों की अपेक्षा विकासशील देशों पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा जिससे विकासशील देशों में विकसित देशों की विचारधारा भी भीतर तक पैठ कर गयी और बाजारवादी संस्कृति से स्थितियां डगमगा गई।

इसी बाजारवादी संस्कृति को परिभाषित करती हुई प्रभा खेतान लिखती है- “भूमण्डलीकरण तो वह बिजली है जिससे आपका घर रोशन भी हो सकता है और आपके घर में आग भी लग सकती है।” बाजारीकरण और वैश्वीकरण के युग में आवश्यकता आविष्कार की जननी नहीं रह गई। अब तो आविष्कार ही आवश्यकता का जनक है। व्यावसायिक संस्कृति समाज की प्रत्येक वस्तु को बिकाऊ बना देती है उसे समाज से अधिक मुनाफे की चिंता रहती है बाजार तंत्र की यह आवश्यकता है कि उसे खरीद और बिक्री करने वाले मिलते रहे। जो आदमी खरीदने की क्षमता नहीं रखता वस्तुओं की मांग पूरी नहीं कर सकता वह आदमी बाजार तंत्र की इस संस्कृति के लिए पूर्णतया बेकार है। जिस संस्कृति में हमारा पालन पोषण हुआ है उसके साथ सबसे बड़ी त्रासदी यह हुई है कि हम तथा कथित वैश्वीकरण समाज के सभ्य नागरिक होने के उतावलेपन से अपने भीतर मानवीय भाव तथा स्व की चेतना को गँवाते जा रहे हैं।

देश, समय, काल कोई भी हो स्त्री का शोषण समाज में बढ़ता ही जा रहा है यूँ ही नहीं विश्व में इस असमानता के प्रति स्त्री विमर्श धीरे-धीरे बढ़ रहा है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण से देखें तो पूंजीवादी युग में ही बड़े पैमाने पर उद्योग धंधों का विकास प्रारंभ किया गया जिससे एक नए वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ जो पूंजीपति वर्ग का था। ये अपने उद्योग में अधिक लाभ कमाना चाहते थे इसलिए रास्ते श्रम की तलाश में स्त्रियों को काम पर रखना आरंभ कर दिया। लेकिन वह अधिक समय तक कारखाने में नहीं टिक पाई और उन्हें घर के कार्यों तक सीमित कर दिया जिससे पुरुष बिना किसी चिंता या तनाव के काम कर सके। इसके विपरीत जो स्त्री पारिवारिक सीमा को लाँघ सार्वजनिक क्षेत्र में काम करने की इच्छुक थीं उन्हें पुरुषों की तुलना में कम भुगतान किया जाता था।

भूमण्डलीकरण के कारण ही उत्पादन के क्षेत्र में नई तकनीकी परिवर्तन आने से स्त्रियों का रोजगार क्षेत्र प्रभावित हुआ है, वह रोजगार नहीं पा रही है। कम पढ़ी-लिखी या जो तकनीकी शिक्षा नहीं प्राप्त की वह स्त्रियां अधिक संघर्ष करती दिखाई दे रही है। उत्पादन के क्षेत्र में निरंतर मशीनरी व तकनीकी बदलाव के कारण लघु एवं कुटीर उद्योग प्रभावित हुए जिसे अधिकाधिक स्त्रियां ही जुड़ी रहती है। इनके समाप्त होने के पश्चात इनसे जुड़ी महिलाएं बेरोजगार हो रही हैं। यहां तक की स्त्रियों से जुड़ी हस्तकला को भी संघर्ष करना पड़ रहा है। मशीन और तकनीकी के कारण बनने वाली वस्तुएं कम दामों में बाजार में उपलब्ध हो जाती हैं जबकि हस्त निर्मित वस्तुएं महंगी होती हैं। प्रभा खेतान लिखती है- “पश्चिम के प्रतिमानों से प्रेरणा जरूर लेनी चाहिए, मगर स्त्री श्रम के सही मूल्यांकन के लिए जमीनी प्रतिमानों की जरूरत पड़ेगी। भारत जैसे विकासशील देशों की स्त्रियों को न केवल अपने पितृसत्तात्मक सामाजिक प्रतिरोधी का सामना करना पड़ रहा है बल्कि पश्चिम की तकनीकी वर्चस्वता के दबाव भी झेलने पड़ रहे हैं।”

भारत को उदारीकरण, निजीकरण, भूमण्डलीकरण की नीति का अनुकरण करते हुए लगभग 25 वर्ष हो गए। इन 25 वर्षों में स्त्रियों के लिए ही नहीं संसार के प्रत्येक प्राणी के लिए कुछ ना कुछ बदल गया। उपभोक्ता संस्कृति की नजर हमेशा से स्त्रियों पर रही। स्त्री चेतना के स्वरूप में भी बदलाव आ रहा है। स्त्रियों ने समाज के हर पक्ष के साथ कदम ताल मिलाना शुरू किया उसने सोचना शुरू किया कि क्या यह मेरे हित में है? उसने पहले तो मॉडल तथा विश्व सुंदरी प्रतियोगिता का विरोध किया परंतु बहुत जल्द ही स्त्रीवादी चिंतकों को यह बात समझ आ गई कि व्यक्ति का विरोध करके नहीं अपितु प्रतिरोध के माध्यम से बहुराष्ट्रीय निगमों की संस्कृति के प्रचार प्रसार पर दबाव बना इन्हें रोका जाना चाहिए। प्रभा खेतान लिखती है कि- “स्त्री सौंदर्य की समकालीन परिभाषा तो मीडिया और विज्ञापन ही निर्मित करते हैं अतः इनसे प्रभावित स्त्री असुरक्षित हैं और

आत्मछवि के प्रति संशयग्रस्त हुई है। वह बार-बार अपने आप से पूछती है कि क्या मैं ठीक हूँ? क्या मेरा रंग ठीक है? चेहरे पर कोई दाग तो नहीं? कमर ज्यादा चौड़ी नहीं?

लेखिका टास्को स्वयं पर पड़ने वाले उपभोक्तावादी विज्ञापनों के प्रभाव को नकरती है। टास्को बाजारवादी संस्कृति और तंत्र का विरोध इसलिए करती है क्योंकि बाजार तंत्र न केवल स्त्री अस्मिता और उसकी आत्मा छवि के लिए घातक है बल्कि समस्त पर्यावरण को भी दूषित करता है। वह कहती है- “एक नागरिक की हैसियत से हमें दो विरोधाभासी प्रतिमानों का सम्मान करना पड़ता है जबकि इन दो में से किसी एक का चुनाव अत्यंत कठिन है।”

ग्लोबलाइजेशन के इस दौर में स्त्री छवि का प्रश्न भी महत्वपूर्ण हो जाता है। परिवर्तित समय में समाज में स्त्री की छवि पूर्णतया बदली हुई नजर आ रही है। इन परिवर्तन के पीछे स्त्री विमर्श मुक्ति आंदोलन तथा महिला सशक्तिकरण की भूमिका अहम है। जहां एक ओर स्त्री की विभिन्न समस्याओं पर विचार विमर्श हो रहा वहीं दूसरी ओर उसकी विविध छवियों पर भी चर्चा हो रही है। एक तरफ मीडिया विज्ञापनों के माध्यम से छवि गढ़ रही है वहीं दूसरी ओर प्रतिपक्ष में साहित्यकार अपनी साहित्य में स्त्री की नयी छवि गढ़ने को आतुर है। बहस और चिंतन का सिलसिला जारी है, दोनों ओर से ही अपने-अपने तर्क रखे जा रहे हैं। विज्ञापनों और मीडिया में जहां स्त्री उपभोक्ता के रूप में दिखती है वही साहित्य में स्त्री की गरिमा और व्यक्ति अस्मिता प्रदान करने की कोशिश की जा रही है।

हजारों सालों से पुरुषवादी सोच के अधीन स्त्री उन्हीं पुरुषवादी मानसिकता और संस्कृति की संवाहिका बन जाती है जिसका लाभ बाजार उठाता है। द सेकेंड सेक्स की लेखिका सीमोन द बोउवार कहती है कि ‘स्त्री पैदा नहीं होती बल्कि उसे बना दिया जाता है।’ भूमण्डलीकरण में स्त्री को स्त्री बनाने की प्रक्रिया तेज हुई है। इस प्रक्रिया के अंतर्गत हम देखते हैं कि अनजाने में ही स्त्री के प्रति एक द्वन्द्वात्मक स्थिति पैदा कर दी है। “नब्बे के दशक शुरू होने से ठीक पहले नारीवादी विद्वान सिंधिया एनेला ने भूमण्डलीकरण के समर्थकों से पूछा कि ‘तुम्हारी व्यवस्था में औरतें कहां हैं?’ अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी के अलंबरदारों के विस्तृत जवाब का सारतत्त्व यह था कि भूमण्डलीकरण ने औरतों को ‘पावर वूमेन’ बना दिया है। आत्मविश्वास से लबरेज पावर वूमेन अर्थात् उच्च प्रबंधकीय तकनीकी व प्रौद्योगिकी क्षेत्र में कार्यरत महिलाएं जो बाजार की दृष्टि में एक शानदार उपभोक्ता है और पाश्चात्य जीवन शैली जीती हैं।” सच तो यह है कि भूमण्डलीकरण का विकृत चरित्र ऐसा है कि इसने कितनी महिलाओं को बिकाऊ जींस में बदल दिया। अतीत के किसी भी कालावधि में स्त्रियों के प्रति ऐसी निर्ममता और क्रूरता नहीं दिखाई देती। बाजार की चकाचौंध में फंसी स्त्री सच जानते हुए भी सच से विमुख है। आंकड़े इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं - “संयुक्त राष्ट्र का अनुमान है कि वर्ष 1998 में चालीस लाख औरतों का निर्यात हुआ, जिससे अपराधी गिरोहों ने सात अरब डॉलर का लाभ कमाया।” ऐसे भयानक वैश्विक घटनाक्रम का भारतीय महिलाओं पर क्या प्रभाव पड़ा? सामान्यतः बाजार के इशारों पर चलने वाली विदेशी कंपनियों द्वारा परोसी गई नई उपभोक्तावादी संस्कृति ने भारतीय समाज के पितृसत्तात्मक चरित्र का विरोध किया या नया चोला ओढ़ाकर उसकी ही पुनरावृत्ति किया? “अकादमियों में उपलब्ध वृहत् आंकड़ों और दायम दर्जे की साहित्यिक बयानबाजी से हम व्यवस्थात्मक कार्य क्षमता या योग्यता को समझ नहीं पाएंगे और मानव संसाधन विकास की रूपरेखा केवल पुरुषों के दृष्टिकोण से निर्मित की जाएगी। कुल मिलाकर मधुमक्खी के इस छत्ते में काम करती हुई स्त्रियों के बारे में सही सूचना का अभाव हमें समस्या की तह तक पहुंचने नहीं देगा।” क्या वैश्वीकरण ने महिलाओं के लिए नए अवसर सृजित किए या फिर बस उनकी छवि को बदलने का सुखद आभाष ही कराया है? संस्कृति के भूमण्डलीकरण ने सामंती तथा नव उपनिवेशवादी समाज में संस्कृति का जो अनगढ़ रूप परोसा है उससे महिलाओं को कितना लाभ मिला या फिर लाभ के नाम पर रचे गये मायावी जाल में स्त्रियों के शोषण में उत्प्रेरक का काम ही किया है? ऐसे कितने ही सवाल जो समाज और संस्कृति के नाम पर वैश्वीकरण की थाली में सजा दिया जाता है और बाजार, उत्पादन और उपभोक्ता की आड़ में समाज को दिन प्रतिदिन खोखला करता जा रहा है। भारतीय संदर्भ में इन प्रश्नों का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण रोचक हो सकता है।

आज पूंजीवादी ने बाजारवाद, भूमण्डलीकरण एवं इन सभी के उंगली पर नाचने वाली मीडिया ने केवल हमारे जीवन शैली को नहीं बल्कि पूरे समाज और संस्कृति को भी प्रभावित किया है। यह हमारी संवेदना, हमारी भावना, विश्वास, प्रथा, नियम, कानून सभी पर अपना आधिपत्य जमा रहे हैं। वैश्वीकरण ने पूरे विश्व को गांव की संज्ञा देते हुए उसे बाजार में बदल डाला और इसकी सबसे बड़ी प्रभावित जाति स्त्री है। हमें यह समझना होगा कि भूमण्डलीकरण और मीडिया एक दूसरे के संपूरक हैं “भूमण्डलीकरण की इस परिघटना को आकार देने में संचार क्रांति की प्रमुख भूमिका है। मीडिया के सारे साधन बहुराष्ट्रीय कंपनियों की हाथों में है और उन्हीं के लिए हैं। इसलिए मीडिया भूमण्डलीकरण की महिमा मंडित करने में लगी हुई

है।” महादेवी वर्मा समाज में स्त्री अस्मिता के प्रभुत्व एवं उनकी उपयोगिता के विषय में लिखती है- “हमें न किसी पर जय चाहिए ना किसी से पराजय, ना किसी पर प्रभुता चाहिए न प्रभुत्व, केवल अपना वह स्थान, वह स्वत्व चाहिए जिसका पुरुषों के निकट कोई उपयोग नहीं है परंतु जिसके बिना हम समाज का उपयोगी अंग नहीं बन पा रही हैं।”

वर्तमान समय में स्त्री अस्मिता का जो प्रश्न बार-बार उभर रहा है। वह एक ऐसा प्रश्न है जिसके कई जवाब निकाल कर तो आते हैं परंतु कोई भी सटीक नहीं बैठता, वह है समाज में स्त्रियों की समान भागीदारी। पश्चिमी देशों में स्त्री स्वतंत्रता के कई आंदोलन हुए, जो स्त्री पक्ष को ठोस जमीन के साथ शक्ति भी देती है परंतु आज भूमण्डलीकरण और मीडिया के कारण वह जमीन ऊसर होती जा रही है और शक्ति लड़खड़ा रही है। एक समय में स्त्री पितृसत्ता से बाहर तो आई किंतु भूमण्डलीकरण पितृसत्तात्मकता के हाथों की कठपुतली बन के रह गई। इसी संदर्भ में प्रसिद्ध नारीवादी चिंतक सिमोन द बोउवार लिखती है - “स्त्रियों को वही मिला जो इस पुरुषों ने इच्छा से देना चाहा। इसी स्थिति में भी पुरुष दाता के रूप में और औरत ग्रहीता के रूप में हमारे सामने आई। इसका प्रमुख कारण औरतों के पास अपने आप को एक इकाई के रूप में संगठित करने के ठोस साधनों का अभाव है। उसका न कोई अतीत है और न इतिहास, न अपना कोई धर्म है और न ही सर्वहारा की तरह ठोस क्रिया-कलापों का एक संगठित जगता।” ये पितृसत्तावादी मानसिकता स्त्री मुक्ति तथा उसकी अस्मिता की लड़ाई को कैसे सार्थक बना सकता है। नारीवादियों का मानना है कि “स्त्री जाति की स्वतंत्रता व पुरुष जाति से साम्यता, यह हमारा सबसे पहला अधिकार है। साम्यता से यह मतलब नहीं कि हम भी पुरुषों की नकल करें बल्कि हमें भी पुरुषों के बराबर विकास के साधन मिलने चाहिए। यदि स्वाधीनता और सभ्यता मनुष्य जीवन के विकास की जड़ है तो पुरुषों के साथ स्त्रियों को भी इनका बराबर हिस्सा मिलने का अधिकार है।” वर्तमान में मनुष्य अपने सामाजीकरण को खो रहा है। इसके दो ही कारण हैं- भूमण्डलीकरण और बाजारवाद। उत्तर आधुनिकता के ये दोनो तत्व बहुत ही शक्तिशाली हैं एवं एक दूसरे के पूरक भी। भूमण्डलीकरण ने हमें अनुकरण सिखाया तो उसी अनुकरण की पूर्ति के लिए बाजारवाद की निर्मिति हुई।

निष्कर्ष-

भूमण्डलीकरण और बाजारीकरण के इस दौर में उपभोक्तावादी संस्कृति का इतना अधिक प्रभाव हो गया है कि वर्तमान समय में एक ही स्त्री नए-नए रूपों में अवतरित हो रही है। स्त्री विमर्श तथा भूमण्डलीकरण के इस समेकित समय में स्त्रियां स्वतंत्रता के लिए जद्दोजहद कर रही हैं। उनके भीतर पारिवारिक टूटन का डर है तो प्रेम और त्याग की प्रतिमूर्ति भी वही हैं। वह दुःख सहती, कष्ट झेलती, कलपती है परन्तु अब उन्हें अपने अस्तित्वबोध का भी भान है। मुक्ति के लिए वह संघर्षरत है। इस दौर में यदि वह समकालीन समय से समझौता करने वाली है तो समकालीन सवाल से टकराने वाली भी है। भूमण्डलीकरण एवं बाजारवाद ने जहां स्त्री को अनेक सुविधा देकर सबल बनाया है वहीं शोषण के नए रास्ते भी खोले हैं। आज स्त्री के सामने यह प्रश्न है कि वह बाजारवाद के युग में अपने आपको किस प्रकार से बाजार के प्रभाव से सुरक्षित रख सके तथा अपना सर्वांगीण विकास कर सके।

संदर्भ ग्रंथ:-

- खेतान, प्रभा. (2004). *बाजार के बीच, बाजार के खिलाफ*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, पृ. 32.
- खेतान, प्रभात. (2025). *भूमण्डलीकरण: ब्रांड, संस्कृति और राष्ट्र*. दिल्ली: सामयिक प्रकाशन, पृ. 211.
- खेतान, प्रभा. (2004). *बाजार के बीच, बाजार के खिलाफ*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, पृ. 24.
- खेतान, प्रभात. (2025). *भूमण्डलीकरण: ब्रांड, संस्कृति और राष्ट्र*. Delhi: सामयिक प्रकाशन, पृ. 211.
- खेतान, प्रभा. (2014). *भूमण्डलीकरण: ब्रांड, संस्कृति और राष्ट्र*. नई दिल्ली: सामयिक प्रकाशन, पृ. 116.
- खेतान, प्रभा. (2004). *बाजार के बीच, बाजार के खिलाफ*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, पृ. 143.
- सिंह, डॉ. अमित. (2022). *भूमण्डलीकरण और भारत: परिदृश्य और विकल्प*. नई दिल्ली: सामयिक प्रकाशन, पृ. 181.
- सिंह, डॉ. अमित. (2022). *भूमण्डलीकरण और भारत: परिदृश्य और विकल्प*. नई दिल्ली: सामयिक प्रकाशन, पृ. 182.
- खेतान, प्रभात. (2025). *भूमण्डलीकरण: ब्रांड, संस्कृति और राष्ट्र*. दिल्ली: सामयिक प्रकाशन, पृ. 211.
- अमरनाथ, डॉ. (2021). *हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, पृ. 259.
- पटेल, किंगसन सिंह. (2021). *नारीवादी आलोचना*. अनन्य प्रकाशन, पृ. 30.
- खेतान, प्रभा. (2002). *स्त्री उपेक्षिता*. नई दिल्ली: हिन्दी पॉकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, पृ. 25.
- गर्ग, डॉ. संजय. (n.d.). *स्त्री विमर्श का कालजयी इतिहास*. नई दिल्ली: सामयिक प्रकाशन, पृ. 105.

एक राष्ट्र, एक चुनाव (One Nation One Election): 130वें संविधान संशोधन विधेयक के संवैधानिक निहितार्थ और व्यावहारिक चुनौतियाँ

महेन्द्र कुमार मेघवाल
mkmeghwal223@gmail.com

सारांश:

“एक राष्ट्र, एक चुनाव” (One Nation One Election) भारतीय लोकतंत्र में चुनावी सुधार से संबंधित एक महत्वपूर्ण और व्यापक अवधारणा है, जिसके अंतर्गत लोकसभा तथा सभी राज्य विधानसभाओं के चुनाव एक ही समय पर आयोजित करने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया है। इस व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य देश में बार-बार होने वाले चुनावों के कारण उत्पन्न प्रशासनिक, आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याओं को कम करना है। वर्तमान समय में भारत के विभिन्न राज्यों में अलग-अलग समय पर चुनाव आयोजित होने के कारण देश निरंतर चुनावी गतिविधियों में संलग्न रहता है। इससे चुनावी व्यय में अत्यधिक वृद्धि होती है, सरकारी मशीनरी पर दबाव बढ़ता है तथा विकासात्मक और नीतिगत कार्यों पर भी प्रभाव पड़ता है। इसी संदर्भ में “एक राष्ट्र, एक चुनाव” की अवधारणा को शासन में स्थिरता और प्रशासनिक दक्षता स्थापित करने के उपाय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि स्वतंत्रता के बाद प्रारंभिक वर्षों में भारत में लोकसभा और राज्य विधानसभाओं के चुनाव एक साथ आयोजित किए जाते थे, किंतु राजनीतिक अस्थिरता, गठबंधन सरकारों के पतन तथा विधानसभाओं के समयपूर्व विघटन के कारण यह चुनावी चक्र समाप्त हो गया। वर्तमान प्रस्ताव को लागू करने के लिए संविधान के अनुच्छेद 83, 85, 172, 174 और 356 सहित अनेक संवैधानिक प्रावधानों में संशोधन आवश्यक माने गए हैं। इस व्यवस्था से चुनावी व्यय में कमी, प्रशासनिक संसाधनों का बेहतर उपयोग तथा शासन में निरंतरता जैसे लाभ प्राप्त हो सकते हैं। दूसरी ओर इसके अनेक संवैधानिक और व्यावहारिक निहितार्थ भी सामने आते हैं। यह भारतीय संघवाद, राज्यों की स्वायत्तता, लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व तथा संविधान की मूल संरचना को प्रभावित कर सकता है। साथ ही राजनीतिक अस्थिरता, गठबंधन सरकारों का पतन, राष्ट्रपति शासन की संभावना, सुरक्षा प्रबंधन, ईवीएम एवं वीवीपैट मशीनों की उपलब्धता तथा व्यापक प्रशासनिक समन्वय जैसी चुनौतियाँ इसके क्रियान्वयन को जटिल बनाती हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि “एक राष्ट्र, एक चुनाव” भारतीय लोकतंत्र में एक महत्वपूर्ण चुनावी सुधार हो सकता है, किंतु इसे लागू करने से पूर्व व्यापक राजनीतिक सहमति, संवैधानिक समीक्षा तथा लोकतांत्रिक और संघीय मूल्यों के संरक्षण को सुनिश्चित करना अत्यंत आवश्यक है।

मुख्य शब्द:

समवर्ती चुनाव, भारतीय संघवाद, चुनावी सुधार, संवैधानिक निहितार्थ, लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व

प्रस्तावना:-

भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक राष्ट्र है, जहाँ लोकतंत्र केवल शासन प्रणाली नहीं बल्कि जनसहभागिता, राजनीतिक जागरूकता और संवैधानिक मूल्यों का जीवंत प्रतीक माना जाता है। भारतीय लोकतंत्र की सफलता का प्रमुख आधार स्वतंत्र, निष्पक्ष और नियमित चुनाव हैं। संविधान निर्माताओं ने सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार को स्वीकार करते हुए प्रत्येक नागरिक को शासन निर्माण की प्रक्रिया में भाग लेने का अधिकार प्रदान किया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत में संसदीय लोकतंत्र की स्थापना हुई और चुनाव आयोग जैसी स्वतंत्र संवैधानिक संस्था को चुनावों के संचालन का दायित्व सौंपा गया। समय-समय पर आयोजित होने वाले लोकसभा, राज्य विधानसभाओं, पंचायतों तथा नगरीय निकायों के चुनाव भारतीय लोकतंत्र की निरंतरता और गतिशीलता को बनाए रखते हैं।

स्वतंत्रता के प्रारंभिक वर्षों में भारत में लोकसभा और राज्य विधानसभाओं के चुनाव एक साथ आयोजित किए जाते थे। वर्ष 1952, 1957, 1962 और 1967 में समवर्ती चुनावों की व्यवस्था प्रभावी रूप से लागू रही। किंतु बाद के वर्षों में राजनीतिक अस्थिरता, गठबंधन राजनीति, सरकारों के समयपूर्व पतन तथा अनुच्छेद 356 के बार-बार प्रयोग के कारण यह चुनावी चक्र टूट गया। परिणामस्वरूप वर्तमान समय में देश के विभिन्न राज्यों में अलग-अलग समय पर चुनाव आयोजित होते हैं, जिससे भारत लगभग पूरे वर्ष चुनावी गतिविधियों में व्यस्त रहता है। बार-बार चुनाव होने से प्रशासनिक संसाधनों पर अत्यधिक दबाव पड़ता है, चुनावी व्यय में वृद्धि होती है तथा विकासात्मक कार्यों और नीतिगत निर्णयों पर भी प्रभाव पड़ता है। आदर्श आचार संहिता के बार-बार लागू होने से शासन की निरंतरता प्रभावित होती है और सरकारी मशीनरी का बड़ा भाग चुनावी प्रक्रिया में संलग्न हो जाता है।

इन्हीं परिस्थितियों के समाधान के रूप में “एक राष्ट्र, एक चुनाव” (One Nation One Election) की अवधारणा पुनः राष्ट्रीय विमर्श के केंद्र में आई है। वर्ष 1999 में विधि आयोग ने पहली बार समवर्ती चुनावों की पुनर्स्थापना का सुझाव दिया। इसके बाद निर्वाचन आयोग, नीति आयोग तथा संसदीय समितियों ने भी इस विषय पर विस्तृत विचार-विमर्श किया। हाल के वर्षों में केंद्र सरकार ने इस विषय को गंभीरता से उठाते हुए उच्चस्तरीय समिति का गठन किया, जिसकी अध्यक्षता पूर्व राष्ट्रपति रामनाथ कोविंद ने की। इस समिति ने समवर्ती चुनावों के पक्ष में कई महत्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किए। इस प्रकार “एक राष्ट्र, एक चुनाव” का विचार ऐतिहासिक अनुभवों, प्रशासनिक आवश्यकताओं और राजनीतिक स्थिरता की आवश्यकता से विकसित हुआ है।

इस प्रस्ताव का मूल उद्देश्य लोकसभा और सभी राज्य विधानसभाओं के चुनावों को एक साथ आयोजित करना है, ताकि चुनावी प्रक्रिया को अधिक समन्वित, कम खर्चीला और प्रशासनिक दृष्टि से प्रभावी बनाया जा सके। केंद्र सरकार द्वारा प्रस्तुत संविधान संशोधन विधेयक ने इस विचार को संवैधानिक रूप प्रदान करने का प्रयास किया है। हालांकि यह प्रस्ताव प्रशासनिक दक्षता और राजनीतिक स्थिरता की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जा रहा है, किंतु इसके साथ संघवाद, राज्यों की स्वायत्तता, लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व तथा संविधान की मूल संरचना से जुड़े गंभीर संवैधानिक प्रश्न भी उत्पन्न होते हैं। अतः “एक राष्ट्र, एक चुनाव” केवल चुनाव सुधार का विषय नहीं बल्कि भारतीय लोकतंत्र की प्रकृति, संघीय संतुलन और संवैधानिक व्यवस्था से संबंधित एक व्यापक राष्ट्रीय बहस का विषय बन चुका है।

एक राष्ट्र, एक चुनाव की अवधारणा और उद्देश्य:-

“एक राष्ट्र, एक चुनाव” (One Nation One Election) का तात्पर्य भारत में लोकसभा तथा सभी राज्य विधानसभाओं के चुनावों को एक साथ आयोजित करना है। इस व्यवस्था के अंतर्गत पूरे देश में एक निश्चित समयावधि में चुनाव संपन्न कराए जाने का प्रस्ताव है, ताकि केंद्र और राज्यों के चुनावी चक्र में एकरूपता स्थापित की जा सके। वर्तमान समय में लोकसभा और राज्य विधानसभाओं के चुनाव अलग-अलग समय पर होते हैं, जिसके कारण देश निरंतर चुनावी गतिविधियों में व्यस्त रहता है। इस स्थिति को बदलने के उद्देश्य से समवर्ती चुनावों की अवधारणा प्रस्तुत की गई है।

इस प्रस्ताव के पीछे सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य चुनावी व्यय में कमी लाना है। भारत जैसे विशाल लोकतंत्र में चुनावों पर अत्यधिक धनराशि खर्च होती है। राजनीतिक दलों, उम्मीदवारों और सरकार द्वारा प्रचार, सुरक्षा तथा प्रशासनिक व्यवस्था पर भारी खर्च किया जाता है। यदि चुनाव एक साथ आयोजित किए जाएँ, तो इन खर्चों में उल्लेखनीय कमी लाई जा सकती है। इससे सार्वजनिक धन की बचत होगी और संसाधनों का उपयोग विकासात्मक कार्यों में किया जा सकेगा।

इस अवधारणा का दूसरा महत्वपूर्ण उद्देश्य प्रशासनिक दक्षता को बढ़ाना है। चुनावों के दौरान लाखों सरकारी कर्मचारी चुनावी कार्यों में लगाए जाते हैं। शिक्षकों, प्रशासनिक अधिकारियों तथा सुरक्षा बलों को नियमित कार्यों से हटाकर चुनाव ड्यूटी में लगाया जाता है। बार-बार चुनाव होने से प्रशासनिक कार्य प्रभावित होते हैं। एक साथ चुनाव होने पर प्रशासनिक मशीनरी का अधिक प्रभावी उपयोग संभव हो सकेगा।

“एक राष्ट्र, एक चुनाव” का एक अन्य प्रमुख उद्देश्य शासन में निरंतरता बनाए रखना है। वर्तमान व्यवस्था में किसी न किसी राज्य में चुनाव होने के कारण आदर्श आचार संहिता बार-बार लागू होती रहती है। इसके कारण नई योजनाओं की घोषणा, विकास परियोजनाओं तथा नीतिगत निर्णयों पर प्रभाव पड़ता है। यदि चुनाव एक साथ होंगे, तो सरकारों को लंबे समय तक बिना चुनावी व्यवधान के कार्य करने का अवसर मिलेगा।

इसके अतिरिक्त इस अवधारणा के समर्थकों का मानना है कि बार-बार होने वाले चुनाव समाज में राजनीतिक ध्रुवीकरण और चुनावी तनाव को बढ़ाते हैं। लगातार चुनावी माहौल के कारण राजनीतिक दल हमेशा प्रचार और चुनावी रणनीतियों में व्यस्त रहते हैं। समवर्ती चुनावों से राजनीतिक स्थिरता और नीति-निर्माण में निरंतरता लाई जा सकती है।

130वें संविधान संशोधन विधेयक का स्वरूप: -

“एक राष्ट्र, एक चुनाव” को लागू करने के लिए भारतीय संविधान में व्यापक संशोधन आवश्यक माने गए हैं। इसी उद्देश्य से संविधान संशोधन विधेयक प्रस्तुत किया गया, जिसका उद्देश्य लोकसभा और राज्य विधानसभाओं के चुनावों को एक साथ कराने हेतु संवैधानिक आधार तैयार करना है। यह विधेयक केवल चुनावी प्रक्रिया में परिवर्तन का प्रस्ताव नहीं है, बल्कि यह भारतीय संघीय संरचना, लोकतांत्रिक व्यवस्था तथा संवैधानिक संस्थाओं की कार्यप्रणाली को प्रभावित करने वाला व्यापक संवैधानिक सुधार माना जा रहा है।

विधेयक के अंतर्गत संविधान के कई महत्वपूर्ण अनुच्छेदों में संशोधन प्रस्तावित किए गए हैं। इनमें प्रमुख रूप से अनुच्छेद 83, अनुच्छेद 85, अनुच्छेद 172, अनुच्छेद 174 तथा अनुच्छेद 356 शामिल हैं। अनुच्छेद 83 और 172 क्रमशः लोकसभा और राज्य विधानसभाओं के कार्यकाल से संबंधित हैं। वर्तमान व्यवस्था में इनका कार्यकाल सामान्यतः पाँच वर्ष निर्धारित है, किंतु परिस्थितियों के अनुसार इन्हें समयपूर्व भंग किया जा सकता है। समवर्ती चुनावों की व्यवस्था लागू करने के लिए इन कार्यकालों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करना पड़ सकता है। अनुच्छेद 85 और 174 संसद तथा राज्य विधानसभाओं के सत्र और विघटन से संबंधित हैं। यदि चुनावों को एक साथ कराना है, तो इन प्रावधानों में भी संशोधन आवश्यक होगा ताकि चुनावी चक्र को स्थिर रखा जा सके। इसी प्रकार अनुच्छेद 356, जो राष्ट्रपति शासन से संबंधित है, इस व्यवस्था में अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है। यदि किसी राज्य सरकार का बहुमत समयपूर्व समाप्त हो जाए, तो अगले समवर्ती चुनाव तक शासन व्यवस्था बनाए रखने के लिए विशेष प्रावधानों की आवश्यकता होगी। विधेयक का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि इसमें निर्वाचन आयोग की भूमिका को अधिक व्यापक बनाने की संभावना व्यक्त की गई है। समवर्ती चुनावों का संचालन, चुनावी समय-सारणी का निर्धारण तथा मध्यावधि परिस्थितियों का प्रबंधन निर्वाचन आयोग की जिम्मेदारी को बढ़ा देगा। इसके अतिरिक्त जनप्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 में भी आवश्यक संशोधनों का प्रस्ताव किया गया है। इस विधेयक के समर्थकों का मानना है कि इससे चुनावी व्यय में कमी आएगी, शासन में स्थिरता बढ़ेगी तथा प्रशासनिक दक्षता में सुधार होगा। वहीं आलोचकों का तर्क है कि यह भारतीय संघवाद, राज्यों की स्वायत्तता तथा लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व को प्रभावित कर सकता है। कई राजनीतिक दलों और संवैधानिक विशेषज्ञों ने यह आशंका व्यक्त की है कि इससे राष्ट्रीय राजनीति का प्रभाव राज्यों पर अधिक बढ़ जाएगा और क्षेत्रीय मुद्दे कमजोर पड़ सकते हैं। इस प्रकार 130वें संविधान संशोधन विधेयक का स्वरूप केवल एक चुनावी सुधार तक सीमित नहीं है, बल्कि यह भारतीय संविधान और लोकतांत्रिक संरचना में व्यापक परिवर्तन का प्रस्ताव प्रस्तुत करता है।

संवैधानिक निहितार्थ:-

“एक राष्ट्र, एक चुनाव” (One Nation One Election) की अवधारणा भारतीय लोकतंत्र और संविधान से जुड़ा अत्यंत महत्वपूर्ण विषय है। यह केवल चुनावी प्रक्रिया में परिवर्तन का प्रस्ताव नहीं है, बल्कि इससे भारतीय संघवाद, लोकतांत्रिक संरचना, संवैधानिक संस्थाओं की भूमिका तथा नागरिकों के प्रतिनिधित्व पर व्यापक प्रभाव पड़ सकता है। इस व्यवस्था को लागू करने के लिए संविधान के अनेक अनुच्छेदों में संशोधन आवश्यक होंगे, जिसके कारण इसके संवैधानिक निहितार्थ अत्यंत गंभीर और व्यापक माने जा रहे हैं।

- **भारतीय संघवाद पर प्रभाव:** भारतीय संविधान संघात्मक शासन प्रणाली पर आधारित है, जिसमें केंद्र और राज्यों के बीच शक्तियों का विभाजन किया गया है। प्रत्येक राज्य की अपनी राजनीतिक परिस्थितियाँ, सामाजिक आवश्यकताएँ तथा क्षेत्रीय मुद्दे होते हैं। यदि लोकसभा और राज्य विधानसभाओं के चुनाव एक साथ कराए जाते हैं, तो राष्ट्रीय मुद्दों का प्रभाव राज्यों की राजनीति पर अत्यधिक बढ़ सकता है। ऐसी स्थिति में क्षेत्रीय समस्याएँ और स्थानीय मुद्दे राष्ट्रीय विमर्श के सामने गौण हो सकते हैं। इससे राज्यों की राजनीतिक स्वायत्तता और संघीय संतुलन प्रभावित होने की आशंका व्यक्त की जाती है। कई क्षेत्रीय दलों का मानना है कि यह व्यवस्था भारतीय संघवाद की मूल भावना को कमजोर कर सकती है।

- **संविधान की मूल संरचना सिद्धांत पर प्रभाव:** भारतीय न्यायपालिका ने केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य (1973) मामले में संविधान की “मूल संरचना” सिद्धांत को मान्यता प्रदान की थी। इस सिद्धांत के अनुसार संविधान के कुछ मूल तत्व, जैसे लोकतंत्र, संघवाद और न्यायिक स्वतंत्रता, अपरिवर्तनीय हैं। “एक राष्ट्र, एक चुनाव” को लागू करने के लिए कुछ विधानसभाओं का कार्यकाल घटाना या बढ़ाना पड़ सकता है, जिससे लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व प्रभावित हो सकता है। आलोचकों का तर्क है कि यदि जनता द्वारा चुनी गई सरकारों के कार्यकाल में कृत्रिम परिवर्तन किया जाता है, तो यह संविधान की मूल संरचना के विपरीत माना जा सकता है।
- **अनुच्छेद 83 और 172 में संशोधन की आवश्यकता:** लोकसभा और राज्य विधानसभाओं के कार्यकाल से संबंधित प्रावधान क्रमशः अनुच्छेद 83 और अनुच्छेद 172 में वर्णित हैं। वर्तमान व्यवस्था में इनका सामान्य कार्यकाल पाँच वर्ष निर्धारित है, किंतु राजनीतिक परिस्थितियों के अनुसार इन्हें समयपूर्व भंग किया जा सकता है। “एक राष्ट्र, एक चुनाव” लागू करने के लिए इन प्रावधानों में संशोधन आवश्यक होगा, ताकि सभी विधानसभाओं और लोकसभा का चुनाव एक निश्चित समय पर कराया जा सके। इसके लिए कुछ सरकारों का कार्यकाल कम या अधिक करना पड़ सकता है, जो संवैधानिक दृष्टि से जटिल प्रश्न उत्पन्न करता है।
- **अनुच्छेद 356 और राष्ट्रपति शासन की संभावना:** यदि किसी राज्य सरकार का बहुमत अपने निर्धारित कार्यकाल से पहले समाप्त हो जाए, तो ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अगले समवर्ती चुनाव तक शासन व्यवस्था कैसे संचालित होगी। इस परिस्थिति में राष्ट्रपति शासन लागू करने की संभावना बढ़ सकती है। भारतीय राजनीति में अनुच्छेद 356 के दुरुपयोग के कई उदाहरण रहे हैं, इसलिए यह आशंका व्यक्त की जाती है कि “एक राष्ट्र, एक चुनाव” के कारण केंद्र सरकार को राज्यों पर अधिक नियंत्रण प्राप्त हो सकता है। इससे संघीय ढाँचे और राज्यों की स्वायत्तता पर नकारात्मक प्रभाव पड़ सकता है।
- **लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व पर प्रभाव:** लोकतंत्र का मूल आधार जनता की सहभागिता और प्रतिनिधित्व है। वर्तमान व्यवस्था में यदि कोई सरकार बहुमत खो देती है, तो जनता को पुनः अपने प्रतिनिधि चुनने का अवसर मिलता है। किंतु “एक राष्ट्र, एक चुनाव” के अंतर्गत चुनावी चक्र बनाए रखने के लिए अंतरिम व्यवस्थाएँ अपनायी पड़ सकती हैं। इससे मतदाताओं के लोकतांत्रिक अधिकार प्रभावित हो सकते हैं। यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण है कि क्या प्रशासनिक सुविधा के लिए जनता के चुनावी अधिकारों में परिवर्तन उचित माना जा सकता है।
- **निर्वाचन आयोग की शक्तियों में वृद्धि:** समवर्ती चुनावों की व्यवस्था लागू होने पर निर्वाचन आयोग की भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण हो जाएगी। आयोग को पूरे देश में चुनावी कार्यक्रमों का समन्वय करना होगा तथा चुनावी चक्र को बनाए रखने की जिम्मेदारी निभानी होगी। इसके अतिरिक्त मध्यावधि चुनावों, उपचुनावों और आपात परिस्थितियों में चुनाव प्रबंधन की चुनौती भी आयोग के सामने होगी। इससे निर्वाचन आयोग की संवैधानिक शक्तियों और जिम्मेदारियों में उल्लेखनीय वृद्धि होगी। कुछ विशेषज्ञों का मत है कि इससे शक्ति-संतुलन से संबंधित नए प्रश्न उत्पन्न हो सकते हैं।
- **संसद और राज्य विधानसभाओं के संबंधों पर प्रभाव:** वर्तमान व्यवस्था में संसद और राज्य विधानसभाएँ स्वतंत्र रूप से कार्य करती हैं। दोनों की राजनीतिक परिस्थितियाँ और चुनावी मुद्दे अलग-अलग होते हैं। यदि चुनाव एक साथ होंगे, तो राष्ट्रीय राजनीति का प्रभाव राज्य राजनीति पर अधिक हो सकता है। इससे राष्ट्रीय दलों की स्थिति मजबूत तथा क्षेत्रीय दलों की भूमिका कमजोर हो सकती है। यह स्थिति राज्यों की राजनीतिक पहचान और उनकी स्वतंत्र नीति-निर्माण क्षमता को प्रभावित कर सकती है।
- **बहुदलीय लोकतंत्र पर प्रभाव:** भारत एक बहुदलीय लोकतांत्रिक राष्ट्र है, जहाँ राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दोनों प्रकार के दल सक्रिय हैं। एक साथ चुनाव होने पर मतदाता राष्ट्रीय नेतृत्व और केंद्रीय मुद्दों से अधिक प्रभावित हो सकते हैं। इससे क्षेत्रीय दलों की राजनीतिक स्थिति कमजोर हो सकती है और राष्ट्रीय दलों को अपेक्षाकृत अधिक लाभ मिल सकता है। यह भारतीय लोकतंत्र की बहुलतावादी प्रकृति पर प्रभाव डाल सकता है।
- **न्यायिक समीक्षा की संभावना:** यदि “एक राष्ट्र, एक चुनाव” लागू करने के लिए व्यापक संवैधानिक संशोधन किए जाते हैं, तो उनकी वैधता को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है। न्यायपालिका को यह निर्धारित करना होगा कि क्या यह व्यवस्था संविधान की मूल संरचना और संघीय ढाँचे के अनुरूप है। इस प्रकार न्यायिक समीक्षा इस विषय का एक महत्वपूर्ण संवैधानिक पक्ष बन सकती है।

- **संवैधानिक संशोधन की जटिल प्रक्रिया:** इस प्रस्ताव को लागू करने के लिए संविधान के अनेक अनुच्छेदों में संशोधन करना आवश्यक होगा। संविधान के अनुच्छेद 368 के अनुसार ऐसे संशोधनों के लिए संसद में विशेष बहुमत तथा कई मामलों में आधे से अधिक राज्यों की स्वीकृति आवश्यक होती है। इसलिए “एक राष्ट्र, एक चुनाव” केवल राजनीतिक निर्णय नहीं बल्कि व्यापक संवैधानिक सहमति का विषय है।
- **संवैधानिक स्थिरता और लोकतांत्रिक लचीलापन:** भारतीय संविधान में लोकतांत्रिक लचीलापन मौजूद है, जिसके कारण सरकारों के गिरने या बहुमत खोने पर नए चुनाव कराए जा सकते हैं। यह व्यवस्था लोकतंत्र को गतिशील बनाए रखती है। किंतु “एक राष्ट्र, एक चुनाव” के अंतर्गत चुनावी चक्र बनाए रखने के लिए इस लचीलेपन को सीमित करना पड़ सकता है। इससे संवैधानिक व्यवस्थाओं में कृत्रिम स्थिरता लाने का प्रयास होगा, जो लोकतांत्रिक प्रक्रिया की स्वाभाविकता को प्रभावित कर सकता है।
- **जनप्रतिनिधित्व अधिनियम पर प्रभाव:** समवर्ती चुनावों को लागू करने के लिए केवल संविधान ही नहीं बल्कि जनप्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 में भी संशोधन आवश्यक होंगे। उपचुनाव, मध्यावधि चुनाव और निर्वाचन प्रक्रिया से संबंधित अनेक नियमों में परिवर्तन करना पड़ेगा। इससे चुनावी व्यवस्था का संपूर्ण ढाँचा प्रभावित होगा।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि “एक राष्ट्र, एक चुनाव” के संवैधानिक निहितार्थ अत्यंत व्यापक हैं। यह प्रस्ताव प्रशासनिक दृष्टि से लाभकारी प्रतीत हो सकता है, किंतु इसके प्रभाव भारतीय संघवाद, लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व, संवैधानिक संतुलन तथा न्यायिक व्यवस्था तक विस्तृत हैं। इसलिए इस विषय पर किसी भी निर्णय से पूर्व व्यापक राजनीतिक सहमति, संवैधानिक समीक्षा तथा लोकतांत्रिक विमर्श अत्यंत आवश्यक है।

व्यावहारिक चुनौतियाँ:-

“एक राष्ट्र, एक चुनाव” (One Nation One Election) की अवधारणा सैद्धांतिक रूप से प्रशासनिक दक्षता, चुनावी व्यवस्था में कमी तथा शासन की निरंतरता जैसे अनेक लाभ प्रस्तुत करती है, किंतु इसे व्यवहार में लागू करना अत्यंत जटिल और चुनौतीपूर्ण कार्य है। भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक राष्ट्र है, जहाँ सामाजिक, भाषाई, भौगोलिक और राजनीतिक विविधता अत्यधिक व्यापक है। ऐसी स्थिति में पूरे देश में लोकसभा और सभी राज्य विधानसभाओं के चुनाव एक साथ कराना केवल चुनावी कार्यक्रम का प्रश्न नहीं बल्कि विशाल प्रशासनिक, संवैधानिक, राजनीतिक और तकनीकी प्रबंधन की चुनौती है। इस व्यवस्था को लागू करने में अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ सामने आ सकती हैं, जिनका विस्तृत अध्ययन निम्नलिखित बिंदुओं के माध्यम से किया जा सकता है।

- ❖ **विशाल जनसंख्या और चुनाव प्रबंधन की चुनौती:** भारत में मतदाताओं की संख्या विश्व में सबसे अधिक है। वर्तमान समय में देश में लगभग 90 करोड़ से अधिक पंजीकृत मतदाता हैं। इतने विशाल स्तर पर एक साथ चुनाव कराना अत्यंत जटिल प्रक्रिया है। इसके लिए लाखों मतदान केंद्रों की स्थापना, मतदान कर्मियों की नियुक्ति तथा सुरक्षा व्यवस्था सुनिश्चित करनी होगी। वर्तमान व्यवस्था में चुनाव चरणबद्ध तरीके से आयोजित किए जाते हैं ताकि प्रशासनिक नियंत्रण बनाए रखा जा सके, किंतु समवर्ती चुनावों में पूरे देश में एक साथ चुनाव कराने के कारण प्रशासनिक दबाव कई गुना बढ़ जाएगा। इसके अतिरिक्त दूरदराज और दुर्गम क्षेत्रों, जैसे पर्वतीय क्षेत्रों, जंगलों तथा सीमावर्ती राज्यों में चुनाव सामग्री पहुँचाना और मतदान प्रक्रिया को सुरक्षित बनाना भी एक बड़ी चुनौती होगी। भारत की भौगोलिक विविधता चुनाव प्रबंधन को और अधिक कठिन बना देती है।
- ❖ **ईवीएम और वीवीपैट मशीनों की भारी आवश्यकता:** यदि लोकसभा और सभी विधानसभाओं के चुनाव एक साथ कराए जाते हैं, तो बड़ी संख्या में इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीन (म्टड) और वीवीपैट मशीनों की आवश्यकता होगी। वर्तमान चुनावी व्यवस्था में मशीनों का उपयोग अलग-अलग चरणों में किया जाता है, किंतु समवर्ती चुनावों में पूरे देश के लिए एक ही समय में पर्याप्त मशीनों की उपलब्धता सुनिश्चित करनी होगी। इन मशीनों के निर्माण, रखरखाव, परिवहन और सुरक्षा पर भारी खर्च आएगा। साथ ही अतिरिक्त मशीनों का भंडारण और तकनीकी रखरखाव भी चुनौतीपूर्ण होगा। यदि किसी स्थान पर मशीन खराब हो जाए, तो तुरंत वैकल्पिक व्यवस्था उपलब्ध कराना भी कठिन हो सकता है।
- ❖ **सुरक्षा व्यवस्था की चुनौती:** भारत में चुनावों के दौरान केंद्रीय सुरक्षा बलों और राज्य पुलिस की व्यापक तैनाती की जाती है। चरणबद्ध चुनावों का एक प्रमुख कारण यह भी है कि सीमित सुरक्षा बलों का प्रभावी उपयोग किया जा सके।

यदि पूरे देश में एक साथ चुनाव होंगे, तो भारी संख्या में सुरक्षा बलों की आवश्यकता होगी। विशेष रूप से संवेदनशील क्षेत्रों, नक्सल प्रभावित इलाकों और सीमा क्षेत्रों में सुरक्षा सुनिश्चित करना अत्यंत कठिन हो सकता है। एक साथ चुनावों के दौरान हिंसा, अशांति या आतंकवादी गतिविधियों की आशंका भी बढ़ सकती है। इसलिए सुरक्षा प्रबंधन इस व्यवस्था की सबसे बड़ी व्यावहारिक चुनौतियों में से एक है।

- ❖ **राजनीतिक अस्थिरता और गठबंधन सरकारों की समस्या:** भारत में बहुदलीय राजनीतिक व्यवस्था है, जहाँ गठबंधन सरकारें सामान्य राजनीतिक वास्तविकता बन चुकी हैं। कई बार सरकारें अपना पूर्ण कार्यकाल पूरा नहीं कर पातीं और समयपूर्व गिर जाती हैं। यदि “एक राष्ट्र, एक चुनाव” लागू किया जाता है, तो यह प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है कि ऐसी स्थिति में चुनावी चक्र को कैसे बनाए रखा जाएगा। उदाहरण के लिए, यदि किसी राज्य सरकार का पतन उसके निर्धारित चुनावी चक्र से दो वर्ष पहले हो जाए, तो क्या उस राज्य में तुरंत चुनाव कराए जाएँगे या राष्ट्रपति शासन लागू किया जाएगा? यदि बार-बार ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हों, तो समवर्ती चुनावों की पूरी व्यवस्था प्रभावित हो सकती है। इसलिए राजनीतिक अस्थिरता इस अवधारणा की सबसे गंभीर व्यावहारिक चुनौतियों में से एक है।
- ❖ **राष्ट्रपति शासन की बढ़ती संभावना:** यदि किसी राज्य में सरकार गिर जाती है और अगले समवर्ती चुनाव तक नई सरकार का गठन संभव नहीं होता, तो राष्ट्रपति शासन लागू करना पड़ सकता है। इससे राज्यों में निर्वाचित सरकारों के स्थान पर लंबे समय तक केंद्र नियंत्रित शासन लागू रहने की संभावना बढ़ सकती है। यह स्थिति न केवल संघवाद को प्रभावित करेगी बल्कि लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व के सिद्धांत को भी कमजोर कर सकती है। इसके अतिरिक्त इससे केंद्र और राज्यों के बीच राजनीतिक तनाव भी बढ़ सकता है।
- ❖ **राष्ट्रीय और क्षेत्रीय मुद्दों के बीच असंतुलन:** भारत जैसे विविधतापूर्ण देश में प्रत्येक राज्य की अपनी अलग सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याएँ होती हैं। यदि लोकसभा और विधानसभा चुनाव एक साथ होंगे, तो राष्ट्रीय मुद्दों का प्रभाव क्षेत्रीय मुद्दों पर अधिक हो सकता है। मतदाता राष्ट्रीय नेतृत्व, राष्ट्रीय सुरक्षा, विदेश नीति या केंद्रीय योजनाओं से अधिक प्रभावित हो सकते हैं, जबकि स्थानीय समस्याएँ जैसे: कृषि संकट, जल प्रबंधन, क्षेत्रीय बेरोजगारी, स्थानीय विकास आदि चुनावी विमर्श में पीछे छूट सकते हैं। इससे क्षेत्रीय दलों की राजनीतिक स्थिति कमजोर हो सकती है।
- ❖ **मतदाता व्यवहार पर प्रभाव:** अनेक अध्ययनों से यह संकेत मिलता है कि जब लोकसभा और विधानसभा चुनाव एक साथ होते हैं, तो मतदाता अक्सर दोनों स्तरों पर एक ही राजनीतिक दल को समर्थन देने की प्रवृत्ति रखते हैं। इसे “कोटेल प्रभाव” कहा जाता है। इससे राष्ट्रीय दलों को लाभ मिल सकता है और क्षेत्रीय दलों की राजनीतिक भूमिका कमजोर हो सकती है। यह स्थिति भारतीय लोकतंत्र की बहुदलीय और बहुलतावादी प्रकृति को प्रभावित कर सकती है।
- ❖ **प्रशासनिक मशीनरी पर अत्यधिक दबाव:** समवर्ती चुनावों के दौरान लाखों सरकारी कर्मचारियों, शिक्षकों और प्रशासनिक अधिकारियों को चुनावी कार्यों में लगाना पड़ेगा। इससे सरकारी कार्यों पर गंभीर प्रभाव पड़ सकता है। शिक्षा संस्थानों का उपयोग मतदान केंद्रों के रूप में किया जाता है, जिससे पढ़ाई प्रभावित होती है। स्वास्थ्य सेवाओं और अन्य सार्वजनिक सेवाओं पर भी प्रशासनिक दबाव बढ़ सकता है। इतने बड़े स्तर पर प्रशासनिक समन्वय बनाए रखना अत्यंत कठिन होगा।
- ❖ **वित्तीय प्रबंधन की चुनौती:** हालाँकि “एक राष्ट्र, एक चुनाव” का उद्देश्य चुनावी व्यय को कम करना बताया जाता है, किंतु प्रारंभिक स्तर पर इस व्यवस्था को लागू करने के लिए भारी वित्तीय निवेश की आवश्यकता होगी। अतिरिक्त ईवीएम, सुरक्षा व्यवस्था, कर्मचारियों का प्रशिक्षण, तकनीकी संसाधन तथा चुनावी ढाँचे के विस्तार पर अत्यधिक खर्च करना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त चुनावी प्रक्रिया के डिजिटलीकरण और तकनीकी आधुनिकीकरण पर भी बड़ा निवेश आवश्यक होगा।
- ❖ **संवैधानिक और कानूनी जटिलताएँ:** समवर्ती चुनावों को लागू करने के लिए संविधान के अनेक अनुच्छेदों में संशोधन आवश्यक होंगे। इसके अतिरिक्त जनप्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 तथा चुनाव संबंधी अन्य कानूनों में भी परिवर्तन करने पड़ेंगे। इन संशोधनों के लिए संसद में विशेष बहुमत और कई मामलों में राज्यों की स्वीकृति आवश्यक होगी। भारत जैसे राजनीतिक रूप से विविध देश में इस प्रकार की व्यापक सहमति प्राप्त करना अत्यंत कठिन कार्य हो सकता है।

- ❖ **प्राकृतिक आपदाओं और आपातकालीन परिस्थितियों की चुनौती:** भारत में समय-समय पर बाढ़, भूकंप, चक्रवात, महामारी तथा अन्य प्राकृतिक आपदाएँ आती रहती हैं। यदि पूरे देश में एक साथ चुनाव निर्धारित हों और किसी राज्य में आपदा उत्पन्न हो जाए, तो चुनाव स्थगित करने या पुनर्निर्धारित करने की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। ऐसी परिस्थिति में चुनावी चक्र और संवैधानिक व्यवस्था दोनों प्रभावित हो सकते हैं। कोविड-19 महामारी के दौरान चुनाव प्रबंधन की कठिनाइयों ने यह स्पष्ट किया कि बड़े पैमाने पर चुनाव कराना संकट की स्थिति में कितना चुनौतीपूर्ण हो सकता है।
- ❖ **जनजागरूकता और मतदाता शिक्षा की आवश्यकता:** समवर्ती चुनावों में मतदाताओं को लोकसभा और विधानसभा दोनों के लिए मतदान करना होगा। ग्रामीण और अशिक्षित क्षेत्रों में मतदाताओं को मतदान प्रक्रिया के बारे में पर्याप्त जानकारी देना आवश्यक होगा। यदि मतदाता दोनों चुनावों के बीच अंतर को स्पष्ट रूप से नहीं समझ पाए, तो मतदान में भ्रम और त्रुटियों की संभावना बढ़ सकती है। इसलिए व्यापक मतदाता जागरूकता अभियान चलाना आवश्यक होगा।
- ❖ **चुनावी प्रक्रिया की पारदर्शिता बनाए रखने की चुनौती:** इतने बड़े स्तर पर चुनाव आयोजित करने में पारदर्शिता और निष्पक्षता बनाए रखना अत्यंत महत्वपूर्ण होगा। यदि किसी एक चरण या राज्य में तकनीकी या प्रशासनिक त्रुटि होती है, तो उसका प्रभाव पूरे चुनावी परिणामों पर पड़ सकता है। इसलिए चुनाव आयोग के लिए पारदर्शिता, विश्वसनीयता और निष्पक्षता सुनिश्चित करना अत्यधिक कठिन कार्य होगा।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि “एक राष्ट्र, एक चुनाव” की अवधारणा व्यवहारिक दृष्टि से अत्यंत जटिल और चुनौतीपूर्ण है। यद्यपि इससे प्रशासनिक दक्षता और चुनावी व्यय में कमी जैसे लाभ प्राप्त हो सकते हैं, किंतु इसके क्रियान्वयन में राजनीतिक अस्थिरता, सुरक्षा प्रबंधन, संवैधानिक संशोधन, वित्तीय संसाधन तथा संघीय संतुलन जैसी अनेक गंभीर चुनौतियाँ सामने आती हैं। भारत जैसे विशाल और विविधतापूर्ण लोकतंत्र में इस व्यवस्था को लागू करने के लिए व्यापक राजनीतिक सहमति, प्रशासनिक तैयारी तथा संवैधानिक स्पष्टता अत्यंत आवश्यक होगी।

निष्कर्ष:-

“एक राष्ट्र, एक चुनाव” (One Nation One Election) प्रशासनिक दृष्टि से आकर्षक प्रस्ताव है, किंतु लोकतंत्र केवल प्रशासनिक सुविधा का विषय नहीं है। भारत जैसे विविधतापूर्ण समाज में क्षेत्रीय पहचान, स्थानीय मुद्दे और संघीय संतुलन अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। यदि राष्ट्रीय चुनावी विमर्श राज्यों की राजनीति पर हावी हो जाता है, तो यह लोकतांत्रिक विविधता को सीमित कर सकता है। साथ ही संविधान की मूल संरचना, राज्यों की स्वायत्तता और मतदाताओं के अधिकारों से जुड़े प्रश्न भी गंभीर हैं। इस अवधारणा का मूल उद्देश्य लोकसभा तथा राज्य विधानसभाओं के चुनावों को एक साथ आयोजित करके चुनावी व्यय में कमी लाना, प्रशासनिक संसाधनों का बेहतर उपयोग सुनिश्चित करना तथा शासन में निरंतरता स्थापित करना है। बार-बार होने वाले चुनावों के कारण उत्पन्न प्रशासनिक दबाव, आदर्श आचार संहिता के प्रभाव तथा राजनीतिक धुरीकरण जैसी समस्याओं को देखते हुए यह प्रस्ताव व्यवहारिक दृष्टि से आकर्षक प्रतीत होता है। इसके माध्यम से सरकारों को विकास योजनाओं और दीर्घकालीन नीतियों के क्रियान्वयन के लिए अधिक स्थिर वातावरण प्राप्त हो सकता है। किन्तु इस अवधारणा के साथ अनेक गंभीर संवैधानिक और व्यावहारिक चुनौतियाँ भी जुड़ी हुई हैं। भारतीय संविधान संघीय व्यवस्था, लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व तथा बहुदलीय राजनीतिक प्रणाली पर आधारित है। यदि लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव एक साथ कराए जाते हैं, तो राष्ट्रीय मुद्दों का प्रभाव क्षेत्रीय राजनीति पर बढ़ सकता है, जिससे राज्यों की राजनीतिक स्वायत्तता प्रभावित होने की आशंका है। इसके अतिरिक्त राजनीतिक अस्थिरता, गठबंधन सरकारों का पतन, राष्ट्रपति शासन की संभावना, भारी प्रशासनिक और वित्तीय प्रबंधन तथा संवैधानिक संशोधनों की जटिलता इस व्यवस्था के क्रियान्वयन को कठिन बनाते हैं।

अतः यह स्पष्ट है कि “एक राष्ट्र, एक चुनाव” केवल चुनावी सुधार का विषय नहीं बल्कि भारतीय लोकतंत्र और संविधान की संरचना से जुड़ा व्यापक राष्ट्रीय विमर्श है। इस व्यवस्था को लागू करने से पूर्व व्यापक राजनीतिक सहमति, संवैधानिक समीक्षा, न्यायिक परीक्षण तथा जनता के विश्वास को सुनिश्चित करना अत्यंत आवश्यक है, ताकि प्रशासनिक सुविधा और लोकतांत्रिक मूल्यों के बीच संतुलन बनाए रखा जा सके।

संदर्भ :-

1. भारत सरकार. (2024). *संविधान (एक सौ उनतीसवाँ संशोधन) विधेयक, 2024*. नई दिल्ली: विधि एवं न्याय मंत्रालय.
2. निर्वाचन आयोग. (2018). *समवर्ती चुनावों पर विचार पत्र*. नई दिल्ली: भारत निर्वाचन आयोग.
3. विधि आयोग. (1999). *चुनावी सुधार संबंधी प्रतिवेदन*. नई दिल्ली: भारत सरकार.
4. कोविंद, रामनाथ समिति. (2024). *एक राष्ट्र, एक चुनाव पर उच्चस्तरीय समिति की रिपोर्ट*. नई दिल्ली: भारत सरकार.
5. सिंह, एम. पी. (2021). *भारतीय शासन एवं राजनीति*. नई दिल्ली: ओरिएंट ब्लैकस्वान.
6. कश्यप, सुभाष. (2019). *हमारा संविधान*. नई दिल्ली: नेशनल बुक ट्रस्ट.
7. शर्मा, बी. के. (2022). *भारतीय संविधान एवं शासन व्यवस्था*. आगरा: साहित्य भवन.
8. द इंडियन एक्सप्रेस. (2024). *वन नेशन वन इलेक्शन विधेयक: प्रमुख प्रावधान और चुनौतियाँ*.
9. टाइम्स ऑफ इंडिया. (2025). *वन नेशन वन इलेक्शन पर संवैधानिक बहस*.

पटना प्रमंडल में ग्रामीण एवं कृषि पर्यटन की भौगोलिक संभावनाएँ

डॉ. मनु कुमार*

manu.kumar372@gmail.com

सार (Abstract)

पटना प्रमंडल, जिसमें पटना, नालंदा, भोजपुर, कैमूर, सासाराम, बक्सर जिला प्रमुख क्षेत्र शामिल हैं। बिहार का एक महत्वपूर्ण भौगोलिक एवं सांस्कृतिक इकाई है। प्रस्तुत अध्ययन पटना प्रमंडल में ग्रामीण एवं कृषि पर्यटन की संभावनाओं का भौगोलिक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण करता है। अध्ययन क्षेत्र की विशिष्ट कृषि-जलवायु विशेषताएँ, गंगा एवं उसकी सहायक नदियों से उपजाऊ दोआब क्षेत्र, पारंपरिक कृषि पद्धतियाँ, तथा सांस्कृतिक धरोहर ग्रामीण पर्यटन को बढ़ावा देने की अपार संभावनाएँ होता हैं। इस शोध का उद्देश्य ग्रामीण अर्थव्यवस्था को मजबूत करने हेतु कृषि पर्यटन के भौगोलिक स्थलों की पहचान करना, जलवायु परिवर्तन के प्रति पर्यटन की संवेदनशीलता का आकलन करना एवं नीतिगत ढाँचा प्रस्तुत करना है। अध्ययन में प्राथमिक एवं द्वितीयक स्रोतों, भौगोलिक सूचना प्रणाली (GIS) एवं सहभागी ग्रामीण मूल्यांकन (PRA) सहित मिश्रित पद्धति का प्रयोग किया गया है। निष्कर्ष बताते हैं कि यदि कृषि-पर्यटन को रणनीतिक योजना से लागू किया जाए तो यह क्षेत्र के सतत विकास में सहायक हो सकती है।

कीवर्ड: पटना प्रमंडल, ग्रामीण पर्यटन, कृषि पर्यटन, भौगोलिक संभावनाएँ, सतत विकास।

परिचय (Introduction)

भारत एक कृषि प्रधान देश है, और बिहार तो इसका एक जीवंत उदाहरण है। पटना प्रमंडल, जो बिहार राज्य के मध्य भाग में स्थित है, न केवल ऐतिहासिक धरोहर के लिए प्रसिद्ध है, बल्कि यहाँ की उपजाऊ दोआब भूमि (गंगा-सोन-पुनपुन) ने कृषि को जन-जीवन का आधार बना दिया है। परंतु पिछले कुछ दशकों में कृषि आय में स्थिरता ने प्रवासन को बढ़ावा दिया है। ऐसे में, ग्रामीण एवं कृषि पर्यटन एक वैकल्पिक आजीविका के रूप में उभरा है। ग्रामीण पर्यटन में पर्यटकों को ग्रामीण जीवनशैली, संस्कृति, और प्राकृतिक वातावरण से जोड़ा जाता है, जबकि कृषि पर्यटन विशेष रूप से खेतों, बागवानी, डेयरी, मत्स्यन, स्थानीय फसल पद्धतियों, खाद्य प्रसंस्करण और कृषि शिल्प केंद्रीत है। पटना प्रमंडल में जैसे- नालंदा (राजगीर) एवम् उसके आस-पास के ग्रामीण क्षेत्रों का विकास पटना के समीपवर्ती बिहटा, ब्रिकम, पालीगंज, भरतपुर गांव जैसे अनेको गांव में पर्यटन की संभावनाएँ उपलब्ध हो सकती हैं। इस अध्ययन की भौगोलिक सीमा पटना प्रमंडल है, जिसमें कैमूर की पहाड़ियों, सासाराम का मकबरा आदि वैसे छोटे-छोटे ग्रामीण क्षेत्र हैं जो पर्यटन से जुड़ा हुआ हैं। भोजपुर जो आरा जिला के जहाँ बौद्धों का एक बहुत बड़ा स्थल रहा हैं, बक्सर का चौसा जो ग्रामीण पर्यटन क्षेत्रों में बतलाता हैं, और पर्यटन लोग भ्रमण करने आते हैं।

अध्ययन का उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तुत शोध निम्नलिखित उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयास करता है:

1. पहचान एवं मानचित्रण: पटना प्रमंडल में ग्रामीण एवं कृषि पर्यटन के लिए उपयुक्त भौगोलिक स्थलों की पहचान करना तथा उनका भौगोलिक सूचना तंत्र (GIS) के माध्यम से मानचित्रण करना।
2. कृषि-जलवायु विश्लेषण: क्षेत्र की मृदा, जलवायु, जल निकायों एवं फसल पद्धतियों का विश्लेषण करना कि कैसे ये भौगोलिक कारक पर्यटन को प्रभावित करते हैं।

* सहायक प्राध्यापक (भूगोल विभाग) डॉ. सी.वी. रमन विश्वविद्यालय, वैशाली, बिहार

3. आर्थिक संभावनाएँ मापना: ग्रामीण एवं कृषि पर्यटन द्वारा स्थानीय रोजगार एवं आय सृजन की संभावनाओं का मूल्यांकन करना।
4. चुनौतियाँ एवं अवसर: इस प्रकार के पर्यटन के विकास में आने वाली भौगोलिक और सामाजिक बाधाओं का अध्ययन करना।
5. नीति निर्धारण: बिहार राज्य के पर्यटन नीति एवं कृषि विस्तार कार्यक्रमों के साथ समन्वय हेतु सुझाव देना।

परिकल्पना (Hypothesis)

निम्नलिखित परिकल्पनाओं का शोध में परीक्षण किया जाएगा:

1. H1: पटना प्रमंडल की नदी जनित उपजाऊ मृदा एवं जलवायु विशेषता कृषि पर्यटन के लिए अनुकूल है, जो सामान्य पर्यटन की तुलना में अधिक सतत है।
2. H2: ग्रामीण पर्यटन से संबद्ध स्थानीय कला, हस्तशिल्प प्रवासन प्रवृत्ति को कम कर सकते हैं।
3. H3: जिन गाँवों में जैविक विधियाँ अधिक अपनाई जाती हैं (जैसे नालंदा के बिहारशरीफ क्षेत्र के कुछ गाँव), वहाँ कृषि पर्यटन की सफलता की संभावना अधिक है।
4. H4: भौगोलिक रूप से सुलभ (पटना-गया-नालंदा हाईवे के नजदीक) गाँव निवेश हेतु अधिक अग्रणी हैं।

साहित्य समीक्षा (Literature Review)

अंतर्राष्ट्रीय सन्दर्भ:

- Roberts & Hall (2001) के अनुसार, कृषि पर्यटन फार्म डायवर्सिफिकेशन (फार्म विविधीकरण) का एक प्रमुख उपकरण है। विकसित देशों (इटली, यूके, USA) में अंगूर बागान पर्यटन या 'फार्म स्टे' अत्यधिक लोकप्रिय है।
- Busby & Rundle (2000) ने कृषि पर्यटन को "एक्टिव पर्यटन" की श्रेणी में रखा, जहाँ पर्यटक व्यावहारिक रूप से गेहूँ कटाई, दूध दुहने या मधु निष्कर्षण में भाग लेता है। पटना प्रमंडल में पारंपरिक ढोर (बछिया, भैंस) एवं पारंपरिक कृषि उपकरण (हल, कुल, डोरिया) इसे संभव बनाते हैं।

राष्ट्रीय सन्दर्भ:

- भारत सरकार की पर्यटन नीति (राष्ट्रीय पर्यटन नीति, 2002, 2022) ग्रामीण पर्यटन को "गाँव की आत्मा" से जोड़ती है। हाल ही में भारत में 'कृषि पर्यटन' महाराष्ट्र (बारामती, पुणे), गोवा, केरल में सफल रहा है।
- राणा, वी.सी. (2005) के अनुसार बिहार की जलवायु एवं उर्वर दोआब क्षेत्रों में कृषि पारिस्थितिकी पर्यटन की दृष्टि से उपयुक्त है।
- कुमार, ए. (2012) ने अपने अध्ययन 'प्रॉस्पेक्ट्स ऑफ एग्री-टूरिज्म इन बिहार' में बताया कि बिहार के पूर्वी और उत्तरी-पश्चिमी हिस्सों में दलदली क्षेत्रों को पक्षी शरण स्थल (जैसे कबर ताल) बनाकर पर्यटन संभव है।
- प्रसाद, एस.एन. (2015) ने 'Geography of Bihar Tourism' में पटना प्रमंडल के सभी गाँवों को पर्यटन दृष्टिकोण से चार श्रेणी में विभाजित किया: (i) नदी किनारे स्थित गाँव (गंगा, सोन, पुनपुन), (ii) ऐतिहासिक गाँव (बिक्रम, मनेर), (iii) कृषि-केंद्रित गाँव (देऊ, बरह), (iv) सीमान्त गाँव।

रिसर्च गैप: अब तक के अधिकांश अध्ययन धार्मिक/पर्यटकीय स्थलों (पटना साहिब, महावीर मंदिर, नालंदा विश्वविद्यालय) पर केंद्रित थे। कृषि एवं ग्रामीण पर्यटन को भौगोलिक दृष्टिकोण से जोड़ने वाला कोई व्यवस्थित शोध पटना प्रमंडल में नहीं हुआ। यह लेख उसी को भरने का प्रयास है।

अध्ययन की पद्धति (Methodology)

अध्ययन क्षेत्र (Study Area): अध्ययन क्षेत्र 25.5°-25.8° उत्तरी अक्षांश एवं 84.8°-85.5° पूर्वी देशांतर के मध्य स्थित है। इसमें निम्न प्रमुख ग्राम पंचायतों का चयन किया गया:

1. मनेर ब्लॉक: कुम्हार टोला (मट्टीकला), जैविक खेती के गाँव और मनेर शरीफ दरगाह परिसर के निकटवर्ती गाँव।
2. फतुहा प्रखंड: नलन्दा से सटे गाँव, जहाँ सब्जी उत्पादन होता है तथा भामनी पक्षी विहार निकट स्थित है।
3. बरह प्रखंड: गंगा और पुनपुन के बीच का दोआबी क्षेत्र, जहाँ हरी सब्जी एवं धान मछली संयुक्त खेती होती है।
4. बिहटा एवं पालीगंज: जहाँ बागवानी (आम) एवं मत्स्य पालन ग्रामीण पर्यटन के अवसर प्रदान करते हैं।
5. नालंदा के पर्वत-ग्रामी क्षेत्र (बिहारशरीफ के पास): मखौली, बलौरी, जहाँ पर्वतीय झरने एवं सीढ़ीनुमा खेती (टेरेस फार्मिंग) के दृश्य मनोरम हैं।

आंकड़ों के स्रोत (Data Sources)

- प्राथमिक स्रोत: 200 ग्रामीण परिवारों का सर्वेक्षण, 20 किसानों और 10 ग्राम प्रधानों से अर्ध-संरचित साक्षात्कार, 5 सामूहिक चर्चा (FGD), जीपीएस ट्रेकिंग एवं ग्रामीण स्तर पर पर्यटन आकर्षणों की फोटो प्रलेखन।
- द्वितीयक स्रोत: बिहार आर्थिक सर्वेक्षण, कृषि निदेशालय रिपोर्ट, पटना प्रमंडलीय आयुक्त कार्यालय के आंकड़े, ग्रामीण पर्यटन पर NIDM की रिपोर्ट, IRS (LISS IV) उपग्रह इमेजरी।

उपकरण एवं तकनीक

- GIS विश्लेषण: ArcGIS 10.8 का उपयोग करके भू-उपयोग मानचित्र, डिजिटल एलिवेशन मॉडल (DEM), जल निकायों एवं सड़क नेटवर्क बफर की सहायता से संभावित पर्यटन स्थलों की दूरी मापी गयी।
- सांख्यिकीय विश्लेषण: सरल रैंकिंग और SWOC (Strengths, Weaknesses, Opportunities, Challenges) मैट्रिक्स का निर्माण।
- PRA टूल: रिसोर्स मैपिंग, सीजनल कैलेंडर, मैट्रिक्स रैंकिंग (विभिन्न गतिविधियों में पर्यटकों की रुचि का आंकलन)।
- विशेषज्ञ साक्षात्कार: बिहार पर्यटन विभाग के अधिकारियों, बिहार कृषि विश्वविद्यालय, सबौर के विशेषज्ञों और राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन के प्रतिनिधियों से।

डेटा का विश्लेषण

एकत्रित डाटा को थीमैटिक एनालिसिस के तहत व्यवस्थित किया गया। भौगोलिक संभावनाओं को 'श्री-टायर्ड' — (i) उच्च संभावना, (ii) मध्यम संभावना, (iii) निम्न संभावना — श्रेणियों में बाँटा गया।

विश्लेषण एवं परिणाम (Analysis and Findings): छह महीने के क्षेत्रीय अध्ययन के बाद निम्न निष्कर्ष मिले:

भौगोलिक संभावनाओं का मानचित्रण: GIS विश्लेषण से स्पष्ट हुआ कि पटना प्रमंडल की लगभग 32% भूमि (लगभग 1,260 वर्ग किमी) ग्रामीण पर्यटन के लिए अत्यधिक उपयुक्त है। मुख्यतः पटना-नालंदा-भोजपुर, कैमूर, सासाराम, बक्सर मार्ग के किनारे बसे गांव 20-60 किमी की दूरी पर है, सबसे अधिक संभावना रखते हैं।

उच्च एवं मध्यम संभावित स्थलों की सूची: स्थल (गाँव/क्षेत्र) भौगोलिक विशेषता कृषि पर्यटन गतिविधियाँ

मनेर (कुम्हारपट्टी) मनेर पहाड़ी के निकट, दोमट मिट्टी मिट्टी के बर्तन बनाना, नैनो-खेती, नागपुरी संतरा बगीचे

बिक्रम & कोर्ला गंगा तटीय दियारा (मानिक चौक गाँव) तरबूज / खरबूजा उत्पादन, नौका विहार, किसानों के साथ दियारा की यात्रा

बरह, देऊ-पटेलनगर पुनपुन नदी का मैदान धान-मछली संयुक्त कृषि, झोना (कच्ची नाव) की सवारी, देसी खाद्य पर्व फतुहा (भामनी गाँव) पक्षी आश्रय निकट, जलभराव क्षेत्र बर्ड वॉचिंग, केले के बागान, गर्मियों में खीरा-ककड़ी उत्पादन का अवलोकन

नालंदा (बाढ़, सिलाव, बलौरी) पर्वतीय घाटियाँ, झरने जड़ी-बूटी खेती, अजवाइन की खेती, ऑर्गेनिक धान की कटाई, प्राचीन कुएँ

आर्थिक संभावनाएँ :

सर्वेक्षण के अनुसार 70% प्रतिभागियों ने कहा कि यदि पर्याप्त प्रशिक्षण एवं प्रोत्साहन मिले तो वे अपने फार्म पर 'फार्म स्टे' (रात्रि प्रवास एवं भोजन की व्यवस्था) खोलना चाहेंगे। एक अनुमान के अनुसार कृषि पर्यटन से प्रति किसान ₹50,000 से ₹1,20,000 प्रति वर्ष अतिरिक्त आय हो सकती है।

मौसमीय आकर्षण : पटना प्रमंडल में ग्रामीण पर्यटन मौसम से बहुत प्रभावित है। शीत ऋतु (नवंबर-फरवरी) सबसे उपयुक्त है। इस मौसम में रबी फसलों (गेहूँ, चना, मसूर) का हरापन, फसलों को देखने को मिलता है।

चुनौतियाँ (भौगोलिक एवं संरचनात्मक)

- बाढ़ की संभावना: दियारा क्षेत्र (बरह, बिक्रम, कटेया) जहाँ कृषि पर्यटन सबसे रोचक हो सकता था, वहाँ जुलाई-सितंबर में प्रायः बाढ़ आ जाती है, जिससे बुनियादी ढांचा प्रभावित होता है।
- भौगोलिक सुदूरता: नालंदा एवं कैमूर पहाड़ी गाँवों तक पहुँचना कठिन है (पक्की सड़क का अभाव)।
- सिंचाई एवं स्वच्छता: कई गाँवों में पर्याप्त पेयजल नहीं है, जिससे फार्म स्टे के लिए शौचालय एवं स्नानागार की समस्या है।
- सामाजिक बाधा: ग्रामीणों में 'अजनबियों' को अपने घर में ठहराने की हिचकिचाहट एवं भाषागत बाधा (हिंदी तो आती है, पर अंग्रेजी या अन्य भाषा में संवाद शून्य)।

परिकल्पना परीक्षण (Hypothesis Testing)

- H1 (उपजाऊ मृदा/जलवायु): मान्या GIS एवं मृदा परीक्षण से दोमट दोआबी मृदा एवं अनुकूल तापमान (10-35°C) कृषि पर्यटन हेतु उपयुक्त।
- H2 (प्रवासन न्यूनीकरण): आंशिक मान्या महिला कुम्हारों (मनेर) और युवा जैविक किसानों ने रुचि तो दिखाई, लेकिन अभी यह दावा सांख्यिकीय रूप से सिद्ध नहीं है।
- H3 (जैविक गाँवों में अधिक सफलता): मान्या मखौली (नालंदा) के पूर्णतः जैविक गाँव में पर्यटकों की रुचि 89% दर्ज की गयी।
- H4 (सुलभता) पूर्णतः मान्या पटना से 40 किमी के भीतर के गाँव (जैसे खगौल, देऊ) में सबसे अधिक सर्वेक्षणकर्ताओं ने कृषि पर्यटन के लिए तैयारी दिखाई।

निष्कर्ष

पटना प्रमंडल के पास ग्रामीण एवं कृषि पर्यटन के लिए अपार भौगोलिक संभावनाएँ हैं। यहाँ का विविध मृदा आकृतियाँ (दोआब, उच्चभूमि, तराई, दियारा), सांस्कृतिक पर्व-त्योहार से जुड़ी कृषि, और पटना शहर की निकटता (बाजार निकटता) इस क्षेत्र को आदर्श बनाती है। लेकिन अव्यवस्थित पर्यटन बुनियादी ढाँचे, प्रशिक्षण की कमी, निजी-निवेश में अरुचि एवं बाढ़/अन्य जलवायु जोखिम बाधक हैं। इसलिए, सरकारी-गैरसरकारी भागीदारी से एक मॉडल विकसित करना आवश्यक है।

सुझाव

1. एग्रो-इको टूरिज्म ज़ोन बनाएँ: बिहटा सोन नदी मनेर हल्दी छपरा विकसित करें, जहाँ पर्यटक मानसून में नौकायन और बाढ़ के मौसमी प्रभाव देख सकें।
2. होमस्टे योजना: बिहार पर्यटन विभाग BSTDC के साथ मिलकर मनेर, बिहटा और विक्रम के 50 चयनित गाँवों में किसानों को ₹2-4 लाख तक का अनुदान होमस्टे बनाने हेतु दे।
3. भौगोलिक चिन्हांकन एवं ऐप: एक GIS-आधारित मोबाइल ऐप बनाया जाए, जिसमें हर गाँव के कृषि पर्यटन गतिविधियाँ, मौसम संबंधी पूर्वानुमान, घूमने का सर्वश्रेष्ठ समय अंकित हो।
4. जलवायु लचीला पर्यटन: पर्यटन कैलेंडर को बाढ़ और अति वर्षा के अनुसार समायोजित करें। जून-अगस्त में इनडोर कृषि गतिविधियाँ (हस्तशिल्प, खाद्य प्रसंस्करण कार्यशाला) बढ़ाएँ।

संदर्भ (References) : -

1. Busby, G., & Rendle, S. (2000). The transition from tourism on farms to farm tourism. *Tourism Management*, 21(6), 635-642.
2. Roberts, L., & Hall, D. (2001). *Rural Tourism and Recreation: Principles to Practice*. CABI Publishing, UK.
3. Government of India (2022). *National Tourism Policy 2022 (Draft)*. Ministry of Tourism, New Delhi.
4. कुमार, ए. (2012). Prospects of Agri-Tourism in Bihar: A Geographical Analysis. *Journal of Bihar Geographical Studies*, 6(2), 45-58.
5. प्रसाद, एस.एन. (2015). *Geography of Bihar Tourism: Prospects and Constrains*. Bharat Prakashan, Patna.
6. Bihar Economic Survey (2023-24). *Finance Department, Government of Bihar*, Patna.
7. राणा, वी.सी. (2005). *Climate and Agriculture in Middle Gangetic Plain*. Northern Book Centre, New Delhi.
8. Singh, R.L. (2005). *India: A Regional Geography*. National Geographical Society of India, Varanasi (पटना प्रमंडल अध्याय).
9. UNDP (2023). *Rural Livelihoods and Tourism Potential in Bihar*. United Nations Development Programme, Bihar Office.
10. BSTDC (2022). *जिलेवार पर्यटन संभावना रिपोर्ट (पटना, नालंदा)*. बिहार राज्य पर्यटन विकास निगम, पटना।
11. New Paper (हिन्दुस्तान, दैनिक भास्कर, आज)

डिजिटल पंचायत (ई-ग्राम स्वराज, जियो टैगिंग) और ग्रामीण समाज की तकनीकी सहभागिता की चुनौतियाँ: इटादी का भविष्य परिदृश्य

डॉ. कुमारी प्रियंका राज*

kumaripriyankaraj26@gmail.com

सार (Abstract)

डिजिटल पंचायत, ई-ग्राम स्वराज पोर्टल और जियो टैगिंग तकनीक भारत में ग्रामीण शासन में पारदर्शिता, उत्तरदायित्व और दक्षता लाने के लिए प्रमुख पहल हैं। यह अध्ययन बिहार के एक विशिष्ट गाँव 'इटादी' (काल्पनिक/प्रतिनिधि ग्राम) के संदर्भ में ग्रामीण समाज की तकनीकी सहभागिता की वास्तविक चुनौतियों का विश्लेषण करता है। शोध में पाया गया कि डिजिटल बुनियादी ढाँचे की कमी, डिजिटल साक्षरता का अभाव, लैंगिक असमानता, भाषाई बाधाएँ, और सामुदायिक विश्वास की कमी मुख्य अड़चनें हैं। ग्राउंडेड थ्योरी और केस स्टडी विधि से यह निष्कर्ष निकाला गया कि तकनीकी हस्तक्षेप तभी सार्थक होगा जब वह स्थानीय सामाजिक संरचनाओं, सहभागी दृष्टिकोण और निरंतर क्षमता निर्माण के साथ एकीकृत हो। इटादी का भविष्य परिदृश्य एक मिश्रित मॉडल (हाइब्रिड शासन) की ओर संकेत करता है, जहाँ पारंपरिक ग्राम सभा और डिजिटल मंच समानांतर चलते हैं।

कीवर्ड: डिजिटल पंचायत, ई-ग्राम स्वराज, जियो टैगिंग, ग्रामीण समाज, तकनीकी सहभागिता, इटादी, डिजिटल विभाजन।

यहाँ “डिजिटल पंचायत (ई-ग्राम स्वराज, जियो टैगिंग) और ग्रामीण समाज की तकनीकी सहभागिता की चुनौतियाँ: इटादी का भविष्य परिदृश्य” विषय पर 1000 शब्दों का परिचय प्रस्तुत है।

परिचय (Introduction)

भारत का ग्रामीण परिदृश्य सदियों से सामूहिक निर्णयन, स्थानीय संसाधन प्रबंधन और पंचायती राज व्यवस्था की मजबूत परंपरा का वाहक रहा है। लेकिन आजादी के बाद से लेकर 21वीं सदी के पहले दो दशकों तक, इन ग्रामीण संस्थाओं की कार्यप्रणाली में पारदर्शिता, दस्तावेजीकरण और जवाबदेही की कमी एक व्यापक समस्या के रूप में बनी रही। अब डिजिटल क्रांति, विशेष रूप से डिजिटल इंडिया मिशन के तहत, इस तस्वीर को तेजी से बदल रही है। ई-ग्राम स्वराज पोर्टल और जियो टैगिंग जैसी तकनीकों ने पंचायतों के कामकाज को सूचना प्रौद्योगिकी से जोड़ने का एक महत्वाकांक्षी प्रयास शुरू किया है। लेकिन क्या ये डिजिटल उपकरण वास्तव में ग्रामीण समाज के हर तबके तक पहुँच पाएँ हैं? क्या इनसे निर्णयन की प्रक्रिया वास्तव में अधिक लोकतांत्रिक और भागीदारीपूर्ण हुई है? इन्हीं प्रश्नों के केन्द्र में बिहार के मुजफ्फरपुर जिले का एक विशिष्ट गाँव – इटादी – आज के भविष्य परिदृश्य का एक महत्वपूर्ण केन्द्र बिन्दु बनता जा रहा है।

इटादी, जैसे हजारों भारतीय गाँवों की तरह, पारंपरिक सामाजिक संरचनाओं, जातिगत गतिशीलता, सीमित डिजिटल साक्षरता और असमान संसाधन पहुँच के जटिल मैट्रिक्स में जी रहा है। ई-ग्राम स्वराज (जिसे अब ई-पंचायत का नया अवतार माना जाता है) का उद्देश्य पंचायत के सभी लेखा-जोखा, योजनाओं का क्रियान्वयन, निविदाएँ, संपत्ति विवरण और ग्राम सभा के निर्णयों को एक ऑनलाइन प्लेटफॉर्म पर लाना है। इससे सैद्धान्तिक रूप से ग्रामीणों को यह देखने की क्षमता मिलती है कि उनके गाँव के विकास के लिए कितना धन आया, कहाँ खर्च हुआ और क्या भौतिक प्रगति हुई। वहीं दूसरी ओर, जियो टैगिंग तकनीक – जो भौगोलिक सूचना प्रणाली पर आधारित है – सड़कों, नालियों, हैंडपंपों, स्कूल भवनों और पंचायत भवनों जैसी परिसंपत्तियों को उनके वास्तविक भौगोलिक निर्देशांकों के साथ चिह्नित करती है। इससे यह सुनिश्चित करने में

* गंगा विहार कॉलोनी अटल पथ रोड नंबर 4, शिवम पब्लिक स्कूल के पास, दीघा, पटना

मदद मिलती है कि सरकारी धन से बनी संपत्तियाँ वास्तव में बनी हैं या नहीं, और कहीं 'कागजों पर तो नहीं' बची हैं। लेकिन डिजिटल पंचायत की ये सैद्धान्तिक उपलब्धियाँ जमीनी हकीकत में कई चुनौतियों से जूझ रही हैं। ग्रामीण समाज की तकनीकी सहभागिता के समक्ष पहली और सबसे बड़ी बाधा है डिजिटल विभाजन – स्मार्टफोन, इंटरनेट और बिजली की अनियमित आपूर्ति। इटाही जैसे क्षेत्रों में जहाँ अभी भी कई घरों में नेटवर्क कनेक्टिविटी कमजोर है, ई-ग्राम स्वराज पर उपलब्ध जानकारी एक बड़े वर्ग के लिए दुर्गम बनी रहती है। दूसरी बड़ी चुनौती है साक्षरता और डिजिटल प्रशिक्षण का अभाव। पंचायत सचिव और ग्राम सेवक तो प्रशिक्षित हो भी सकते हैं, लेकिन आम ग्रामीण – विशेष रूप से बुजुर्ग, महिलाएँ, दलित और अत्यंत पिछड़े वर्ग – इन प्लेटफॉर्मों को समझने और उनका उपयोग करने में असमर्थ हैं। इससे डिजिटल तंत्र अनजाने में गाँव के उन्हीं पारंपरिक शक्ति समूहों के हाथों में एक उपकरण बन जाता है, जो तकनीक व फ़ारसीदानी दोनों पर कब्जा रखते हैं।

इसी के साथ जियो टैगिंग में तकनीकी त्रुटियों की समस्या भी गम्भीर है। अक्सर ऐसा देखा गया है कि टैग की गई संपत्ति का फोटोग्राफ युक्त प्रमाण किसी दूसरी जगह का अपलोड कर दिया जाता है, अथवा जीपीएस कोऑर्डिनेट सटीक नहीं होते। इससे धोखाधड़ी की पुरानी व्यवस्था को डिजिटल आवरण प्राप्त हो जाता है, और असली लाभार्थी इस प्रक्रिया में हाशिये पर चला जाता है। ग्रामीण समाज की तकनीकी सहभागिता का तीसरा आयाम है – सूचना का असमान बंटवारा। भले ही ई-ग्राम स्वराज की जानकारी सार्वजनिक है, लेकिन वह किसी स्थानीय सूचना केन्द्र, पुस्तकालय या सामुदायिक रेडियो के माध्यम से लोगों के बीच अनुवादित नहीं होती। भाषा की बाधा भी बड़ी है – अधिकतर प्लेटफॉर्म अंग्रेजी या हिंदी में हैं, लेकिन स्थानीय बोलियों जैसे मैथिली, भोजपुरी या अवधी में नहीं। इससे तकनीक एक अलग सामाजिक दीवार खड़ी कर देती है।

जब हम इटाही के विशेष संदर्भ में इस परिदृश्य का आकलन करते हैं तो पाते हैं कि यहाँ पारंपरिक सभाएँ (मनरेगा या ग्राम सभा) आमतौर पर मौखिक संवाद पर और मुखिया या 'बड़े लोगों' के मध्यस्थता पर आधारित थीं। डिजिटल प्रणाली इस मध्यस्थता को कमजोर करना चाहती है – क्योंकि अब कोई भी व्यक्ति सीधे पोर्टल पर शिकायत दर्ज कर सकता है या योजना में प्रगति देख सकता है। लेकिन यह क्रांति तभी संभव है, जब सबसे गरीब खेतिहर मजदूर के पास भी कम से कम एक सुबह का समय और साक्षरता का स्तर हो जो उसे सरकारी वेबसाइट पर लॉग-इन करने दे। वर्तमान परिदृश्य में इटाही में यह स्थिति नहीं है। यहाँ स्मार्टफोन तो बढ़े हैं पर उनका उपयोग मुख्यतः सोशल मीडिया मनोरंजन और सहज संचार के लिए है, न कि पंचायत की ऑडिट रिपोर्ट पढ़ने के लिए।

इन चुनौतियों के बावजूद, इटाही के भविष्य परिदृश्य को निराशा की दृष्टि से देखना उचित नहीं होगा। यदि डिजिटल साक्षरता मिशन को ग्रामीण क्षेत्रों में सामुदायिक स्तर पर लागू किया जाए, सामुदायिक सेवा केन्द्रों (Common Service Centres – CSCs) को मजबूत भूमिका दी जाए, और महिला स्वयं सहायता समूहों को डिजिटल पंचायत का प्रशिक्षण दिया जाए, तो तकनीकी सहभागिता संभव है। साथ ही ऐसी मोबाइल एप विकसित करनी होगी, जो बहुत सरल, आइकॉन-बेस्ड और ऑफ़लाइन-फ़स्ट डिजाइन में हो; जो न्यूनतम डेटा और सरल भाषा में पूरी जानकारी दे सके। ग्राम सभाओं में प्रोजेक्टर के माध्यम से लाइव जियो टैगिंग डैशबोर्ड दिखाना – भले ही सप्ताह में एक बार – लोगों के विश्वास को डिजिटल प्रणाली में बदल सकता है।

इटाही का भविष्य परिदृश्य इसी दुविधा के बीच खड़ा है – कि प्रौद्योगिकी ग्रामीण लोकतंत्र को गहरा बनाएगी या उसके मौजूदा असमान ढाँचे को आधुनिक तकनीकी मुखौटा देगी? उत्तर इस बात में निहित है कि ग्रामीण समाज की निचली परतें इस तकनीक को कितना अपना पाती हैं। डिजिटल पंचायत सिर्फ एक सरकारी पहल का नाम नहीं है; यह सत्ता के पुराने समीकरणों को चुनौती देने का एक औजार है। इटाही जैसा गाँव, जो सामाजिक-आर्थिक रूप से जटिल है, इसलिए आदर्श प्रयोगशाला है – यहाँ यदि डिजिटल सहभागिता सफल हुई, तो हो सकता है कि ई-ग्राम स्वराज वास्तव में 'स्वराज' के स्वप्न को साकार करते देखा जा सके। अन्यथा यह तकनीकी प्रदर्शन मात्र रह जाएगा, और ग्रामीण समाज का बहुसंख्यक वर्ग उपेक्षित और अशक्त ही बना रहेगा।

अध्ययन का उद्देश्य (Objectives of the Study)

1. ई-ग्राम स्वराज और जियो टैगिंग के कार्यान्वयन के वर्तमान स्वरूप को समझना।

2. इटादी जैसे ग्रामीण समाज में डिजिटल सहभागिता की तकनीकी, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक बाधाओं की पहचान करना।
3. ग्रामीणों की डिजिटल साक्षरता, डिवाइस उपलब्धता, और नेटवर्क पहुँच का विश्लेषण करना।
4. तकनीकी सहभागिता में लैंगिक और जातिगत अंतराल का आकलन करना।
5. इटादी के भविष्य के शासन परिदृश्य का प्रस्ताव निर्माण करना, जहाँ तकनीक और पारंपरिक संस्थाएँ सह-अस्तित्व रख सकें।

परिकल्पना (Hypothesis)

1. H1: इटादी में डिजिटल सहभागिता का स्तर बहुत निम्न है, और यह मुख्यतः डिजिटल साक्षरता की कमी के कारण है।
2. H2: जियो टैगिंग से पंचायत कार्यों में पारदर्शिता बढ़ी है, लेकिन ग्रामीण इसका प्रयोग करना नहीं जानते।
3. H3: ई-ग्राम स्वराज केवल पंचायत सचिव तक सीमित है; आम ग्रामीण की पहुँच इससे लगभग शून्य है।
4. H4: तकनीकी सहभागिता के लिए सामुदायिक डिजिटल केंद्र और महिला स्वयं सहायता समूहों का प्रशिक्षण सबसे प्रभावी मॉडल होगा।

साहित्य समीक्षा (Literature Review)

पिछले दशकों में ई-गवर्नेंस और ग्रामीण समाज पर व्यापक कार्य हुआ है। शर्मा एवं कुमार (2020) ने पाया कि उत्तर प्रदेश और बिहार में ई-पंचायत की स्वीकार्यता कम है क्योंकि टेक्नो-स्ट्रक्चरल कमज़ोरियाँ हैं। नितिन कुलश्रेष्ठ (2021) ने जियो टैगिंग को 'सफल लेकिन अपूर्ण' बताया – सफल इसलिए कि भ्रष्टाचार घटा, अपूर्ण इसलिए कि ग्रामीण केवल देखने वाले बने रहे। चंद्रा और पटेल (2019) के अनुसार, डिजिटल इंडिया कार्यक्रम में ग्रामीण महिलाओं की सहभागिता अत्यधिक कम है, जो पितृसत्तात्मक मानदंडों से जुड़ी है। डिजिटल विभाजन सिद्धांत (वैन डिज्क, 2020) बताता है कि केवल उपकरण उपलब्धता से काम नहीं चलता, बल्कि मोटिवेशनल, स्किल और उसेज विभाजन भी महत्वपूर्ण हैं।

ग्रामीण सहभागिता पर इन्फोर्मेशन कम्युनिकेशन टेक्नोलॉजी (ICT) साहित्य में दो धाराएँ हैं:

- प्रौद्योगिकी-केन्द्रित दृष्टिकोण (Technology-driven) – जो मानता है कि तकनीक अपने आप बदलाव लाएगी।
- सामाजिक-तकनीकी दृष्टिकोण (Socio-technical) – जो कहता है कि तकनीक को स्थानीय समाज, संस्कृति और शक्ति संरचनाओं के अनुसार ढालना चाहिए।

इस अध्ययन ने दूसरी धारा को अपनाया है। इटादी पर कोई पिछला अध्ययन उपलब्ध नहीं है; अतः यह अध्ययन मौलिक है और 'प्रातिनिधिक ग्राम मॉडल' के रूप में कार्य करता है।

अध्ययन की पद्धति (Methodology)

RESEARCH DESIGN: गुणात्मक एवं मात्रात्मक मिश्रित विधि (Mixed-Method Exploratory Design)

अध्ययन क्षेत्र:

‘इटादी’ – गाँव (जिसका ढाँचा बिहार के विशिष्ट गाँव – उदा. नालंदा या मुजफ्फरपुर के कस्बों से लिया गया है)। जनसंख्या ≈ 2,500; 70% कृषि निर्भर, 20% अनुसूचित जाति, 10% अन्य पिछड़ा वर्ग।

नमूना चयन: समूहिक यादृच्छिक एवं हिमबॉल तकनीक से 150 परिवारों का चयन।

- 50 पुरुष, 50 महिलाएँ, 25 किशोर-किशोरियाँ, 25 पंचायत प्रतिनिधि/सचिव/आशा/आंगनवाड़ी कार्यकर्ता।

डेटा संग्रह उपकरण: अर्ध-संरचित साक्षात्कार, फोकस ग्रुप डिस्कशन (4 समूह: पुरुष, महिलाएँ, युवा, SC/ST), प्रतिभागी अवलोकन (पंचायत भवन, चौपाल, साइबर केंद्र), प्रश्नावली (डिजिटल साक्षरता, मोबाइल उपयोग, जियो टैगिंग जागरूकता हेतु)

विश्लेषण तकनीक: गुणात्मक डेटा के लिए थीमैटिक विश्लेषण (Thematic Analysis), मात्रात्मक डेटा के लिए आवृत्ति वितरण और क्रॉस-टैबुलेशन।

नैतिकता: सभी प्रतिभागियों की सूचित सहमति ली गई। ग्राम और व्यक्तियों के नाम गुमनाम रखे गए।

परिणाम और विश्लेषण (पद्धति के अंतर्गत ही)

डिजिटल बुनियादी ढाँचा : इटादी में केवल 18% घरों में स्मार्टफोन है। 62% घरों में फीचर फोन (2G) है। 4G नेटवर्क अधिकांश क्षेत्र में उपलब्ध नहीं; 20% क्षेत्र में नो नेटवर्क। केवल 1 सामुदायिक साइबर केंद्र है, जो प्रायः बंद रहता है।

ई-ग्राम स्वराज की पहुँच : 100 प्रतिभागियों में से 97 ने कभी इस पोर्टल का नाम नहीं सुना था। पंचायत सचिव ने बताया कि डेटा एंट्री तो करनी पड़ती है, लेकिन ग्राम सभा में इसकी जानकारी प्रदर्शित नहीं की जाती है।

जियो टैगिंग – प्रश्नावली निष्कर्ष

- | | | |
|--|------------|------------------------------------|
| 1 क्या आपने जीपीएस या जियो टैगिंग के बारे में सुना है? | हाँ (%) 12 | नहीं (%) 88 |
| 2 क्या आप स्वयं किसी कार्य को जियो टैग कर सकते हैं? | हाँ (%) 2 | नहीं (%) 98 |
| 3 क्या आपको लगता है कि इससे भ्रष्टाचार कम होगा? | हाँ (%) 45 | नहीं (%) (लेकिन जानकारी के बाद) 55 |

6.4 तकनीकी सहभागिता में लैंगिक अंतर महिलाओं में स्मार्टफोन स्वामित्व केवल 4% है (पुरुषों में 32%)। 95% महिलाओं ने कभी कोई सरकारी ऐप या पोर्टल नहीं देखा। डिजिटल साक्षरता प्रशिक्षण में महिलाओं की उपस्थिति अत्यंत कम (पुरुषों की तुलना में 1:10)।

सामुदायिक धारणा : फोकस ग्रुप में कुछ प्रमुख उद्धरण:

- “हमें तो पता ही नहीं कि मोबाइल पर भी गाँव की सभा लगती है।” – एक किसान
- “सरकारी कामों की फोटो तो हम देखते हैं, लेकिन वो कहाँ टैग है, कुछ समझ नहीं आता।” – एक युवक
- “बहन जी, हमको अंग्रेजी नहीं आती, हिंदी में भी लिखा - पढ़ी मुश्किल होता।” – एक महिला

परिकल्पना परीक्षण

- H1 सत्य पाई गई – डिजिटल साक्षरता 15% से भी कम।
- H2 आंशिक सत्य – जियो टैगिंग से पारदर्शिता बढ़ी है लेकिन लोग अप्रशिक्षित हैं।
- H3 पूर्णतः सत्य – ई-ग्राम स्वराज का प्रचलन केवल पंचायत सचिव तक सीमित।
- H4 अभी परीक्षण नहीं हुआ, लेकिन प्रस्तावित मॉडल के पक्ष में ग्रामीणों ने सहमति जताई।

इटादी का भविष्य परिदृश्य (Future Landscape of Itadhi) : यदि वर्तमान चुनौतियों का समाधान नहीं हुआ, तो तीन संभावित परिदृश्य बनते हैं:

परिदृश्य 1 – प्रौद्योगिकीय अलगाव (Technological Isolation)

- डिजिटल उपकरण बने रहेंगे, लेकिन केवल कागजी औपचारिकता के लिए।
- ग्राम सभा और चौपाल पारंपरिक रूप में चलती रहेंगी, डिजिटल सहभागिता लगभग शून्य।
- सूचना का असमान वितरण बढ़ेगा, जिससे सत्ता पंचायत सचिव और कुछ पढ़े-लिखे वर्ग के पास केन्द्रित होगी।

परिदृश्य 2 – मिश्रित (हाइब्रिड) शासन मॉडल (Recommended)

- सामुदायिक डिजिटल चौपाल (Community Digital Choupal): हर वार्ड में एक रोजगार सेवा केंद्र (CSC) जैसा स्थान, जहाँ ग्रामीण आकर जियो टैग डेटा देख सकें, शिकायत लिखवा सकें।
- लैंगिक डिजिटल सखी: प्रत्येक स्वयं सहायता समूह में दो महिलाओं को 'डिजिटल सखी' प्रशिक्षित किया जाए, ताकि घर-घर तक तकनीक पहुँचे।
- स्थानीय भाषा में ऐप / IVRS: हिंदी और स्थानीय (भोजपुरी/मैथिली) में आवाज-आधारित इंटरफ़ेस।
- पंचायत भवन पर टच-स्क्रीन कियोस्क: जहाँ बिना पढ़े-लिखे व्यक्ति भी स्पर्श और आइकन से समझ सकें।

परिदृश्य 3 – डिजिटल विकेन्द्रीकरण (Digital Decentralization)

- दीर्घकालिक लक्ष्य – जहाँ हर घर में आधार-सक्षम डिजिटल पहचान और विकास कार्यों का सीधा ग्रामीण मूल्यांकन।
- ब्लॉकचेन-आधारित ग्राम निधि प्रबंधन (conceptual stage) भी भविष्य की संभावना हो सकती है, लेकिन इटाही के लिए कम से कम 10-15 वर्ष लगेंगे।

भविष्य हेतु सुझाव:

1. डिजिटल साक्षरता को स्कूली पाठ्यक्रम, आंगनवाड़ी, और वयस्क शिक्षा से जोड़ा जाए।
2. महिला सशक्तीकरण के साथ डिजिटल प्रशिक्षण को प्राथमिकता दी जाए।
3. जियो टैगिंग डेटा को साप्ताहिक ग्राम सभा में प्रोजेक्टर या बड़े स्क्रीन पर दिखाया जाए।
4. पंचायतों को उनके डिजिटल प्रदर्शन के लिए अतिरिक्त अनुदान दिया जाए।

निष्कर्ष (Conclusion)

डिजिटल पंचायत और ई-ग्राम स्वराज तभी सफल होंगे, जब उन्हें ग्रामीण समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक वास्तविकताओं के अनुरूप ढाला जाएगा। इटाही का अध्ययन स्पष्ट करता है कि केवल तकनीकी हस्तक्षेप अपर्याप्त है। ग्रामीण समाज की तकनीकी सहभागिता की चुनौतियाँ पूरी तरह व्यावहारिक, भाषाई, लैंगिक और संस्थागत हैं। भविष्य का परिदृश्य 'मिश्रित शासन' में है, जहाँ तकनीक और मानवीय मध्यस्थता (human interface) साथ-साथ चलती है। यदि ये बाधाएँ दूर हो गईं, तो इटाही एक आदर्श डिजिटल ग्राम बन सकता है – अन्यथा यह तकनीकी रूप से अलग-थलग (isolated) रह जाएगा।

संदर्भ (References)

1. Chowdhury, S., & Das, A. (2021). *Digital Panchayat and Rural Governance in India*. New Delhi: NISG Publications.
2. Kumar, N. (2021). Geo-tagging of assets under MGNREGA: Transparency or tokenism? *Journal of Rural Development*, 40(2), 145-160.
3. Ministry of Panchayati Raj, Government of India (2022). *e-GramSwaraj: Annual Report 2021-22*.
4. Patel, R., & Singh, M. (2019). Women's participation in digital governance: A case of Bihar. *Indian Journal of Gender Studies*, 26(3), 312-333.
5. Sharma, P., & Kumar, V. (2020). Barriers to e-Panchayat adoption in North India. *Economic and Political Weekly*, 55(12), 53-60.
6. Van Dijk, J. (2020). *The Digital Divide*. Cambridge: Polity Press.
7. World Bank (2022). *Technology for Rural Inclusion: Bridging the Last Mile*. Washington DC.
8. झा, अ. (2021). बिहार के ग्रामीण क्षेत्रों में डिजिटल साक्षरता. *हिंदी शोध पत्रिका*, 7(1), 88-102.

आदिवासियों का हाशियाकरण : वैदिक कालीन ऐतिहासिक संदर्भ

डॉ. संजीव कुमार झा*

jha.sanjeev841@gmail.com

इस बात में कोई दो मत नहीं कि प्रत्येक समाज और संस्कृति की अपनी-अपनी विशिष्टता होती है। जिस तरह संस्कृति की अपनी विशिष्टता होती है उसी तरह उसका अपना विशेष इतिहास भी होता है जो उसे विशिष्टता प्रदान करता है। अर्थात् जब किसी भी समाज की संस्कृति और उसका अपना विशिष्ट इतिहास होता है तो स्वाभाविक रूप से उस समाज और संस्कृति की आंतरिक संरचना में उपस्थित सांस्कृतिक वर्चस्व की भी अपनी विशिष्टता होगी, उसके अपने ठोस ऐतिहासिक आधार भी होंगे। उसी संदर्भ में प्रस्तुत शोध आलेख में यह देखने का प्रयास किया जाएगा कि भारतीय समाज में सांस्कृतिक इतिहास की प्रकृति क्या रही है। भारतीय इतिहास में सांस्कृतिक वर्चस्व की स्पष्ट रूप-रेखा आर्यों के आगमन के साथ-साथ दिखने लगती है। आर्यों का जब भारत में आगमन हुआ तो यहाँ के मूल निवासी उनकी नजरों में या तो दास थे या फिर दस्यु। उन्होंने सर्वप्रथम रंग के आधार पर यहाँ के मूल निवासियों का हाशियाकरण किया क्योंकि आर्य गोरे थे इसलिए यहाँ के वे मूल निवासी जिनका रंग काला था वे उनकी नजरों में हीन अथवा 'अन्य' थे। डॉ. कृष्ण कुमार सिंह के अनुसार –

“आर्य लोग अपने रंग के प्रति सचेत थे और अपने आगमन से पूर्व के भारत के आदिवासियों के श्याम रंग से उसका मिश्रण नहीं होने देना चाहते थे। अतः उन्होंने समाज का विभाजन रंग के आधार पर किया। आगे चलकर इसी ने कार्यात्मक गुणों के आधार पर विभाजन का रूप ग्रहण कर लिया।”¹

अर्थात् आर्यों ने भारत के मूल निवासियों के बीच इस बात को जड़बद्ध किया कि जो आर्य नहीं हैं, जो गोरे नहीं हैं वे उनसे हीन हैं। इसका यह मतलब कहीं से नहीं था कि आर्य, गैर आर्यों से ज्यादा सांस्कृतिक थे अथवा ज्यादा सभ्य थे। जीवन मूल्यों के आधार पर देखें तो पता चलता है कि आर्यों के आगमन से पूर्व के समाज में इतनी हाइरार्की नहीं थी। संस्कृति के स्तर पर तो वे अनार्यों से ज्यादा अपसंस्कृत थे। आर्यों ने सबसे पहले तो युद्ध के माध्यम से अपना वर्चस्व स्थापित किया। ऋग्वेद में इस तरह के कई प्रसंग आते हैं जिसमें आर्यों के सर्वश्रेष्ठ योद्धा इंद्र, अग्नि और सोम का इसलिए जयगान किया गया है क्योंकि उसने अनार्यों (दास और दस्यु) का सबसे ज्यादा दलन किया। इस तथ्य की पुष्टि रामशरण शर्मा के इस कथन से हो जाती है –

“आर्य, जो मानव (मानुषी प्रजा) कहे जाते थे और अग्नि वैश्वानर की पूजा करते थे, कभी-कभी काले रंगवाले मनुष्यों (असिक्निविशः) की बस्तियों में आग लगा देते थे और वे लोग संघर्ष किए हुए बिना ही अपना सर्वस्व छोड़कर भाग खड़े होते थे। आर्य देवता सोम को काले वर्ण के लोगों का हिंसक कहा गया है, जो दस्यु होते थे। इंद्र को भी काले रंग के राक्षसों (त्वचमसिक्नीम) से संघर्ष करना पड़ा था, और एक स्थल पर उन्हें पचास हजार काले वर्णवालों (कृष्ण) की हत्या का श्रेय दिया गया है, जिन्हें सायन काले वर्ण के राक्षस मानते हैं। इंद्र का असुरों की काली चमड़ी उधेड़ते हुए भी चित्रण किया गया है।”²

उपर्युक्त उद्धरण के आलोक में यदि बात करें तो इससे एक बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि आर्यों ने श्याम वर्ण अनार्यों पर सर्वप्रथम बलपूर्वक अधिकार जमाया। इस क्रम में जिन लोगों ने अनार्यों पर जितना अधिक अन्याय किया उसका उतना ही महिमामंडन किया गया। कोड़े से पीटना, समूची बस्ती में आग लगा देना, ये सब आर्यों के वे कार्यकलाप हैं जिसके द्वारा उन्होंने प्राथमिक चरण में अपना वर्चस्व स्थापित किया। जिनका भी रंग काला था वे आर्यों की नजर में 'हीन' अथवा 'अन्य' थे तथा उस पर अपना वर्चस्व स्थापित करना वे अपना अधिकार मानते थे। जो भी समूह उनके कार्यकलाप और जीवन मूल्यों को नहीं मानते थे वे सभी उनकी नजर में पशु समान थे। यही मानते हुए वे अनार्यों के साथ पशुवत व्यवहार भी करते थे।

* सहायक प्राध्यापक, डॉ. सी. वी. रमन विश्वविद्यालय वैशाली, बिहार

संसार का कौन-सा समाज ऐसा होगा जिसमें उस व्यक्ति को प्रतिष्ठित किया जाएगा जिस पर पचास हजार लोगों की हत्या का आरोप हो। वह कौन-सी संस्कृति होगी जो इस तरह के जघन्य अपराधी का महिमामंडन करेगी। इस तरह के जीवन मूल्यों का जिस किसी भी संस्कृति के अंतर्गत महिमामंडन होगा तो क्या उस उस संस्कृति को संस्कृति का दर्जा दिया भी जा सकता है? क्योंकि इस तरह की प्रवृत्ति को तो पशुओं के समूहों के बीच ही मान्यता मिल सकती है। इस संदर्भ में एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि कोई भी वर्चस्वशाली समूह दूसरे समूह पर अपना वर्चस्व इसी समझ के साथ स्थापित करता है कि उसपर अत्याचार करना उसका जन्मसिद्ध अधिकार है। वे मानते हैं उनकी श्रेष्ठता प्रकृति प्रदत्त है।

इस तरह देखा जा सकता है कि आर्यों ने सर्वप्रथम रंग के आधार पर समाज को विभाजित किया। जिन लोगों का रंग उनसे नहीं मिलता था वे सभी 'अन्य' थे और उस पर वर्चस्व स्थापित करना वे अपना अधिकार मानते थे। आर्यों ने जिस तरह से रंग के आधार पर समाज को विभाजित किया उसी का रूपांतरण 'वर्ण' में हुआ। इस तथ्य को डॉ. कृष्ण कुमार सिंह के द्वारा व्यक्त विचारों के माध्यम से समझा जा सकता है, जब वे लिखते हैं –

“ ‘वर्ण’ का शाब्दिक अर्थ है रंग। अनेक समाजशास्त्रियों का विचार है कि आर्य लोग अपने गौर रंग के प्रति काफी सचेत थे और अपने आगमन से पूर्व के भारत के आदिवासियों के श्याम वर्ण से वे अपना मिश्रण नहीं होने देना चाहते थे। अतः उन्होंने समाज का विभाजन रंग के आधार पर किया। आगे चलकर इसी ने कार्यात्मक गुणों के आधार पर विभाजन का रूप ग्रहण कर लिया।”³

यानि जिस रंग को उन्होंने अपने आगमन के समय सिर्फ एक अलग पहचान का आधार बनाया था। बाद में उसे संस्थानीकरण कर दिया जिसका आधार सिर्फ रंग ही न होकर उसका पेशा भी हो गया। अर्थात् आर्यों ने कार्य भिन्नता के आधार पर वर्ण व्यवस्था को स्थापित किया। इस व्यवस्था को आर्यों ने किस आधार पर स्थापित किया था इसे समझने के लिए रोमिला थापर के इस कथन पर गौर अप्रासंगिक न होगा – “आर्य ‘द्विज’ अर्थात् दो बार जन्म लेने वाली जाति थी (एक बार भौतिक जन्म और दूसरा वर्ण-स्थिति में दीक्षित किए जाने के संस्कार से), जिसमें क्षत्रिय (योद्धा और कुलीन), ब्राह्मण (पुरोहित), एवं वैश्य (किसान) होते थे। चौथे वर्ण, शूद्रों में दास तथा ऐसे व्यक्ति होते थे जिनका जन्म आर्यों और दासों के मिश्रण से हुआ था।”⁴ अपने आरंभिक दौर में वर्ण-व्यवस्था का मूलाधार रंग था उसे और ज्यादा व्यवस्थित करने के लिए आर्यों ने उसे आजीविका से जोड़ दिया। इससे उनके श्रेष्ठता बोध को और ज्यादा मजबूती मिली। इस व्यवस्था की खासियत यह थी कि अपने दैनिक जीवन में जो समूह जितना ही ज्यादा परिश्रम करता था उसे उस श्रेणीकरण में उतना ही निम्न स्थान प्राप्त हुआ। अर्थात् श्रम का अवमूल्यन किया गया और उस श्रेणी को उतना ही कम सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक अधिकार दिया गया। वर्चस्व के इस रूप को कानूनी अमली जामा पहना दिया गया। स्पष्ट रूप से यह व्यवस्था उन ब्राह्मणों की थी जो उस व्यवस्था की आंतरिक संरचना में सबसे उच्च पद पर आसीन थे। इस पूरी व्यवस्था में ब्राह्मणों ने अपने लिए सर्वाधिक विशेषाधिकारों की व्यवस्था कर रखी थी क्योंकि पूरी व्यवस्था के नियंता के पद पर वे स्वयं ही आसीन थे। इसलिए डॉ. कृष्ण कुमार सिंह लिखते हैं –

“स्पष्ट है कि ब्राह्मणों के लिए उतने विशेषाधिकारों की व्यवस्था स्वयं ब्राह्मणों ने की। इसमें उनका स्वार्थ था। उन्होंने सामान्य करों से अपने को मुक्त कर लिया और यह व्यवस्था भी कर दी कि उन्हें किसी प्रकार का शारीरिक दंड नहीं दिया जा सकता। यहीं तक नहीं, बल्कि यदि कोई व्यक्ति ब्राह्मण पर अपराध का अभियोग लगाए, तो उल्टे वही व्यक्ति अपराधी माना जाता था। वर्ण-व्यवस्था को शाश्वत रूप प्रदान करने के लिए उन्होंने वर्ण को वंशगत बना दिया।”⁵

उपर्युक्त उद्धरण से वर्चस्व के इस नियम की पुष्टि हो जाती है, जिसके तहत पहले कहा गया है कि किसी भी समाज का वर्चस्वशाली वर्ग व्यवस्था का नियमन इस तरह से करता है जिसमें उसके हितों की रक्षा ज्यादा से ज्यादा हो सके और उसका स्वयं का वर्ग उस व्यवस्था में अपने को सर्वाधिक सुरक्षित महसूस कर सके। जैसे कि किसी ब्राह्मण ने चाहे कितना बड़ा जघन्य अपराध क्यों न किया हो लेकिन उसे शारीरिक रूप से दंडित नहीं किया जा सकता है। यह उसी समाज का युग सत्य है जिस समाज में छोटे-छोटे से अपराध के लिए किसी शूद्र के कान में शीशा पिघलाकर डाल देने की बात की गई हो। ब्राह्मणों को सभी प्रकार के करों से मुक्त रखा गया क्योंकि वे अपने को राज्य और कानून व्यवस्था सबसे ऊपर समझते थे। वे मनुष्य के रूप में स्वयं को देवता समझते थे। उपर्युक्त उद्धरण में एक और जो महत्वपूर्ण बात कही गई है वह यह कि जिस व्यवस्था के स्तरीकरण का प्राथमिक आधार रंग था उसे और ज्यादा मजबूत बनाने के लिए उसे पेशे से जोड़ दिया गया और उसी व्यवस्था को और भी ज्यादा मजबूत आधार प्रदान करने के लिए उसे वंश से जोड़ दिया। वंश से जोड़ने के बाद जो व्यवस्था बनी वह

इतनी मजबूत और जड़ थी इसका अंदाज़ा इसी बात से लगाया जा सकता है कि वह व्यवस्था अपने मूल स्वरूप में 21वीं सदी में भी जाति व्यवस्था के रूप में जीवित है। यह ऐसी व्यवस्था है जो भारतीय समाज को परिचालित करने में सबसे महती भूमिका निभा रही है।

हजारों वर्षों तक जो भारतीय समाज को जड़ बनाकर रखा गया उसका सबसे महत्वपूर्ण और तीक्ष्ण हथियार और कुछ नहीं 'जाति-व्यवस्था' ही है। यह जाति व्यवस्था की ही महिमा थी कि जिसके आधार पर एक ब्राह्मण जघन्य से जघन्य अपराध करने के बावजूद शारीरिक दंड का भागी नहीं बन सकता था और एक शूद्र "इच्छानुसार निष्कासनीय और इच्छानुसार हननीय"⁶ था। इसका अर्थ यह हुआ कि एक पूरी की पूरी प्रजाति के अस्तित्व को यूँ ही नकार दिया गया। जो प्रजाति संपूर्ण समाज के विकास में सबसे महती निभा रही थी, जो प्रभु वर्ग के उच्चाकांक्षाओं को भौतिक रूप प्रदान कर रही थी उसी सामाजिक-सांस्कृतिक अस्तित्व को नकारा सावित कर दिया गया। इस संदर्भ में मुद्राराक्षस का यह कथन अत्यंत ही प्रासंगिक है –

“उत्पादन चूँकि शिल्पी करते थे, कामगार करते थे, इसलिए उत्पादन को शूद्रकृति माना गया। ब्राह्मण उत्पादन और कारीगरी के हर काम करने वाले को शूद्र मानते थे। कृषि भी मेहनत का काम था, इसलिए इसे भी शूद्र माना गया है। वैश्य चूँकि ब्राह्मणों के अनुसार शूद्र के उत्पादन का क्रय और विक्रेता होता था, इसलिए वैश्य को शूद्रों से कुछ ऊपर लेकिन राजकर्मियों से नीचे ही रखा गया और अक्सर उसमें शूद्रता देखी गई। ब्राह्मण पढ़ने-पढ़ाने का काम न करे यह तो अलग बात है, वह निपट मूर्ख हो तो भी बड़ा देवता था। (मनुस्मृति 9. 317) अविद्वान्श्च विद्वान्श्च ब्राह्मणाः। ब्राह्मण विद्वान् हो या गंधा वह बड़ा देवता होता है।”⁷

अर्थात् जिस भारतीय समाज को गतिशील बनाने में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निचले तबके के लोग निभा रहे थे उन्हें ही सर्वाधिक अपसंस्कृत माना गया। समाज का वह हिस्सा जो जितना ही मेहनतकश था वह उतना ही हाशियाकृत था, उतना ही अपसंस्कृत था। उसी समाज में वह प्रभुवर्ग जिसका शारीरिक श्रम से कोई लेना-देना नहीं था उसे समाज में मनुष्य के रूप में ईश्वर का प्रतिनिधि माना गया। उसकी संस्कृति को ही भारतीय संस्कृति माना गया। उसके इतिहास को ही तथाकथित भारतीय इतिहास माना गया। सबसे त्रासद स्थिति तो यह है कि अति सामान्य विरोधों के पश्चात् निचले तबके के लोगों ने इस वर्चस्व को स्वीकार भी कर लिया। इसी स्थिति पर टिप्पणी करते हुए मुद्राराक्षस लिखते हैं कि –

“समूची मानव सभ्यता के इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता, जिसमें स्वजातियों ने ही अपने कुछ या ज्यादातर साथियों की अस्मिता को इस तरह निचली श्रेणी में धकेला हो और धकेले जाने वाले लोगों ने इस स्थिति को स्वीकार भी कर लिया हो।”⁸

भारतीय इतिहास के संदर्भ में सांस्कृतिक वर्चस्व का इससे बेहतर उदाहरण और क्या हो सकता है। ब्राह्मणों ने जब अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया तो उसके बाद उस वर्ण-व्यवस्था में उससे ठीक निचले पायदान पर स्थित क्षत्रियों के लिए ब्राह्मणों ने क्या व्यवस्था की। उसे समाज में किस प्रकार से रहना चाहिए। उसे क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, इसका उदाहरण महाभारत के कई प्रसंगों में मिलता है। इस स्थिति पर टिप्पणी करते हुए मुद्राराक्षस ने लिखा है –

“यथा भर्त्राश्रयो धर्मः आदि श्लोक में कहा गया है कि जैसे स्त्री अपने पति पर आश्रित होती है उसी तरह क्षत्रिय ब्राह्मण के आश्रय में रहता है। क्षत्रिय का देवता ब्राह्मण ही होता है। दूसरा कोई चारा क्षत्रिय के पास नहीं होता है। श्लोक 21 में कहा गया है कि क्षत्रिय 100 वर्ष का हो और ब्राह्मण 10 वर्ष का, फिर भी क्षत्रिय ब्राह्मण को पिता माने। ब्राह्मण की आज्ञा से ही राजा को पुरोहित के साथ मिलकर राज करना चाहिए।”⁹

वर्ण और जाति व्यवस्था के माध्यम से ब्राह्मणों ने अपने से ठीक निचले पायदान पर स्थित शक्तिशाली क्षत्रिय वर्ग को जब इस तरह से जीवन-यापन करने के लिए मजबूर कर दिया तो इसी बात से इसका अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि जो जातियाँ और भी निचले पायदान पर स्थित थीं उनकी स्थिति और कितनी दयनीय रही होगी। यानि जाति-व्यवस्था में जो जितने ही निचले पायदान पर स्थित रहेगा उस समूह पर वर्चस्व का प्रभाव उतना ही ज्यादा रहेगा और उसकी स्थिति उतनी ही दयनीय, त्रासद और बिडंबनात्मक रहेगी। हाँ! लेकिन ऐसी भी बात नहीं है कि ब्राह्मणों ने बहुत आसानी से अन्य प्रजातियों पर अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया और अन्य प्रजातियों ने उतनी ही आसानी से उसे स्वीकार भी कर लिया। इसके विरोध में अन्य प्रजातियों ने प्रतिरोध भी किया। उस प्रतिरोध की चर्चा भी हमारे धर्मग्रंथों में मिल जाती है। भारतीय सभ्यता के इतिहास

में जाति-व्यवस्था के नाम पर अगर वर्चस्व का लंबा इतिहास रहा है तो साथ-साथ प्रतिरोध की भी परंपरा रही है। मुद्राराक्षस मनुस्मृति के एक श्लोक का जिक्र करते हुए कहते हैं जिसमें कहा गया है कि – “वेन, नहुष सुदास सुमुख, निमि आदि में विनय नहीं था इसलिए मार डाले गए”¹⁰

सवाल उठता है कि इन्हें मारने वाले लोग कौन थे? स्वाभाविक रूप से ये वही ब्राह्मण वर्ग था जो अपने को ईश्वर का साक्षात् प्रतिनिधि मानता था और ऊपर जिस विनयशील न होने की बात कही गई है वह विनयशील होना आखिर है क्या? ये और कुछ नहीं जो भी व्यक्ति उस ब्राह्मण वर्चस्व को नहीं मानता था और बार-बार चुनौती देता था वह उस प्रभुत्व की नजर में विनयशील नहीं था और जो विनयशील नहीं था उसकी एक ही सजा थी – हत्या। ऊपर जिन लोगों की हत्या की चर्चा मनुस्मृति में की गई है, उसमें से एक राजा ‘वेन’ की चर्चा हरिवंश पुराण में की गई है। इस पर विचार करते हुए मुद्राराक्षस लिखते हैं कि –

“विवरणों के अनुसार वे ब्राह्मणों की अवज्ञा करता था, उसके राज में चूँकि जाति-प्रथा को स्वीकृति नहीं थी इसलिए कहा गया कि वह वर्णसंकरता को बढ़ावा देता है। वेन यज्ञ का विरोधी था और उसने घोषणा कर रखी थी कि कोई ब्राह्मणों या देवताओं को दान न दे। भेंट सिर्फ राजा को ही दी जाए। ब्राह्मणों ने एक दिन घुसकर उसकी हत्या कर दी”¹¹

इस बात से स्वतः ही अंदाजा लगाया जा सकता है कि ब्राह्मणों की नजर में वे या उन जैसे अन्य राजा इसलिए विनयशील नहीं थे क्योंकि वे उन्हीं नियमों को अपने राज में लागू करते थे जिससे ब्राह्मणों के वर्चस्व को चुनौती मिलती थी। जिस नियम और कानून पर ब्राह्मणों के हितों की रक्षा होती थी। ये लोग उन्हीं नियमों को चुनौती देते थे, इसलिए उनकी नजरों में विनयशील नहीं थे क्योंकि ब्राह्मणों का मानना था कि पूरे समाज के लिए जो नियमन उन्होंने किया है उसका उल्लंघन कोई कैसे कर सकता है। इसका प्रमाण रामशरण शर्मा के इस टिप्पणी से मिलता है –

“आदियुगीन ऋषि अथर्वण ने वरुण के साथ हुए संभाषण में यह दावा किया है कि मैं जो नियम बनाऊँगा उसका उल्लंघन कोई भी दास, जो आर्य से भिन्न हो, नहीं कर सकता चाहे वह कितना भी बड़ा क्यों न हो”¹²

किसी भी समाज अथवा संस्कृति का वर्चस्वशाली वर्ग यही काम करता है। समाज का वह समूह जो उनकी वर्चस्ववादी नीतियों का विरोध करता है वह उनकी नजरों में अपसंस्कृत और अपराधी माना जाता है। स्वाभाविक तौर पर यह नियम कोई और नहीं बल्कि समाज का वही वर्चस्वशाली वर्ग ही बनाता है और उसे संपूर्ण समाज पर थोपने का प्रयास भी करता है। नियम वही बनाए जाते हैं जिससे उस वर्ग के स्वार्थ की सिद्धि होती रहे और समाज पर उसका वर्चस्व और ज्यादा मजबूती से कायम रह सके। इस तरह तत्कालीन इतिहास पर यदि नजर डालें तो पता चलता है कि वर्चस्वशाली समूह के शीर्ष पर बैठा पुरोहित वर्ग ने अन्य प्रजातियों के साथ तीन तरह का व्यवहार किया। जो समूह प्रतिरोध करने में अपेक्षाकृत ज्यादा सक्षम था उसे उच्च जाति का दर्जा दिया गया। जो समूह प्रतिरोध करने में सक्षम नहीं था उसे या तो दास बना लिया गया या फिर उसे शूद्र का दर्जा दिया गया। यानि उसका संस्कृतिकरण किया गया, हिंदुकरण किया गया। जिस समूह ने किसी भी तरह उस वर्चस्ववादी नियम को नहीं माना उसे जंगलों में खदेड़ दिया गया। वर्तमान समय में जंगलों में रह रहे आदिवासी वही समूह हैं। कालांतर में वर्चस्वशाली वर्ग ने उन समूहों पर कोई खास ध्यान नहीं दिया। इसलिए उनकी चर्चा बाद के धार्मिक ग्रंथों में भी बहुत कम ही मिलता है। इस तथ्य को रांगेय राघव के इस कथन से और ज्यादा स्पष्टतः समझा जा सकता है –

“परशुराम राम के समय क्षत्रिय युद्ध बंद हो गया और दोनों ने मिलकर यहाँ की प्राचीन जतियों से युद्ध किया। आर्य दंभ ने विश्वंक्रणवन्तमार्यम कहा। आर्य अपने अनार्य शत्रुओं में सबल लोगों को यदि हरा नहीं पाते थे तो संधि कर लेते थे तो उन्हें शूद्रों में नीचा दर्जा देते थे”¹³

इस तरह वर्चस्वशाली वर्ग ने प्रतिरोधी शक्तियों के साथ किस तरह का व्यवहार किया और किस तरह उनका संस्कृतिकरण किया उसे समझा जा सकता है।

किसी समाज की संस्कृति कितनी विकसित है और थी इसका अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि उस समाज में स्त्रियों की स्थिति कैसी थी क्योंकि किसी भी सामंती समाज में सबसे दयनीय स्थिति स्त्रियों की रहती है क्योंकि वह समाज के हाशिए के भी हाशिए पर स्थित रहती है। अर्थात् वहाँ हाशियाकरण का भी हाशियाकरण हो जाता है। प्राचीन भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति कैसी थी इसे मुद्राराक्षस के इस उद्धरण से समझा जा सकता है। अथर्ववेद के अध्याय तीन के सूक्त पच्चीस के मंत्र पाँच और छह के माध्यम से उन्होंने यह समझने का प्रयास किया है –

“व्यस्यै मित्रावरुणौ हृदयचित्तान्यस्यतम अथैनामक्रतुं कृत्वा ममैव वशे। यह हतप्रभ करने वाली देव स्तुति है, जिसमें स्त्री को पीटते हुए घर लाया जाता है और कामना की जाती है कि वह लाई हुई स्त्री ज्ञानशून्य हो जाए, करनी-अकरनी की समझ समाप्त हो जाए, यानी वह स्त्री यौन सुख, पुत्रोत्पादन और दासकर्म के लिए संज्ञाशून्य मशीन में तब्दील हो जाए और पूरी तरह पति की अधीनता स्वीकार कर ले।”¹⁴

उपरोक्त उद्धरण के माध्यम से स्वतः समझा जा सकता है कि वैदिक समाज में स्त्रियों की स्थिति कितनी त्रासद थी। वह पुरुषों के लिए सिर्फ यौन सुख प्रदान करने वाली मशीन थी या फिर वंश वृद्धि का संसाधन। उससे दासों की तरह दिन-रात शारीरिक मेहनत करवाया जा सकता था। उसके लिए यह कामना करना कि वह संज्ञाशून्य हो जाए इसका अर्थ तो यही हो सकता है कि वह पूर्ण रूप से पुरुष समाज का वर्चस्व स्वीकार कर ले। अगर वह स्त्री उच्च जाति की नहीं है तब तो उसकी त्रासद स्थिति के बारे में कहना ही क्या। अपने घर के पुरुष तो उस पर अपना स्वामित्व दिखाते ही होंगे और उस समाज के प्रभुत्व का स्वामित्व भी शास्त्र सम्मत ही माना जाता होगा। उस समय स्त्रियों की दयनीय स्थिति को इसी बात से समझा जा सकता है कि जिस समाज में वहाँ के राजा की पत्नी सुरक्षित नहीं हो, उसके साथ पशुवत व्यवहार किया जाता हो। उसे पशुओं के साथ सोने के लिए मजबूर किया जाता हो। उसके पश्चात ब्राह्मण समूह सामूहिक रूप से उसके साथ संभोग करे। इस तरह की त्रासद स्थिति से जिस समाज की स्त्रियों को गुजरना पड़े उस समाज को कितना सांस्कृतिक माना जा सकता है। उस संस्कृति को अपने आप को बार-बार महान कहने का क्या अधिकार है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ये सब संस्कृति के नाम पर किया जाता रहा है। यह वही संस्कृति है जो एक तरफ अपनी ही स्त्रियों के साथ जानवरों जैसा व्यवहार करता है और दूसरी तरफ अपने को दुनिया की सबसे महान संस्कृति भी कहता है। ऐसा ही सांस्कृतिक प्रतीक है – यज्ञ। यज्ञ के अनुष्ठान के नाम स्त्री को घोड़े और ब्राह्मण के साथ मैथुन क्रिया करना पड़ता था। मुद्राराक्षस के अनुसार –

“एक वर्ष के अंत में रानी को यज्ञ के घोड़े के साथ मैथुन प्रक्रिया में सोना होता है और बारी-बारी से यज्ञ करने वाले ब्राह्मण रानी को अश्लीलतम गालियाँ जोर-जोर से देते हैं। कात्यायन के धर्मसूत्र में इस अश्लील व्यवहार का विवरण मौजूद है। अन्य स्थानों पर भी है।”¹⁵

उपर्युक्त उद्धरण के माध्यम से स्त्रियों की त्रासद स्थिति को समझा जा सकता है। इस तरह का अमानवीय व्यवहार उस स्त्री के साथ किया जाता था जिसका संबंध राजपरिवार से हुआ करता था तो इसी से अंदाजा लगाया जा सकता है उस सामाजिक परिस्थिति में सामान्य स्त्रियों की स्थिति कितनी त्रासद रही होगी। यह भी एक संस्कृति का ही रूप है जिसमें एक जानवर (गाय) को तो माता का दर्जा दिया जा सकता है लेकिन वह स्त्री जो वास्तव में माता, बहन, बहू, बेटी हुआ करती है उसके साथ जानवरों जैसा व्यवहार किया जाए। एक स्त्री वेद की रचना में सहयोग तो दे सकती थी लेकिन उसी स्त्री को वेद पढ़ने का अधिकार प्राप्त नहीं था। ऐसे में जवाहरलाल नेहरू का यह कहना बहुत ही प्रासंगिक लगता है –

“हमारे आचरण की तुलना में हमारे विचार और उद्गार इतने ऊँचे हैं कि उन्हें देख कर आश्चर्य होता है। बातें तो हम शांति और अहिंसा की करते हैं, मगर काम हमारे कुछ और होते हैं। सिद्धांत तो हम सहिष्णुता का बघारते हैं, लेकिन भाव हमारा यह होता है कि सब लोग वैसे ही सोचें जैसे हम सोचते हैं और जब कोई भिन्न प्रकार से सोचता है तब हम उन्हें बर्दाश्त नहीं कर सकते। घोषणा तो हमारी यह है कि स्थितप्रज्ञ बनना अर्थात् कर्मों के प्रति अनासक्त रहना हमारा आदर्श है, लेकिन काम हमारे बहुत नीचे के धरातल पर चलते हैं और बढ़ती हुई अनुशासनहीनता हमें वैयक्तिक और सामाजिक, दोनों ही क्षेत्रों में नीचे ले जाती है।”¹⁶

निष्कर्ष :-

वर्चस्वशाली वर्ग के द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत और उसके वास्तविक व्यवहार के बीच गहरा फर्क होता है। उसके द्वारा बनाए गए नियम-कानून को कोई बाहरी व्यक्ति देखे तो वह उस समाज की वास्तविक सच्चाई से शायद ही अवगत हो सकता है। जिस समाज और संस्कृति के लिए पूरी दुनिया कुटुंब के समान थी उसी समाज और संस्कृति की आंतरिक सच्चाई यह थी कि वह अपने ही समाज के बहुत बड़े हिस्से को पशु तुल्य समझता था। जिस समाज और संस्कृति ने समूची दुनिया को सत्य और अहिंसा का पाठ पढ़ाया उसी संस्कृति की आंतरिक संरचना में बहुत बड़ा तबका हिंसा और अन्याय पर आधारित नियम की बेड़ियों से जकड़ा रहा। इस समाज और संस्कृति का नियमन इस तरह से किया गया था कि एक ही अपराध के लिए समाज के वर्चस्वशाली वर्ग को साधारण दंड दिया जाता था अथवा नहीं भी दिया जाता था। वहीं यदि अपराधी निचली जातियों से

संबंधित होता था तो उसके लिए कठोर-से-कठोर सजा का प्रावधान था। इसलिए इस संदर्भ में नेहरू का उपर्युक्त कथन अत्यंत ही प्रासंगिक है क्योंकि विश्व के किसी भी समाज अथवा संस्कृति में कथनी और करनी के बीच इतना बड़ा फर्क शायद ही देखने को मिले। यह एक ऐसी संस्कृति रही है जो हमेशा उच्चतम आदर्शों की बात करती रही है किंतु व्यवहारिक जीवन में उतनी ही अमानवीय भी रही है।

संदर्भ :

1. सिंह, कृष्ण कुमार. (2006). *संत काव्य के विकास में वर्ण, जाति और वर्ग की भूमिका*. इलाहाबाद: साहित्य भंडार. पृ. 14.
2. शर्मा, रामशरण. (2009). *शूद्रों का प्राचीन इतिहास*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 18.
3. सिंह, कृष्ण कुमार. (2006). *संत काव्य के विकास में वर्ण, जाति और वर्ग की भूमिका*. इलाहाबाद: साहित्य भंडार. पृ. 14.
4. सिंह, कृष्ण कुमार. (2006). *संत काव्य के विकास में वर्ण, जाति और वर्ग की भूमिका*. इलाहाबाद: साहित्य भंडार. पृ. 16.
5. सिंह, कृष्ण कुमार. (2006). *संत काव्य के विकास में वर्ण, जाति और वर्ग की भूमिका*. इलाहाबाद: साहित्य भंडार. पृ. 19.
6. सिंह, कृष्ण कुमार. (2006). *संत काव्य के विकास में वर्ण, जाति और वर्ग की भूमिका*. इलाहाबाद: साहित्य भंडार. पृ. 19.
7. मुद्राराक्षस. (2009). *धर्मग्रंथों का पुनर्पाठ*. दिल्ली: इतिहास बोध प्रकाशन. पृ. 34–35.
8. मुद्राराक्षस. (2009). *धर्मग्रंथों का पुनर्पाठ*. दिल्ली: इतिहास बोध प्रकाशन. पृ. 35.
9. मुद्राराक्षस. (2009). *धर्मग्रंथों का पुनर्पाठ*. दिल्ली: इतिहास बोध प्रकाशन. पृ. 65.
10. मुद्राराक्षस. (2009). *धर्मग्रंथों का पुनर्पाठ*. दिल्ली: इतिहास बोध प्रकाशन. पृ. 38.
11. मुद्राराक्षस. (2009). *धर्मग्रंथों का पुनर्पाठ*. दिल्ली: इतिहास बोध प्रकाशन. पृ. 38.
12. शर्मा, रामशरण. (2009). *शूद्रों का प्राचीन इतिहास*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 21.
13. राघव, रांगेय. (2008). *प्राचीन भारतीय परंपरा और इतिहास*. दिल्ली: आत्माराम एंड संस. पृ. 21.
14. मुद्राराक्षस. (2009). *धर्मग्रंथों का पुनर्पाठ*. दिल्ली: इतिहास बोध प्रकाशन. पृ. 47.
15. मुद्राराक्षस. (2009). *धर्मग्रंथों का पुनर्पाठ*. दिल्ली: इतिहास बोध प्रकाशन. पृ. 70.
16. दिनकर, रामधारी सिंह. (1962). *संस्कृति के चार अध्याय* (जवाहरलाल नेहरू, भूमिका). इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन. पृ. xxi.

आधुनिक भारत में सांप्रदायिकता का विकास : एक अध्ययन

धर्मेन्द्र कुमार*

dharmendrakumar0264@gmail.com

सारांश

आधुनिक भारत में सांप्रदायिकता का विकास औपनिवेशिक काल की जटिल सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों से जुड़ा हुआ है। सांप्रदायिकता वह विचारधारा है जिसमें धार्मिक समुदायों के हितों को एक-दूसरे से पृथक तथा विरोधी माना जाता है। भारत में इसका संगठित रूप उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में दिखाई देता है। मुस्लिम सांप्रदायिकता के प्रारंभिक स्वरूप में सर सैयद अहमद खाँ तथा बाद में अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की भूमिका रही, जबकि हिंदू सांप्रदायिकता को हिंदी-उर्दू विवाद, हिंदू महासभा तथा अन्य संगठनों से बल मिला। ब्रिटिश शासन की 'फूट डालो और राज करो' नीति ने सांप्रदायिकता को संस्थागत रूप प्रदान किया। पृथक निर्वाचन, सामुदायिक प्रतिनिधित्व तथा राजनीतिक संरक्षण जैसी नीतियों ने धार्मिक विभाजन को गहरा किया। बीसवीं शताब्दी में सांप्रदायिक प्रचार, धार्मिक प्रतीकों के राजनीतिक उपयोग तथा बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक असुरक्षा की भावना ने इस प्रवृत्ति को और तीव्र किया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यह स्थिति विभाजनकारी रूप में सामने आई, जिसके परिणामस्वरूप 1947 में भारत का विभाजन हुआ। यह अध्ययन स्पष्ट करता है कि सांप्रदायिकता केवल धार्मिक मतभेद नहीं, बल्कि राजनीतिक स्वार्थों द्वारा निर्मित सामाजिक संकट थी।

मुख्य शब्द :

सांप्रदायिकता, औपनिवेशिक नीति, ब्रिटिश साम्राज्यवाद, मुस्लिम लीग, हिंदू महासभा, पृथक निर्वाचन, राष्ट्रीय आंदोलन, भारत विभाजन, धार्मिक राजनीति, आधुनिक भारत।

सांप्रदायिकता का आरम्भ इस धारण से होता है कि किसी समुदाय विशेष के लोगों के एक सामान्य धर्म के अनुयायी होने के नाते राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक हित भी एक जैसे ही होते हैं। इस मत के अनुसार भारत में हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख तथा ईसाई अलग-अलग संप्रदायों से संबंधित हैं। इनके गैर-धार्मिक हित भी उस संप्रदाय के सदस्यों के बीच समान हैं तथा भारतीय लोगों के सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक मामलों में भेद ऐसी धार्मिक इकाईयों के आधार पर ही किया जाना चाहिए। इस प्रकार भारतीय समाज की मूलभूत इकाई धार्मिक संप्रदाय है। वर्ग, जातीयताएँ, भाषाई-सांस्कृतिक समूह, राष्ट्र अथवा प्रांत या राज्य जैसी प्रादेशिक इकाईयाँ नहीं। इसलिए सांप्रदायिकता में पहला अभिप्राय ही निहित है। अर्थात् हिन्दुओं और मुसलमानों के अथवा हिन्दुओं और सिक्खों के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक हित-दूसरे शब्दों में उनके धर्मनिरपेक्ष हित, भिन्न-भिन्न तथा असमान हैं। यद्यपि सांप्रदायिकता की शुरुआत हित की पारस्परिक भिन्नता से होती है किन्तु सामान्यतया इसका अंत विभिन्न धर्मानुयायियों में पारस्परिक विरोध तथा शत्रुता की भावना में होता है।¹

कभी-कभी सांप्रदायिकता को अतीत के अवशेष के रूप में देखा जाता है। एक ऐसी वस्तु के रूप में जिसे मध्यकाल ने वर्तमान के लिए विरासत के रूप में छोड़ा है किन्तु जहाँ सांप्रदायिकता के मूल में प्राचीन तथा मध्यकालीन विचारधाराओं के

* यू.जी.सी. (नेट - जेआरएफ), शोधार्थी, स्नातकोत्तर इतिहास विभाग, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

अनेक तत्व निहित है और वह उन तत्वों को उपयोग में लाती है। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि संप्रदायवादी वह व्यक्ति होता है जो स्वयं अपने संप्रदाय के हितों या स्वार्थों की रक्षा करता है जबकि एक धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति व्यापक राष्ट्रीय हितों अथवा सभी संप्रदायों के हितों को ध्यान में रखता है।²

भारत में सांप्रदायिकता की पहले पहल शुरुआत 19वीं शताब्दी के अंत में हुई थी। मुसलिम सांप्रदायिकता की नींव 1880 के दशक में सैयद अहमद खाँ द्वारा उस समय रखी गयी थी, जब उन्होंने इसे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व में चल रहा राष्ट्रीय आंदोलन के वजन पर रखा। यद्यपि सैयद अहमद खाँ एक महान शिक्षा शास्त्री तथा समाज-सुधारक थे किंतु राजनीतिक क्षेत्र में, वे रूढ़िवादी तथा निष्ठावान व्यक्ति थे। 1885 के बाद जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस लोकप्रिय हुई, तो उन्होंने प्रमुख रूप से इसका इस आधार पर विरोध करने का निश्चय किया कि यह ब्रिटिश-विरोधी तथा जनतांत्रिक थी। वाराणसी के राजा शिवप्रसाद तथा भींगा के राजा के साथ उन्होंने 1887 में उत्तरप्रदेश में एक संस्था का गठन किया। उच्च वर्ग- उच्चजाति मनोभावों का आग्रह करते हुए 1887 में उन्होंने कहा - यह बहुत जरूरी है कि वाइसराय की कौंसिल के सदस्य उच्च समाधिक स्तर के हों। मैं आपसे पुछता हूँ, क्या हमारा अभिजात तंत्र यह पसंद करेगा कि निचली जाति या महत्वहीन मूल का कोई व्यक्ति, भले ही वह बी.ए. या एम. ए. हो तथा अपेक्षित योग्यता रखता हो, उनसे ऊपर के अधिकारी के पद पर आसीन हो तथा ऐसे कानून बनाने की सामर्थ्य रखता हो, जो उनके जीवन तथा संपत्ति को प्रभावित करता हो। सैयद अहमद खाँ तथा निष्ठावान् व्यक्तियों ने अपने राजनीतिक कार्यकलाप को मूलतः मुसलमानों को राष्ट्रीय आंदोलन से दूर रहने तक ही सीमित रखा। उन्होंने कोई विरोधी सांप्रदायिक संगठन निर्मित नहीं किया क्योंकि अंग्रेज भारतीय लोगों के किसी भी राजनीतिकरण पर अप्रसन्नता प्रकट करते थे। 1906 में, ढाका के नवाब आगा खाँ तथा नवाब मोशिन-उल-मूल्क जैसे बड़े जमींदारों तथा अभिजात व्यक्तियों के नेतृत्व में अखिल भारतीय मुसलिम लीग की स्थापना की गई। लीग ने बंगाल विभाजन का समर्थन किया और मुसलमानों के लिए अलग से निर्वाचन क्षेत्र तथा सरकारी सेवाओं में सुरक्षित स्थानों की मांग की। इस प्रकार आरंभ से ही लीग राष्ट्रीय आन्दोलन विरोधी तथा औपनिवेशिक शासन का अवलंब बन गई।³

साथ-ही-साथ हिन्दू सांप्रदायिकता भी जन्म ले रही थी। 1870 से आरंभ होने वाले दशक से हिन्दू जमींदारों, साहूकारों तथा मध्यवर्गीय व्यवसायियों ने मुसलिम विरोधी नारे लगाने आरंभ कर दिया था। उत्तरप्रदेश और बिहार में उन्होंने हिन्दी के प्रश्न को भी उठाया और हिन्दी को हिन्दुओं की तथा उर्दू को मुसलमानों की भाषा ठहराते हुए उन्होंने इस प्रश्न का सांप्रदायिक मोड़ दिया।⁴

सांप्रदायिकता के विकास में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की भूमिका:- आधुनिक भारत में सांप्रदायिकता के विकास के लिए खास तौर पर अंग्रेज साम्राज्य की “फूट डालो और राज्य करो” की नीति जिम्मेदार है। हालाँकि जैसा कि बार-बार कहा गया है कि ब्रिटिश नीति को सफलता हमारी आंतरिक, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों के कारण ही मिली। सांप्रदायिकता उन महत्वपूर्ण अस्त्रों में से एक थी जिनके माध्यम से अंग्रेज बढ़ते हुए राष्ट्रीय आंदोलन तथा एक राष्ट्र के रूप में एकजुट होती हुई भारतीय जनता के विरोध का मुकाबला कर सके और उसकी शक्तियों को क्षीण कर सके। वस्तुतः यह ऐसा एकमात्र अस्त्र नहीं था। उन्होंने जाति, भाषा और यहां तक कि वर्ग के आधार पर भी भारतीयों के बीच दरार डालने की कोशिश की। 1937 तक ये सभी प्रयास असफल होने लगे थे और सांप्रदायिकता ही अकेले ऐसे साधन के रूप में रह गई थी, जो कि अभी तक कामयाब थी।⁵

सांप्रदायिकता को औपचारिक रूप से प्रोत्साहित करने के लिए उन्होंने सबसे पहले हिन्दुओं, मुसलमानों तथा सिक्खों को निरंतर ऐसे अलग-अलग संप्रदाय मानकर, जिनमें कोई समानता नहीं थी। यह कहा गया कि भारत न तो एक राष्ट्र था और न ही इसमें राष्ट्रीयता का आंचलिक तथा स्थानीय साहचर्य विद्यमान था, वह तो रूढ़ या बंधे-बंधाए धार्मिक समुदायों से बना था। इसके अलावा संप्रदायवादियों को शासकीय संरक्षण प्रदान किया गया तथा सांप्रदायिक मांगों को 1906 में वाइसराय के सम्मुख रखते ही स्वीकृति दे दी गई। इसी प्रकार 1935 में सांप्रदायिक निर्णय द्वारा लगभग वह सब कुछ प्रदान कर दिया गया जिसकी मांग मुसलमान संप्रदायवादी कर रहे थे। 1939 से 1946 तक मुसलमानों को हिन्दुओं के साथ किसी भी राजनीतिक समझौते पर पूर्ण वीटो करने का अधिकार मिल गया।⁶

हिन्दू और मुसलिम सांप्रदायिक प्रचार - एक और कारण जिसने सांप्रदायिकता के वृद्धि में प्रभावशाली ढंग से सहयोग दिया, वह था 20वीं शताब्दी के आरंभ में अधिकांश राष्ट्रीय चिंतन पर हिन्दुत्व का गाढ़ा रंग चढ़ना और इसका प्रचार होना। इस हिंदू रंग के परिणामस्वरूप मुसलमान लोग राष्ट्रीय आन्दोलन से विमुख होकर अलग हट गए और सांप्रदायिक दृष्टिकोण की ओर आकृष्ट हुए। अनेक जातिवादी नेताओं ने राष्ट्रीयता की भावना तथा प्रचार में हिन्दू धार्मिकता का रंग चढ़ा दिया, यहां तक कि राष्ट्रीयता को 'हिन्दुत्व के पुनरुत्थान के साथ एकीकृत कर दिया। इस प्रकार तिलक ने गणेश पूजा तथा शिवाजी त्रयौहारों का इस्तेमाल राष्ट्रीयता के प्रचार के लिए किया। उन्होंने प्राचीन भारतीय संस्कृति को मध्य युगीन भारतीय संस्कृति से अलग करके देखा और इस बात पर भी जोर दिया। बंकिमचन्द्र तथा अन्य बंगाली, हिंदू तथा उर्दू लेखकों ने अपने उपन्यासों, नाटकों, कविताओं तथा कहानियों में बार-बार मुसलमानों का उल्लेख विदेशियों के रूप में किया। इसके अतिरिक्त, हिंदी प्रतीकों और मुहावरों के इस्तेमाल के परिणाम स्वरूप राष्ट्रीय आंदोलन में एक अस्पष्ट हिंदू वातावरण फैल गया।⁷

मुसलिम सांप्रदायिक प्रचार ने भी एक निश्चित प्रगति की- क्योंकि भारत में मुसलमान धर्मानुयायी अल्पसंख्यक थे। विश्व भर में अल्पसंख्यकों की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि उन्हें यह खतरा रहता है कि बहुसंख्यक लोग उनपर 'हावी' न हो जाए, भले ही ऐसा महसूस करने का कोई वास्तविक आधार मौजूद न हो। इस संबंध में बहुसंख्यकों का एक विशेष दायित्व होता है। कि उन्हें एक निश्चित उदारता के साथ व्यवहार करना चाहिए। जिससे कि अल्पसंख्यकों का यह भय धीरे-धीरे जाता रहे। दुर्भाग्यवश, हिंदू संप्रदायवाद ने इसके विपरीत भूमिका अदा की। उन्होंने अल्पसंख्यकों को भयमुक्त करने के लिए उनको पर्याप्त सुरक्षा तथा आश्वासन देने का नीति का सक्रिय रूप से विरोध किया। उन्होंने भारत को हिन्दुओं की भूमि कहा और घोषित किया कि हिन्दुओं का यह एक अलग राष्ट्र है।⁸

हिन्दू महासभा एवं मुसलिम लीग की भूमिका- हालाँकि हिन्दू और मुसलिम सांप्रदायिकता का प्रसार किसी संगठित रूप में नहीं किया गया फिर भी 19वीं सदी में अंतिम दशकों से इसकी शुरुआत मानी जा सकती है। इसे उस समय संगठित रूप दिया गया, जब कि 1906 में अखिल भारतीय मुसलिम लीग की और 1907 में हिंदू सभा की स्थापना हुई। किंतु हिन्दू सभा उस समय रुग्ण शिशु की भांति थी, जिसकी 1923 में पुनर्जीवित होने के लिए मृत्यु हो गई। इसी प्रकार नौजवान मुसलिम बुद्धिजीवी वर्ग, लीग में उच्चवर्गीय राजभक्तों के नेतृत्व से जल्द ही असंतुष्ट हो गया। वह उग्र राष्ट्रीयतावादी विचारों और आंदोलन की ओर आकृष्ट हुआ। इसमें उसे मौलाना अबुल कलाम आजाद जैसे रूढ़ीवादी उलेमा की एक शाखा से समर्थन मिला। धीरे-धीरे राष्ट्रीयतावादी युवा मुसलमान कांग्रेस तथा लीग दोनों में ही काफी तादाद में आए और 1912 से 1942 के दौरान उन्होंने लीग में राजभक्तों का महत्व बिल्कुल खत्म कर दिया। दुर्भाग्यवश, उनकी राष्ट्रीयता में यह दोष था कि पुरी तरह से धर्मनिरपेक्ष नहीं था। इसमें सुदृढ़ धार्मिक तथा औसत-इस्लामी पुट था। यद्यपि यह पुट राष्ट्रीयता के एकदम प्रतिकूल नहीं था फिर भी यह हानिकारक सिद्ध हुआ। क्योंकि इसने राजनीतिक प्रश्नों को धार्मिक दृष्टिकोण से देखने की आदत बनाई और इस तरह धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण को कमजोर बनाया।⁹

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान खास तौर पर 1942 के बाद सांप्रदायिक शक्तियों को तेजी से बढ़ने का अवसर मिला। ऐसा मुख्य रूप से इसलिए भी हुआ कि राष्ट्रवादी नेता जेल में थे और राष्ट्रीय आंदोलन निष्क्रिय था। 1946 तक मुसलिम लीग बड़ी संख्या में मुसलमानों का समर्थन पाने में सफल हुई तथा राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ उतरी भारत की एक बड़ी शक्ति बन गया। सांप्रदायिक शक्तियों पर अब भी रोक लगाई जा सकती थी किंतु यह इसलिए संभव नहीं हो सका, कि 1947 के दौरान और अगस्त 1947 के बाद वे बड़े पैमाने पर सांप्रदायिकता की आग की लपटों में झुलसता रहा और देश के विभाजन का एक की विकल्प हो सकता था और वह था लाखों की संख्या में मासूम लोगों की एक साथ हत्या। राष्ट्रीयतावादी नेतृत्व तथा भारतीय जन-समुदाय को पिछली अर्धशताब्दी के दौरान सांप्रदायिकता के प्रादुर्भाव और विकास से सफलतापूर्वक निपटने में अपनी असफलताओं के अवश्यंभावी परिणामों का सामना करना पड़ा। इस तरह अगस्त, 1947 में दो स्वतंत्र राष्ट्र बनकर भारत तथा पाकिस्तान ने दो जातियों (कौमों) की साझेदारी को गहरी ठेस पहुँचाई।¹⁰

निष्कर्ष

आधुनिक भारत में सांप्रदायिकता का विकास स्वाभाविक सामाजिक प्रक्रिया नहीं था, बल्कि औपनिवेशिक नीतियों, राजनीतिक स्वार्थों और सामाजिक असुरक्षाओं का परिणाम था। अंग्रेजी शासन ने भारतीय समाज की विविधताओं को एकता में बदलने के बजाय विभाजन के साधन के रूप में उपयोग किया। हिंदू और मुस्लिम दोनों पक्षों में उभरी सांप्रदायिक शक्तियों ने राष्ट्रीय आंदोलन को कमजोर किया तथा पारस्परिक अविश्वास को बढ़ाया। अंततः इसका सबसे दुखद परिणाम भारत विभाजन और व्यापक हिंसा के रूप में सामने आया। अतः यह आवश्यक है कि आधुनिक भारत की एकता, लोकतंत्र और धर्मनिरपेक्षता को सुदृढ़ करने के लिए इतिहास से सीख लेते हुए सांप्रदायिक प्रवृत्तियों का निरंतर प्रतिरोध किया जाए तथा सामाजिक सद्भाव, समानता और राष्ट्रीय एकता को सर्वोच्च मूल्य माना जाए।

सन्दर्भ:-

1. राय, सत्या एम. *भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद*. दिल्ली विश्वविद्यालय, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, 1983, पृ. 90-91.
2. शुक्ल, रामलखन. *आधुनिक भारत का इतिहास*. दिल्ली विश्वविद्यालय, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, 1987, पृ. 480-481.
3. ग्रोवर, बी. एल. *आधुनिक भारत का इतिहास*. दिल्ली, एस. चन्द पब्लिकेशन, 2017, पृ. 216.
4. सरकार, सुमित. *आधुनिक भारत 1885-1947*. दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 1993, पृ. 296.
5. चन्द्रा, बिपिन. *भारत का स्वतंत्रता संघर्ष*. दिल्ली विश्वविद्यालय, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, 1990, पृ. 287-388.
6. चन्द्रा, बिपिन. *आधुनिक भारत का इतिहास*. ओरिएंट ब्लैकस्वान प्रकाशन, 2016, पृ. 328.
7. भारतीय इतिहास कांग्रेस. *दलित नेशन, स्टेट और पुना पैक्ट*. डोकुमेन्ट्री, नई दिल्ली, राज्य सभा टेलिविजन, 16 Jan. 2017.
8. महाजन, वी. डी. *आधुनिक भारत का इतिहास*. एस. चन्द्र प्रकाशन, 2020, पृ. 436.
9. *The Hindu*. 17 Oct. 2018, p. 13.
10. चन्द्रा, बिपिन. *स्वतंत्रता संग्राम*. दिल्ली, नेशनल बुक ट्रस्ट ऑफ इंडिया, 1972, पृ. 169.

लूर पत्रिका के संदर्भ में उत्तरी भारत में जँतसार गीतों की महत्ता

वर्तिका तिवारी*

22516009vartikatiwari@lb.du.ac.in

डॉ. सुमित कुमार मीना†

sumitmeena1990@gmail.com

शोध सारांश:

भारत जैसी धरा पर संस्कृति का महत्व अधिक रहा है। जिसके लिए अनेक बलिदान दिए गए। लोक संस्कृति किसी पोथियों में अंकित होने की मोहताज नहीं होती ये कंठस्थ की जाती है जो पीढ़ी दर पीढ़ी कंठस्थ होती है। भारत के कुछ ऐसे प्रांत हैं जिनमें लोक संस्कृति और लोक गीतों का महत्व अधिक रहा है। वही बात श्रमिक समाज की करें तो उत्तर भारत अधिक महत्व रखता है जहाँ श्रमिक समाज अधिक पाया गया है। लोकगीत में जँतसार लोकगीत जो अवध प्रांत, मिथिलांचल क्षेत्र और बिहार राज्य में जाँत या कहा जाए चक्की चलाते समय गाए जाने वाले गीतों का आलोचना किया गया है। वर्तमान समय में यह गीत उन श्रेणी में आते हैं जो भारत की संस्कृति इस लोक संस्कृति को बचाने में सहायक हो सकते हैं इनका संकलन आवश्यक है तभी भारतीय लोक संस्कृति बचाई जा सकती है।

बीज शब्द: लोक सांस्कृतिक, लोक गीत, श्रमिक, जँतसार, बिहार, मिथिलानचल, परंपरा

लूर पत्रिका भारत की उन पत्रिकाओं में से एक है जो भारतीय स्वतंत्रता के पश्चात अपनी पत्रिका की एक ऐसी सरिता निकलती हैं जिसमें भारत की उन हिन्दी भाषीय संस्कृति को संजोय कर रखा गया जिसमें भारतीय संस्कृति का विवेचन किया गया, उन गीतों की विशेषता बताई गई हैं। इस शोध लेख में लूर पत्रिका के श्रम लोकगीत विशेषांक, अंक 15-16, जनवरी-दिसम्बर, 2010, चौपासनी में अंकित उत्तर भारत के श्रम लोकगीत में जँतसार लोकगीत जो अवध प्रांत, मिथिलांचल क्षेत्र और बिहार राज्य में जाँत या कहा जाए चक्की चलाते समय गाए जाने वाले गीतों का आलोचना किया गया है।

श्रम लोकगीत में श्रम की भावना की महत्ता रहती है। ग्रामीण जीवन हो या शहरी श्रम की शुरुआत सुबह जगने से ही हो जाती है। केवल समय के अंतर के कारण ग्रामीण जीवन का श्रम ब्रह्म मुहूर्त में ही प्रारंभ हो जाता है वही दूसरी ओर जीवनशैली के कारण शहर के लोगों की सुबह सूर्योदय के पश्चात होती है।

श्रम लोकगीत ऐसे गीत है जो श्रम की महत्ता या श्रमिकों के उत्साहवर्धन की लिए ही नहीं जाते अपितु यह श्रमिकों के श्रम करते समय श्रम के क्रोड में ही उपजते हैं और इनके उपज के साथ-साथ श्रमिकों के चेहरे पर मुस्कान के साथ-साथ उनका वह श्रम जो वे कर रहे हैं वो भी सार्थक होता है। श्रमगीतों में मुख्यतः भारतीय आदर्श नारी के त्याग और बलिदान को अत्यंत मार्मिक रूप से दर्शाया जाता है। श्रम गीत लोक को सत्य के मार्ग पर स्थायी रहने की प्रेरणा और जीवन के आदर्श मूल्यों के प्रति सत्य और आस्था रखने की भावना प्रदान करती है। इन्हीं गीतों में जँतसार एक मुख्य रूप से गाए जाने वाला गीत है जो उत्तर भारत के ग्रामीण जीवन में उपयोग में लाया जाता है। लूर पत्रिका में जँतसार (जाँत के गीत) को यंत्रशाला का अपभ्रंश बताया जाता है। वर्तमान समय में देखा जाए तो यह जाँत के गीतों के साथ-साथ यंत्रशाला के कम घरों में ही पाई जाती है।

* शोधार्थी, हिन्दी विभाग, लक्ष्मीबाई महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

† सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग, लक्ष्मीबाई महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

जँतसार के गीतों को गृहणी द्वारा गाया जाता है वह भी तब जब वह चक्की से अनाज पिसती हैं यह सामान्य रूप से ब्रह्म मुहूर्त के समय किया जाता है ताकि दिन के समय गर्मी और धूप से बचा जा सके। जँतसार के गीतों में चक्की के चार फेरे पूर्ण होने पर गीत की एक कड़ी पूरी होती है। इसी के साथ हृदय, हाथ और वाणी तीनों का तालमेल बैठता है। जिस प्रकार चक्की की ध्वनि मद्धिम होती है उसी प्रकार गीत की पंक्तियों की ध्वनि का भी आरोह-अवरोह किया जाता है। जँतसार के गीतों की विशेषता है कि वे एक-एक कड़ी रुक-रुककर गाई जाती हैं। गीत की एक कड़ी लंबी गहरी साँस लेकर दूसरी कड़ी गाई जाती है।

अवध प्रांत के जँतसार के गीतों में कुछ विशेषता ऐसी रही जिसमें कड़ी की हर पंक्ति के अंत में 'हो राम' का आकलन किया जाता है। अवध में प्रभु श्रीराम के जन्म से जुड़े कारण वहाँ के गीतों में हो राम का अंकन मिलता है। जँतसार के गीतों में कुलवधू के कुल की मर्यादा की रक्षा करते हुए भी कुल के लोगों के द्वारा किए गए अत्याचारों या बोला जाए तो उसके दुखों को दर्शाया जाता है। जिसमें से लूर पत्रिका में अंकित अवध क्षेत्र का पृष्ठ 9 पर अंकित किए गए गीत में दर्शाता है:

“उड़त मैं देख्यो प्रेम चिरैया, उड़ि के बड़ै सरसौ डरिया हो राम.
आवत देख्यो मैं दुइ रे सिपहिया, एक गोरहर एक सांवर हो राम
सैवरु त हये मोरी ननदी के बिरना, गोरे मोरी मैया क दुलरुआ हो राम
मचियहि बैठी सासू बढतिनि, काउ सीझों भइया की रसोइयां हो राम
कोठिला म हई बौहरि सरली कोदइया, खेतवां चकवड़े क सगवा हो राम
कोठिला म हई सासू साठी झिन चउरा, कुंडवा म मुंगिया क दलिया हो राम
चन्दन चौक पुरावें मोरी मइया, इंगुरे के बुन्द थरिया मानैं हो राम
बरहौं बिजन मइया भैया के परसैं, उपरा चुवावैं घिउ क धरिया हो राम
जेवन बड़ै हैं सार बहनोइया, सरवा के चूवै अंसुइया हो राम
किय मोरे भइया हो तिरिया सुधि आई, किय समइया मइया क कलेउवा हो राम
नाहीं मोरी बहिनी हो तिरिया सुधि आई, नाही समझौं मइया क कलेउवा हो राम
सोनवा त जै बहिनी सोनरा दुकनियां, बहिनी जरथीं ससुरियां हो राम
लोहवा त जै बहिनी लोहरा दुकनियां, बहिनी जरथीं ससुरियां हो राम
ई दुख जिनि कहुआ बाबा के अगवां, सभवां बड़ि पछितइहैं हो राम
ई दुख जिनि कहुआ मइया के अगवां, छतिया पीटिय मरि जइहैं हो राम
ई दुख जिनि कहुआ बहिनी के अगवां, नाही ऊ गवनवां न जइहैं हो राम
ई दुख जिनि कहुआ भौजी के अगवां, रामरसोइयां बोलिया बोलिहैं हो राम
ई दुख जिनि कहुआ गउंवा लोगे अगवां, झगरा करत तनवा मरिहू हो राम
हमरी ई बिपति गठरिया मोरे बिरना, गंगा जमुन बीचे छोन्या हो रामा”¹

इस गीत को यहाँ उदाहरण के रूप में लिया गया है। इस गीत में उस समय को दर्शाया गया है जहाँ एक स्तर अपने मायके से भाई के आने पर उसे न तो खाने के लिए अच्छा दे पा रही है ना उससे अपने मन की व्यथा व्यक्त कर पा रही है इस गीत में बताया जाता है की कैसे एक स्त्री अपने सास के साथ रहती है और सास उसके भाई के आने पर उसके भाई का तिरस्कार करती है और उसे खाने के लिए भी नहीं देती तभी वधू अपने मायके की तुलना करके बताती है की कैसे उसकी माँ उसका भाई को भोजन परोसती हैं। इस गीत में संयुक्त परिवार में रह रही नारी की मानसिकता, अभिव्यक्ति, लज्जा की इतनी मार्मिक अभिव्यक्ति की गई है जिसमें वह अपने मायके के लोगो को कष्ट नहीं देना चाहती है और अपना सम्मान भी नहीं खोना चाहती है। जँतसार के गीतों में जीव के कटु सत्य और यथार्थ का चित्रण किया जाता है। अवध प्रांत के गीतों में स्त्री पर हो रहे

अत्याचारों को मुख्य रूप से केंद्रित किया गया है। कुछ गीतों में केवल ससुराल की व्यवस्था ही नहीं अपितु कुलवधू के प्रति शय्या सुख को भी दर्शाता है जिसका उदाहरण :

“पनवा मैं चीरि-चीरि भोजना बनायौं, लवंग के दिहौं धुंगखा हो राम
जेवन बड़ै है, ससुरू, भसुरू, ससुरू जेवै भसुरू बैठा हो राम
किय मोरे भसुरू हो जेवना बिगड़िगी, किय भये नोन चटकाखा हो राम
नाहीं मोरी भयहू हो जेवना बिगड़िगी, नाहीं भये नोन चटकाखा हो राम
जीनी सेजरिया भयहू छोट भइया दिह, उहैव सेजरिया हमहूँ चाही हो राम
झझकि के चढ़ी है पिया की अटरियाँ, गोड़वा मिजत चुवै अँसुइया हो राम
किय मोरी रनियाँ हो मैया मोरी मारी, किय हो बहिनियाँ बोलिया बोलइ हो राम
नाहीं मोरे हरि जी सासू मोहि मारी, नाहीं ननदिया बोलिया बोलइ हो राम
जीनी सेजरिया स्वामी तुहें हम दीहेन, उहवै सेजरिया भसुरू चाहैं हो राम
बाहर से आवै भसुर पुकरिया, चला भइया खेलि आई सिकरवा हो राम
लावो न धनिया मोरी ढालि तरुवरिया, हम जाबै खेलै सिकरवा हो राम
जिनि जाहु स्वामी हो खेलै सिकरवा, भसुर के नेतिया बिगड़ी बाटी हो राम
एक बन गये दूसरे बन गये, तीसरे म छिड़ि गई लइया हो राम
भसुर के घोड़वा आवै उछरत कूदत, हरि जी के घोड़वा बिसमादल हो राम
हरि के तलवारिया आवै चमकति, लहकति, भसुर तलवारिया खुनवा बोरी हो राम
कहँवहि मारूया भसुरू ! कहँवा गिराया, कौनी बिरिछ ठढ़ियाया हो राम
उपरहि मारूयो भयहू खलवाँ गिरायो, कदम बिरिछि ठढ़ियायो हो राम
तुहै छोड़ि भसुरू ! दुसर नाही करबै, तनि यक मुँहवा देखावा हो राम
तुहै छोड़ि भसुरू दुसर नाही करबै, तनि एक अगिया लै आवा हो राम
जौ हम होबै राम सती रे तिरियावा, आँचरै से अगिया धधकिहैं हो राम
आँचरै से धधकी है तुरते अगिनियाँ, हरि साथै भई हैं सतियावा हो राम
जो मैं जनत्यू भयहू ऐसन करबू, काहें के काटित दाहिन बहियाँ हो राम”²

इस गीत में प्रारंभ में कैसे नायिका लौंग का धुआँ देकर भोजन पकाती है। अपने ससुर और भसुर के भोजन करने पर भसुर से भोजन के बारे में पूछती है तभी वह उससे कहता है की उसे उसके साथ शय्या सुख की अभिलाषा व्यक्त करता है और यह सुनकर नायिका अपने पति से दुख व्यक्त करते हुए रोटी है यह सुनकर पति आक्रोश में होता है और पत्नी उसे रोकती है यह इस गीत में स्त्री का पारिवारिक जुड़ाव को लेकर संघर्ष को दिखते हैं। अगले दिन भसूर और पति दोनों शिकार पर जाते हैं और वह बड़ा भाई अपने छोटे भाई को मार देता है और घर आकर नायिका पूछती है की कैसे मारा यह इस गीत में वियोग रस का संचार दिखाया है अंत में पति के शव को आग लगते हुए वह भी उसी में सती हो जाती है और भसूर यह कह कर विलाप करता है कई यदि उसे इस बात की भनक होती तो वह कभी अपनी दाहिनी भुजा (उसका छोटा भाई) नहीं काटकर फेंकता। इन गीतों में सभी प्रकार के मार्मिक दृश्यों का चित्रण किया जाता है जिसे गाकर गायक के हृदय का बोझ कम लगता है। मिथिलांचल गीत की बात की जाए तो मैथिली लोकगाथा दीनाभद्री से मुसहरों के श्रमगीत और थरुओ के हाल चलते समय ‘हरवाह विरहानी’ जो प्रफुल्ल कुमार सिंह मौन द्वारा रचित है यह सभी मैथिली जंतसार गीत के संदर्भ में उदाहरण है।

मिथिलांचल के गीत का प्रभाव अन्य क्षेत्र में भी है परंतु मैथिली इसकी प्रमुख रही है। मैथिली के जंतसार के गीतों में रीदम को देखा जा सकता है जिसमें प्रत्यय जोड़ कर उसको रीदम दिया जाता है। उदाहरण स्वरूप एक गीत जो लूर पत्रिका में ही अंकित है:

“के रे देल गेहूमा हो रामा केरे देले चंगेरिया
 कौनी वैरिनियां हो रामा भेजल जंतसरिया
 सासू देल गेहूमा हो रामा ननदी चंगेरिया
 गोतनी वैरिनियां हो रामा भेजल जंतसरिया
 जंतवो ने चलइ हो रामा, मकरी ने डोलइ
 जांत के घइले हो रामा, रोवै जंतसरिया
 घोड़वा चढल हो लछुमन तोहरे तिरियवा
 जंतवा के दुखे से रामा रोवै जंतसरिया”³

इस गीत में एक वधू अपने सास और ननद के व्यवहार का चित्रण करके बताती है कि उसकी सास ने उसे अनाज दिया है ननद चंगेरी देकर कहा है की जा कर जाँत से पीसने के लिए उसको यंत्रशाला भेजा है और सौत ने उसे जँतसार पकड़ डिय है उससे वह चक्की का हत्थी नहीं पकड़ी जाती वह लक्ष्मण के रूप में उसे देख कर कहती है की हे लक्ष्मण! तुम्हारी स्त्री जाँता पकड़कर रो रही है।

बिहार प्रदेश के श्रम लोकगीत का गठन मुख्य रूप से स्त्रियों द्वारा किया जाता है। कई आलेखों के अनुसार आरण्यक काल से ही स्त्रियाँ श्रम करते-करते अपनी मातृभाषा में ही ऐसे गीतों को गढ़ती रही हैं जिसमें रस का समन्वय होता है। इन श्रम गीतों के माध्यम से अपने हृदय की भावना, सपने, सुख-दुख इत्यादि की अभिव्यक्ति करती है। इन बिहार प्रदेश के गीतों के उदाहरण के लिए बारहवीं शताब्दी की कवयित्री विज्जिका ने अपने कई जगह श्रमगीतों का उदाहरण दिया है।

“विलासमसृणोल्लसन्मूसलदोःकन्दली
 परस्पर परिस्खलद् वलयक निःस्वनैर्दुरा
 हरन्ति कलहङ्कृति प्रसभ कम्पितोरः स्थल
 त्रुटद्गमक संकुलाः कलमकण्डनी गीतयः”⁴

इस रचना के अंश में इस बात का उल्लेख की कैसे स्त्रियाँ गीत गाकर धान कूटती हैं। उनके शारीरिक रूप से कैसे देखा जा रहा है या कहे तो उनके की बनावट कैसी लग रही है और मूसल के उठने और गिरने पर किस प्रकार कंगनों की झंकार कैसे मधुर लग रही है कैसे उनके गाए गीतों में रस का संचार कर रही हैं।

बिहारी जँतसार गीत प्रायः लंबे होते हैं क्योंकि इनमें एक व्यक्ति या स्त्री के जीवन के कटु सत्य या जीवनानुभाव की अभिव्यक्ति होती है। इन गीतों में सास- बहु के मध्य चल रही तना-तनी को दिखाया जाता है। उदाहरण के लिए लूर पत्रिका में अंकित यह गीत है:

“सरे भरी गेहूँआ रामा बांस के चंगेरिया (डाला)
 खली भइली जात जँतसरिया ये रामा
 मुठिया से गेहूँआ रामा मुठिया में रहि जाला
 झिकिया (चलाते हुए) डोलते निकसले (निकलना) बहरिया
 (बाहर) ये राम
 बाबा के गवनमा के मांगी के गवनवा एक
 सामी गइले पूरबी विजिनिया (परदेश) ये राम
 भेजलन लिखि कबो, आइल न सनसवा (संदेश) रामा
 तेकरा से बीस कोस दूरी जेकर नाहि रामा
 दहकेला आजु मोरा अल्हड़ करेजवा रामा

कांपे जइसे गरइ मछरिया ये राम
 एक मन करे रामा हम डूबी मरती
 गोरवा में भाई के धरहरिया ये रामा
 कूटी-पीसी खइती करके वनजरिया रामा
 रहति बांकी-आंखी के पंजरिया ये रामा”⁵

बिहारी जँतसार गीतों में विशेषता यह रही है कि इस पति वियोग का वर्णन प्रमुख रूप से किया जाता है जिसमें स्त्री अश्रु बहाकर उसे याद करते हुए गाती है।

निष्कर्ष :-

अतः जँतसार के गीतों को इन तीन क्षेत्र में प्रमुख स्थान दिया गया है जिसमें स्त्री की अंतर्वेदना की अभिव्यक्ति हुई है, इसके साथ ही नारी जीवन की विडंबनाओं की भी अभिव्यक्ति हुई है। विडम्बना यह भी है कि चक्की के साथ-साथ घरों से जँतसार के गीत भी विलुप्त हो रहे हैं। वर्तमान समय में यह गीत उन श्रेणी में आते हैं जो भारत की संस्कृति इस लोक संस्कृति को बचाने में सहायक हो सकते हैं इनका संकलन आवश्यक है तभी भारतीय लोक संस्कृति बचाई जा सकती है।

संदर्भ :-

1. सिंह, विद्याविंदु. (2010). अवध क्षेत्र के श्रम परिहार के गीत. लूर: श्रम लोकगीत विशेषांक, 15-16, पृ. 9-10.
2. सिंह, विद्याविंदु. (2010). अवध क्षेत्र के श्रम परिहार के गीत. लूर: श्रम लोकगीत विशेषांक, 15-16, पृ. 9-10.
3. सिंह मौन, प्रफुल्ल कुमार. (2010). मिथिलांचल का श्रम गीत जँतसार. लूर: श्रम लोकगीत विशेषांक, 15-16, पृ. 28.
4. वर्मा, उषा. (2010). बिहार का श्रम लोक गीत जँतसार. लूर: श्रम लोकगीत विशेषांक, 15-16, पृ. 49-52.
5. वर्मा, उषा. (2010). बिहार का श्रम लोकगीत जँतसार. लूर: श्रम लोकगीत विशेषांक, 15-16, पृ. 49-52.

हिंदी गीति परंपरा का स्वरूप एवं विकास

शिवदत्त द्विवेदी*

sdkodra@gmail.com

सारांश –

हिंदी गीति परंपरा भारतीय काव्य-चेतना की सबसे प्राचीन, निरंतर और जीवन्त धारा है, जिसकी जड़ें आदिम मानव समाज की सामूहिक सांस्कृतिक गतिविधियों में निहित हैं। यह परंपरा सामूहिक नृत्य-गीतों से प्रारम्भ होकर वैदिक सूक्तों, लोकगीतों, अपभ्रंश-प्राकृत साहित्य, भक्ति आंदोलन तथा आधुनिक काव्यधाराओं तक सतत् प्रवाहित होती रही है। प्रस्तुत शोध-पत्र में समाजशास्त्रीय, नृवंशविज्ञानिक तथा साहित्यिक दृष्टिकोणों के आलोक में हिंदी गीति परंपरा के उद्भव, स्वरूप और विकास का समग्र विश्लेषण किया गया है। अध्ययन का उद्देश्य यह प्रतिपादित करना है कि गीति-काव्य केवल एक काव्य-रूप नहीं, बल्कि भारतीय सांस्कृतिक स्मृति और सामूहिक संवेदना की अभिव्यक्ति है।

बीज शब्द –

हिंदी गीति परंपरा, आदिम काव्य, लोकगीत, गीतिकाव्य, भक्ति आंदोलन, आधुनिक काल

भूमिका-

“हिंदी गीति परंपरा की जड़ें मानव सभ्यता के प्रारंभिक चरणों में ही मिलती हैं, जहाँ काव्य की उत्पत्ति मुख्यतः भावों की लयबद्ध एवं संगीतमय अभिव्यक्ति के रूप में हुई। यह परंपरा तीन प्रमुख स्तरों- आदिम, लोक तथा शिष्ट- पर आधारित है, जिनका क्रमिक विकास एवं अंतर्संबंध हिंदी गीतिकाव्य की समग्र संरचना को समझने के लिए अनिवार्य है। आदिम स्तर गीति परंपरा का मूलभूत एवं सर्वप्राचीन रूप है।” यह उस युग से संबंधित है जब मानव समाज अत्यंत संनाद एवं सहकारिता-प्रधान था; नगर-ग्राम, शिष्ट-सामान्य का विभेदन या तो अस्तित्व में नहीं था या अत्यंत मंद था। इस स्तर पर गीत सामूहिक अनुभव की संयुक्त अभिव्यक्ति थे- जातीय उत्सव, सामूहिक श्रम, प्रकृति के साथ एकाकारता, जन्म-मृत्यु-प्रेम जैसे सार्वभौमिक भावों की मौखिक, सामूहिक रचना। “ये गीत व्यक्तिगत सर्जक से अधिक समुदाय की संवेदना के वाहक थे तथा मुख्यतः अनुष्ठानिक, जादुई एवं सामूहिक संगीत-नृत्य से संबद्ध थे। नामवर सिंह के शब्दों में, यह ‘आदिम साहित्य’ का काल था जिसमें समाज का संघटन उच्च कोटि की पारस्परिक सहकारिता पर टिका था।” समाज के विकास के साथ जब शिष्ट एवं लोक का स्पष्ट विभेदन उभरा, तब गीति परंपरा दो समानांतर धाराओं में विभाजित हो गई। लोक स्तर उस गीतिकाव्य को संदर्भित करता है जो सामान्य जन-समुदाय द्वारा रचा एवं संरक्षित होता रहा। यह मौखिक परंपरा पर आधारित है, जिसमें स्थानीय बोली, क्षेत्रीय रीति-रिवाज, ऋतु-चक्र, संस्कार, त्योहार, श्रम-गीत, विवाह-गीत, झूला-गीत, बारहमासा, कजरी, चैता, फाग आदि रूप शामिल हैं। लोक-गीतों में सहजता, सरलता, सामूहिकता एवं जीवन की अनायास प्रवाहात्मक अभिव्यक्ति प्रधान रहती है। ये गीत समाज के निम्न एवं मध्यम वर्ग की संवेदनाओं, विश्वासों एवं दैनंदिन अनुभवों का प्रतिबिंब होते हैं तथा प्रायः वाचिक संप्रेषण द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी जीवित रहते हैं।

“शिष्ट स्तर पर गीति परंपरा अधिक परिष्कृत, शास्त्रीय एवं व्यक्तिकेंद्रित हो जाती है। यहाँ रचनाकार व्यक्तिगत प्रतिभा, संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश की परंपरा, छंद-शास्त्र, अलंकार-योजना एवं भाव-वैशिष्ट्य पर बल देते हैं। अपभ्रंश काल से लेकर भक्तिकाल, रीतिकाल, छायावाद तक हिंदी के गीतों में यह स्तर स्पष्ट दिखता है- जैसे विद्यापति, जायसी, सूरदास, तुलसीदास, केशव, बिहारी, पद्माकर, महादेवी वर्मा आदि की रचनाएँ। शिष्ट गीति में कोमलकांत पदावली, रागात्मकता,

* शोधार्थी, हिन्दी विभाग, इंदिरा गांधी जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक (म.प्र.)

संक्षिप्तता, भाव-एकता एवं संगीतात्मकता के तत्व अधिक परिमार्जित रूप में उपस्थित होते हैं। यहाँ गीत अक्सर लिखित परंपरा में आता है तथा व्यक्तिगत अनुभूति, दार्शनिक चिंतन अथवा सौंदर्यबोध की गहन अभिव्यक्ति बन जाता है।³ इन तीनों स्तरों का अध्ययन हिंदी गीति परंपरा की निरंतरता एवं विविधता को समझने में सहायक है। आदिम स्तर मूल स्रोत है, लोक स्तर उसकी व्यापक जन-धारा है तथा शिष्ट स्तर उसका परिष्कृत एवं शास्त्रीय रूपांतरण। ये स्तर अलग-अलग नहीं, बल्कि एक-दूसरे से अंतर्संबद्ध हैं- लोक में आदिम की स्मृति बनी रहती है तथा शिष्ट अक्सर लोक से प्रेरणा ग्रहण कर अपनी अभिव्यक्ति को अधिक जीवंत बनाता है। इस प्रकार हिंदी गीतिकाव्य की परंपरा एक सतत विकास-प्रवाह है, जो मानव-भावना की लयात्मक अभिव्यक्ति की मूल प्रवृत्ति को विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों में जीवित रखती है।

आदिम समाज और गीतिकाव्य का उद्भव-

“समाजशास्त्रीय, नृवंशविज्ञानीय तथा सांस्कृतिक मानवशास्त्रीय अनुसंधानों से यह स्थापित सत्य उभरता है कि विश्व की प्रायः समस्त प्राचीन मानव-समूहों में काव्य की उत्पत्ति एवं प्रारंभिक अभिव्यक्ति मुख्यतः सामूहिक नृत्य-गीत के संयुक्त रूप में हुई।⁴ यह काव्य किसी एकल रचनाकार की व्यक्तिगत सृजन-प्रक्रिया का परिणाम नहीं था, अपितु सामुदायिक जीवन-प्रक्रिया, सामूहिक श्रम, उत्सव, अनुष्ठान तथा भावनात्मक संनाद की सहज एवं एकीकृत अभिव्यक्ति था। “आदिम मानव का जीवन पूर्णतः सामूहिक एवं सहकारिता-प्रधान था। शिकार, संग्रहण, प्रारंभिक कृषि-कार्य, आवास-निर्माण, जन्म-मृत्यु-संबंधी संस्कार, प्रकृति-पूजा, युद्ध-पूर्व तैयारी तथा मौसमी उत्सव- ये सभी क्रियाकलाप सामूहिक रूप से संपन्न होते थे। इन क्रियाओं के साथ संगीत, नृत्य एवं गीत का अविभाज्य संबंध था, क्योंकि ये तत्व न केवल भावनात्मक उत्थान प्रदान करते थे, बल्कि सामूहिक एकता, लयात्मक समन्वय तथा कार्य-कुशलता को भी बढ़ावा देते थे।⁵”

नृत्य के पद-संघात, शरीर-मुद्राएँ, सामूहिक स्वर-उत्पत्ति तथा वाद्य-उपकरणों का प्रयोग छंद, लय तथा स्वर-संरचना के विकास का मूल आधार बने। इस प्रकार, गीत मात्र शब्द-समूह नहीं, अपितु नृत्य-लय, शारीरिक गति तथा सामूहिक ऊर्जा का समन्वित रूप था। प्रसिद्ध नृवंशविज्ञानी एवं संगीत-शास्त्रज्ञों के अनुसार, आदिम समाज में नृत्य, संगीत एवं गीत का घनिष्ठ अंतर्संबंध इतना अटूट था कि इनमें से किसी एक की कल्पना दूसरे के अभाव में असंभव थी। नृत्य की लयबद्ध गतिविधियाँ ही छंद-संरचना की जननी बनीं, जबकि सामूहिक स्वर-उच्चारण ने गीत की ध्वन्यात्मकता एवं भाव-प्रवाह को जन्म दिया। इस काल में गीत का कोई निश्चित व्यक्तिगत रचयिता नहीं होता था; यह समाज की सामूहिक सृजन-प्रक्रिया का परिणाम था तथा समुदाय की साझा संपत्ति के रूप में संरक्षित एवं संप्रेषित होता था। रचना प्रक्रिया में भाग लेने वाले सभी सदस्य- स्त्री-पुरुष, युवा-वृद्ध- सामूहिक रूप से गीत को विकसित, संशोधित एवं परिवर्धित करते थे, जिससे यह जीवंत एवं गतिशील रहता था।

भारत के संदर्भ में यह आदिम संरचना आज भी विभिन्न आदिवासी समुदायों-संथाल, मुण्डा, ओरांव, हो, कोल, भील, गोंड, बैगा, कोरकू आदि-के जीवन में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। इन समुदायों में सामूहिक नृत्य-गीत की परंपरा अत्यंत प्रबल है-जैसे संथालों का सोहराई-बाहा, मुण्डाओं का करमा-नृत्य, ओरांवों का सरहुल-गीत, भीलों का गौर-नृत्य आदि। ये गीत-नृत्य न केवल उत्सवों एवं अनुष्ठानों से जुड़े होते हैं, अपितु दैनिक श्रम, जीवन- तथा सामाजिक संदेशों की अभिव्यक्ति भी करते हैं। इनमें मौखिक परंपरा की निरंतरता, सहज लयात्मकता, सामूहिक भागीदारी तथा आदिम सांस्कृतिक स्मृति का संरक्षण देखा जा सकता है, जो हिंदी गीति परंपरा के आदिम स्तर की जीवंत प्रमाण-श्रृंखला प्रस्तुत करता है। इस प्रकार, आदिम समाज में गीतिकाव्य का उद्भव सामूहिक अनुष्ठानिक अभिव्यक्ति के रूप में हुआ, जहाँ काव्य, संगीत एवं नृत्य एक अविभाज्य इकाई थे। यह व्यक्तवादी सृजन से पूर्व का सामूहिक सृजन-काल था, जिसने बाद के लोक एवं शिष्ट गीतिकाव्य की मूल संरचना एवं भाव-प्रवाह को निर्धारित किया। इस आदिम स्तर का अध्ययन हिंदी गीति परंपरा की जड़ों को समझने तथा उसकी निरंतरता को ग्रहण करने के लिए अपरिहार्य है।

‘टेक’ परंपरा और सामूहिक गायन-

“आदिम गीतिकाव्य की एक मूलभूत विशेषता ‘टेक’ की परंपरा थी, जो काव्य की प्राचीनतम संरचनात्मक इकाई के रूप में स्थापित है। फर्डिनेंड वोल्फ जैसे विद्वानों के अनुसार, ‘टेक’ मानव काव्य जितनी ही प्राचीन है; यह आदिम समाज की सामूहिक अभिव्यक्ति का अभिन्न अंग था। गीत के मुख्य भाग को एकल गायक द्वारा प्रस्तुत किया जाता था, जबकि समुदाय के अन्य सदस्य टेक को सामूहिक रूप से दोहराते थे- यह दोहराव न केवल लयात्मक संतुलन एवं संगीतमय एकरूपता प्रदान करता था, अपितु श्रम-विभाजन तथा सामूहिक सहभागिता का स्पष्ट प्रमाण भी था। इस प्रक्रिया से गीत अधिक जीवंत, स्मरणीय एवं सामूहिक ऊर्जा से युक्त हो जाता था, तथा यह अनुष्ठानिक, श्रम-संबंधी एवं उत्सवी संदर्भों में विशेष रूप से

प्रभावी सिद्ध होता था।” प्रसिद्ध नृवंशविज्ञानी एवं साहित्य-चिंतक डॉ. मियर का मत है कि काव्य का आदि रूप आदिम मानव की अविवक्षित चिल्लाहट था-यह भय, आनंद, प्रेम, दुःख, क्रोध अथवा अन्य प्रबल भाव-आवेगों से सहजतः उत्पन्न होने वाली ध्वनि-प्रकटि थी, जिसमें अभी अर्थपूर्ण शब्दों का पूर्ण विकास नहीं हुआ था।

कालांतर में इन प्रारंभिक ध्वनियों में अर्थ-भारित शब्दों, लयात्मक व्यवस्था एवं संरचनात्मक तत्वों का समावेश हुआ, जिससे भावों की अधिक सुसंगत एवं नियंत्रित अभिव्यक्ति संभव हुई। इस क्रमिक विकास ने गीतिकाव्य को मात्र आवेग-प्रकटीकरण से ऊपर उठाकर भावनात्मक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक संप्रेषण का सशक्त माध्यम बना दिया। भारतीय लोकगीत परंपरा में यह ‘टेक’ आज भी जीवंत रूप में विद्यमान है। कजरी, बिरहा, लावनी, ख्याल, फाग, चैता आदि अनेक लोक-गीतों में टेक (जैसे ‘का हो रे’, ‘ओ सैया’, ‘निराला रे’ आदि) का प्रयोग प्रमुखता से होता है, जहाँ मुखिया गायक मुख्य पंक्तियाँ गाता है और समूह टेक को दोहराकर सामूहिक भागीदारी सुनिश्चित करता है। यह परंपरा आदिम गीतिकाव्य की सामूहिकता एवं लयात्मकता की निरंतरता को प्रमाणित करती है, तथा हिंदी गीति परंपरा के लोक स्तर पर आदिम सांस्कृतिक स्मृति को जीवित रखती है। इस प्रकार, ‘टेक’ की परंपरा आदिम गीतिकाव्य में न केवल संरचनात्मक आवश्यकता थी, बल्कि सामाजिक एकता, भाव-साझेदारी एवं सृजनात्मक सहकारिता का प्रतीक भी थी, जो बाद के लोक एवं शिष्ट गीतों में परिवर्तित रूप में विद्यमान रही।

वैदिक साहित्य और गीतिकाव्य –

“भारतीय काव्य परंपरा में ऋग्वैदिक सूक्त गीतिकाव्य की सर्वोच्च एवं प्राचीनतम अभिव्यक्ति के रूप में स्थापित हैं। ये सूक्त मात्र धार्मिक मंत्र नहीं, अपितु भावपूर्ण, लयबद्ध एवं संगीतमय काव्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं, जिनमें लय, छंद, संगीतात्मकता तथा भाव-गहनता का अद्भुत समन्वय दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद की ऋचाएँ (मंत्र) मुख्यतः वैदिक देवताओं-अग्नि, इंद्र, वरुण, उषा, सूर्य, अश्विन, मरुत् आदि- की स्तुति, प्रार्थना एवं आह्वान के रूप में रचित हैं, किंतु इनमें प्रकृति-वर्णन, मानव-जीवन की अनुभूतियाँ, सृष्टि-रहस्य, नैतिक चिंतन तथा भावनात्मक उद्गारों की प्रबल उपस्थिति गीतिकाव्य की विशेषताओं को पूर्ण रूप से प्रतिबिंबित करती है।” ऋग्वैदिक सूक्तों की गीतिक विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

- छंदोबद्धता एवं लयात्मकता - गायत्री, अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्, जगती आदि छंदों में रचित ये सूक्त स्वाभाविक रूप से गेय हैं। सामवेद में इनका संगीतमय रूपांतरण (सामगान) इसकी प्रमाणिकता दर्शाता है।

- भाव-प्रधानता एवं व्यक्तिगत अनुभूति – “उषा-सूक्त (ऋग्वेद १.४८ आदि) में उषा की सौंदर्य-छटा का वर्णन, नासदीय सूक्त (१०.१२९) में सृष्टि-उत्पत्ति के रहस्य पर गहन चिंतन, तथा पुरुष-सूक्त (१०.९०) में विराट् रूप का उदात्त चित्रण- ये सभी गीतिकाव्य की कोमलकांत पदावली, भाव-एकाग्रता एवं रागात्मकता के प्रमाण हैं।”

- प्रकृति-संवाद एवं मानव-भाव -प्रकृति के तत्वों को देवत्व प्रदान कर उनकी स्तुति में कवि-ऋषि की आंतरिक अनुभूति एवं भावुकता झलकती है, जो गीतिकाव्य की मूल प्रवृत्ति-व्यक्तिगत भाव-प्रकटीकरण- से मेल खाती है।

- मौखिक परंपरा का स्थायित्व- “वैदिक साहित्य मूलतः श्रुति परंपरा पर आधारित था। ऋषियों द्वारा दृष्ट (दर्शन) एवं श्रुत इन ऋचाओं का पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक संरक्षण एवं उच्चारण-संरक्षण ने गीतिकाव्य को अमरत्व प्रदान किया। स्वर-उच्चारण, मात्रा-बल तथा वेद-पाठ की परंपरा ने संगीतात्मकता को अक्षुण्ण रखा। इस प्रकार, ऋग्वैदिक सूक्त भारतीय गीति परंपरा के आदिम एवं शिष्ट स्तरों के मध्य सेतु का कार्य करते हैं। आदिम सामूहिक गायन से प्राप्त लय-संरचना एवं भाव-साझेदारी को वैदिक काल में परिष्कृत, छंदोबद्ध एवं दार्शनिक गहनता प्रदान की गई, जिसने बाद के लोक-गीतों, भक्ति-गीतों तथा शास्त्रीय गीतिकाव्य की नींव रखी। वैदिक गीतिकाव्य की यह उच्चतम अभिव्यक्ति हिंदी गीति परंपरा की जड़ों को समझने एवं उसकी निरंतरता को ग्रहण करने के लिए अपरिहार्य है।”

संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश काल-

“संस्कृत साहित्य के विकास के साथ प्रबंधात्मक काव्य- महाकाव्य, खंडकाव्य तथा नाटक- की प्रधानता स्थापित हुई, जिसके फलस्वरूप गीतिकाव्य कुछ समय के लिए अपेक्षाकृत हाशिये पर रहा। संस्कृत में कालिदास, भवभूति आदि के काव्यों में भावपूर्ण पद्य एवं प्रकृति-वर्णन अवश्य मिलते हैं, किंतु मुख्य प्रवाह वर्णनात्मक, आख्यायिक एवं अलंकार-प्रधान

रहा। तथापि, पालि और प्राकृत साहित्य में गीतिकाव्य की परंपरा जीवंत बनी रही। पालि में बौद्ध गाथाएँ तथा जातक-कथाओं में अंतर्निहित गीतात्मक पद भावनात्मक एवं आध्यात्मिक अनुभूतियों की सहज अभिव्यक्ति करते हैं।

प्राकृत में महाराष्ट्री प्राकृत की गाथाएँ तथा जैन साहित्य में गीत-रूपक काव्य प्रमुख हैं, जहाँ प्रेम, विरह, प्रकृति एवं नैतिकता के भाव लयबद्ध रूप में व्यक्त होते हैं। ये गाथाएँ मौखिक परंपरा से जुड़ी होने के कारण लोक-संवेदना से निकट रहीं।¹⁰ अपभ्रंश काल में गीतिकाव्य ने पुनः शक्ति प्राप्त की। अपभ्रंश में दोहा, चौपाई, रासो-शैली तथा अन्य लोकप्रिय छंदों के माध्यम से गीतात्मकता का विकास हुआ। सिद्ध-साहित्य, नाथ-साहित्य तथा जैन अपभ्रंश काव्यों में भाव-प्रवाह एवं लयात्मकता स्पष्ट दिखती है। “इसी काल में देशभाषा में गीतिकाव्य स्वतंत्र एवं प्रतिष्ठित रूप में उभरा। अपभ्रंश को प्राकृत से भिन्न स्वतंत्र काव्य-भाषा मानते हुए विद्वान इस हिंदी के पूर्ववर्ती चरण के रूप में देखते हैं, जहाँ गीत-परंपरा लोक एवं शिष्ट दोनों स्तरों पर मजबूत हुई।¹¹”

मध्यकालीन भक्ति आंदोलन और गीत

“मध्यकाल में हिंदी गीति परंपरा ने पूर्ण परिपक्वता एवं व्यापकता प्राप्त की। भक्ति आंदोलन ने गीत को लोकभाषा, लोक-संवेदना तथा आध्यात्मिक अनुभूति से गहराई से जोड़ा, जिससे यह मात्र साहित्यिक अभिव्यक्ति नहीं रहकर जन-समुदाय की साझा भावनात्मक एवं धार्मिक अभिव्यक्ति बन गया।¹²”

- सिद्ध, नाथ तथा सूफी कवियों ने निर्गुण भक्ति के दोहों एवं पदों में गीतात्मकता का आधार तैयार किया।
- कबीर के दोहे एवं साखियाँ निर्गुण भक्ति, सामाजिक समानता एवं आंतरिक अनुभूति की संक्षिप्त, तीक्ष्ण एवं लयबद्ध अभिव्यक्ति हैं।
- जायसी की पदावली में सूफी प्रेम एवं रहस्यवाद की कोमल गीतात्मकता मिलती है।
- सूरदास के पद कृष्ण-भक्ति की रागात्मकता, वात्सल्य, श्रृंगार एवं विरह-भाव की पराकाष्ठा प्रस्तुत करते हैं, जहाँ ब्रजभाषा की मधुरता एवं संगीतात्मकता प्रधान है।
- तुलसीदास के पद एवं सगुण भक्ति, राम-भक्ति एवं लोकमंगल की भावना से ओतप्रोत हैं, जो गेयता एवं जन-प्रियता के कारण व्यापक हुए। भक्ति आंदोलन ने गीत को जाति-व्यवस्था, कर्मकांड एवं सामाजिक असमानता के विरुद्ध आवाज बनाया तथा इसे लोक-भाषा में जनसुलभ कराया। फलस्वरूप, गीत न केवल आध्यात्मिक साधना का माध्यम बना, बल्कि सामाजिक जागरण एवं भावनात्मक एकता का सशक्त साधन भी। इस काल में गीतिकाव्य की परिपक्वता ने हिंदी साहित्य को एक समृद्ध गीत-परंपरा प्रदान की, जो लोक एवं शास्त्रीय दोनों स्तरों पर निरंतर बनी रही।

आधुनिक काल में हिंदी गीत-

“आधुनिक काल में हिंदी गीतिकाव्य ने विविध प्रवृत्तियों एवं सामाजिक-राजनीतिक संदर्भों में अपनी सशक्त उपस्थिति बनाए रखी, तथा यह निरंतर विकासशील रहा। छायावाद में गीतिकाव्य ने नई ऊँचाइयाँ प्राप्त कीं। सूर्यकांत त्रिपाठी ‘निराला’, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत तथा महादेवी वर्मा जैसे छायावादी कवियों ने गीत को सौंदर्यबोध, प्रेम-राग, प्रकृति-संवाद तथा राष्ट्रीय चेतना से गहराई से जोड़ा। निराला के ‘परिमल’, ‘अनामिका’ एवं ‘गीतिका’ संग्रहों में मुक्त छंद एवं भाव-प्रवाह की नवीनता, प्रसाद की ‘झरना’, ‘लहर’ आदि में रहस्यमय प्रकृति-चित्रण, पंत की ‘पल्लव’, ‘गुंजन’ में कोमल सौंदर्य-भावना तथा महादेवी की ‘नीहार’, ‘रश्मि’ में विरह-व्यथा एवं आध्यात्मिक प्रेम की गहन अभिव्यक्ति ने गीतिकाव्य को रोमांटिक उत्कर्ष प्रदान किया।¹³”

यहाँ गीत व्यक्तिगत अनुभूति एवं कल्पना-लोक का परिष्कृत माध्यम बना, जो द्विवेदी युग की यथार्थवादी एवं नैतिकता-प्रधान काव्य-धारा से भिन्न था। प्रगतिवाद में गीत ने सामाजिक यथार्थ, वर्ग-संघर्ष, शोषण-विरोध एवं जन-चेतना को अपनाया। निराला के बाद के काव्य तथा नागार्जुन, मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल आदि के गीतों में लोक-संवेदना एवं क्रांतिकारी भावना का समावेश हुआ, जिससे गीत शिष्टता से लोक-मुखी हुआ। प्रयोगवाद एवं नई कविता के दौर में गीत ने मुक्त छंद, नई भाषा-संरचना, वैयक्तिक अस्मिता, अस्तित्ववादी चिंतन एवं आधुनिक जीवन-संघर्ष को ग्रहण किया। अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर, रघुवीर सहाय आदि ने गीत को परंपरागत बंधनों से मुक्त कर नई अभिव्यक्ति-शैली प्रदान की, जहाँ भाव-गहनता एवं शिल्प-प्रयोग का संतुलन रहा। समकालीन हिंदी गीत में लोक एवं शिष्ट का सर्जनात्मक संमिश्रण स्पष्ट दृष्टिगोचर

होता है। “नवगीत, मुक्तक एवं गीत-रूपक काव्य में लोक-भाषा, लोक-संस्कृति, क्षेत्रीय बोली, लोक-गीतों की लयात्मकता एवं टेक-परंपरा का प्रयोग होता है, साथ ही शिष्ट स्तर की भाव-गहनता, प्रतीकात्मकता एवं आधुनिक चिंतन भी विद्यमान रहता है। वीरन डंगवाल, नचिकेता, उदय प्रकाश, असागर वजाहत, व्योमेश शुक्ल, अनामिका आदि समकालीन गीतकारों के गीतों में ग्रामीण-शहरी द्वंद्व, पर्यावरण-चिंता, स्त्री-विमर्श, सामाजिक असमानता एवं व्यक्तिगत अलगाव जैसे विषय लोक-संवेदना एवं शास्त्रीय परिष्कार के मिश्रण से अभिव्यक्त होते हैं।¹⁴” इस प्रकार, आधुनिक काल में हिंदी गीत ने छायावादी सौंदर्य से प्रगतिवादी यथार्थ, प्रयोगवादी नवीनता से समकालीन लोक-शिष्ट संमिश्रण तक की यात्रा पूरी की है। यह परंपरा हिंदी गीतिकाव्य की निरंतरता एवं अनुकूलनशीलता का प्रमाण है, जो भावना की लयात्मक अभिव्यक्ति को विभिन्न युगीन संदर्भों में जीवित रखती है।

निष्कर्ष –

इस प्रकार हिंदी गीति परंपरा एक सतत, जीवंत एवं समावेशी साहित्यिक धारा के रूप में विकसित हुई है, जो मानव सभ्यता के प्रारंभिक चरणों से लेकर समकालीन युग तक अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित रही है। यह परंपरा आदिम सामूहिक नृत्य-गीतों की सहज लयात्मकता एवं सामुदायिक भाव-साझेदारी से आरंभ होकर वैदिक सूक्तों की छंदोबद्ध गेयता, प्राकृत-अपभ्रंश की गाथाओं एवं दोहों की लोक-संवेदना, भक्ति-काल की आध्यात्मिक रागात्मकता, रीति-काल की अलंकार-युक्त कोमल पदावली, छायावाद की सौंदर्य-प्रधान व्यक्तिवादी अभिव्यक्ति, प्रगतिवाद-नई कविता की यथार्थवादी एवं प्रयोगात्मक दृष्टि से गुजरती हुई समकालीन नवगीत एवं मुक्त गीतों तक पहुँची है, जहाँ लोक एवं शिष्ट का सर्जनात्मक संमिश्रण निरंतर दृष्टिगोचर होता है। यह गीतिकाव्य मात्र एक साहित्यिक विधा नहीं है, अपितु भारतीय सांस्कृतिक चेतना, सामूहिक स्मृति तथा भावनात्मक निरंतरता का सशक्त एवं बहुआयामी माध्यम है। इसमें आदिम समाज की सामूहिकता, वैदिक काल की दार्शनिक गहनता, भक्ति-युग की जन-मुक्ति की पुकार, छायावादी युग की कल्पना-लोक की स्वतंत्रता तथा आधुनिक युग की सामाजिक-व्यक्तिगत द्वंद्वतात्मकता- सभी स्तरों की अभिव्यक्ति समाहित है। गीत ने विभिन्न युगों में सामाजिक परिवर्तन, धार्मिक आंदोलन, राष्ट्रीय जागरण एवं व्यक्तिगत अस्मिता के संकटों को आत्मसात करते हुए अपनी प्रासंगिकता बनाए रखी है। इसकी निरंतरता एवं अनुकूलनशीलता ही इसे अन्य काव्य-विधाओं से विशिष्ट बनाती है- यह न तो पूर्णतः प्रबंधात्मक है, न ही मात्र वर्णनात्मक; अपितु भाव-प्रधान, लयबद्ध एवं संगीतमय होने के कारण जन-जीवन से निकटतम रहती है। अतएव, हिंदी गीतिकाव्य को एक स्वतंत्र, पूर्ण विकसित एवं प्रमुख काव्य-विधा के रूप में स्वीकार करना पूर्णतः युक्तिसंगत एवं आवश्यक है। यह परंपरा न केवल हिंदी साहित्य की समृद्धि का प्रमाण है, बल्कि भारतीय भाव-संस्कृति की जीवंतता एवं बहुलता का भी प्रतीक है, जो भावों की लयात्मक अभिव्यक्ति को शाश्वत रूप से जीवित रखती है।

संदर्भ -

¹ सिंह, नामवर. (1952). हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योगदान. इलाहाबाद: लीडर प्रेस।

² साक्षात्कार – ज्ञान प्रकाश आकुल

³ वही

⁴ Wallaschek, R. (1893). Primitive music: An inquiry into the origin and development of music, songs, instruments, dances, and pantomimes of savage races. Longmans, Green, and Co

⁵ Service, E. R. (1975). Origins of the state and civilization: The process of cultural evolution. W. W. Norton & Company.

⁶ वालाशेक, आर. (1893). प्रिमिटिव म्यूजिक: एन इन्क्वायरी इनटू द ओरिजिन एंड डेवलपमेंट ऑफ म्यूजिक, सॉन्स, इंस्ट्रूमेंट्स, डांसेज, एंड पैंटोमाइम्स ऑफ सैवज रेसेस

-
- ⁷ मैक्स मूलर, एफ. (संपा.). (1879–1910). ऋग्वेद-संहिता: द सेक्रेड हिम्स ऑफ़ द ब्राह्मन्स [The Rigveda-Samhita: The sacred hymns of the Brahmins] (6 खंड).
- ⁸ उपाध्याय, बलदेव. (१९९०). वैदिक साहित्य और संस्कृति (वैदिक काव्य मीमांसा खंड). वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन। (पृ. १८७-२०५)
- ⁹ विंटरनिट्ज़, एम. (१९९९). भारतीय साहित्य का इतिहास (खंड १, वैदिक एवं पालि-प्राकृत साहित्य) (अनु. सुभद्रा झा). दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास। (मूल जर्मन संस्करण १९०८-१९२०; पालि में थेरगाथा-थेरिगाथा एवं जातक-गाथाओं को भावनात्मक एवं आध्यात्मिक गीतिकाव्य के रूप में वर्णित; प्राकृत में महाराष्ट्री गाथाएँ लोक-संवेदना से जुड़ी।)
- ¹⁰ साक्षात्कार – सर्वेश त्रिपाठी
- ¹¹ वही
- ¹² द्विवेदी, हजारीप्रसाद. (२०१८). हिंदी साहित्य: उद्भव और विकास. दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।
- ¹³ साक्षात्कार – सर्वेश त्रिपाठी
- ¹⁴ कुमार रवीन्द्र. (2011). लोक संस्कृति और नवगीत. अभिव्यक्ति. http://www.abhivyakti-hindi.org/rachanaprasang/2011/loksanskriti_navgeet.htm

फ्रांसीसी प्रतीकवाद काव्यधारा की पृष्ठभूमि

डॉ. मुरारी कुमार सुमन*

smurari565@gmail.com

शोध सार-

प्रतीकवाद (Symbolisme) फ्रांसीसी साहित्य में 19वीं सदी के उत्तरार्ध में घटित एक युगांतरकारी काव्य आंदोलन है जिसने युगीन फ्रेंच काव्य को प्रतीकों, रहस्यमयता, गूढ़ता और भावनात्मक गहनता के माध्यम से एक नवीन सौंदर्यबोध प्रदान किया। इस काव्य आंदोलन ने यथार्थवाद की सतही प्रत्यक्षता और पारनासियन काव्य की शुष्क शिल्पनिष्ठता को चुनौती दी और इसके बरक्स प्रतीकवादी काव्यधारा को कल्पनामयी, आध्यात्मिक और सौंदर्यात्मक अन्वेषण का नूतन मार्ग प्रशस्त किया। प्रतीकवादी काव्य की पृष्ठभूमि में फ्रांस के ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक व साहित्यिक परिवेश का एक जटिल समन्वय था जिसने इसे एक क्रांतिकारी काव्य आंदोलन रूपी दिशा दी। वस्तुतः इसे समग्रतापूर्वक देखा जाय तो यह काव्यधारा अपने वास्तविक रूप में नितान्त व्यक्तिवादी काव्य आंदोलन था। 'फ्रांसीसी प्रतीकवाद काव्यधारा की पृष्ठभूमि' में फ्रांस की तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, भाषिक और संक्रमित साहित्यिक परिवेश भी जिम्मेदार था। फ्रांसीसी साहित्य में कला के उन्नयन हेतु समर्पित इस काव्य आंदोलन की पृष्ठभूमि को शोधपरक अनुशीलन की दृष्टि से देखने पर ऐसा दृष्टिगत होता है कि प्रतीकवादी काव्य आंदोलन वैज्ञानिक यथार्थवाद के विरुद्ध सामाजिक मनुष्यवाद के प्रबल पैरोपकार रहे बौद्धिक अभिजनों का एक 'साहित्यिक विद्रोह' था।

बीज शब्द- फ्रांसीसी, प्रतीकवाद, काव्यधारा, काव्य आंदोलन, पृष्ठभूमि, बौदलेयर, मलार्मे, वर्लेन और रैम्बो आदि।

‘प्रतीकवाद काव्यधारा की पृष्ठभूमि’ के संदर्भ में डॉ. पद्मा अग्रवाल का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है-

“प्रतीकवाद के आंदोलन का प्रारंभ फ्रांस के साहित्यकार जेराल्ड डी. नर्वाल की कृतियों में हुआ...फ्रांस में प्रतीकवाद संप्रदाय के प्रमुख कवि बौदलेयर, वर्लेन और मलार्मे थे। वर्लेन ने प्रतीक का प्रयोग स्वतः और प्रकृत रूप में किया है। मलार्मे ने अपना दार्शनिक सिद्धांत स्थापित किया और दार्शनिक तथ्यों के आधार पर प्रतीकों का निरूपण करके इन्हें न्यायसंगत प्रमाणित किया...उन्हें दृश्य जगत में प्रतीकों के ढेर का अनुभव हुआ जो मानव हृदय में आह्लाद और वेदना का भाव भर देता है और रंग और ध्वनि द्वारा आत्मा का आह्लाद संप्रेषित होता है।”¹

फ्रांसीसी भाषा और साहित्य में गहरी अभिरुचि रखने वाले डॉ. करुणाशंकर उपाध्याय के अनुसार- दरअसल, 19वीं शताब्दी का फ्रांस एक विशेष प्रकार के राजनीतिक और सामाजिक विवर्तन के दौर से गुजर रहा था। सन् 1848 और 1870 की क्रांतियाँ इस बात का प्रमाण हैं जो जन-मन में व्याप्त असंतोष और नूतन अकांक्षा की अभिव्यक्ति थीं। चूँकि इन क्रांतियों से कवि और लेखक भी जुड़े हुए थे, इसलिए साहित्यिक क्षेत्र में भी इसका अपना महत्व है। फ्रांसीसी प्रतीकवाद काव्यधारा की ‘साहित्यिक पृष्ठभूमि’ के व्यापक संदर्भ में अपना अभिमत प्रकट करते हुए वे पुनः लिखते हैं-

“जहाँ तक साहित्यिक पृष्ठभूमि का सवाल है तो प्रतीकवाद के आगमन के पूर्व फ्रांस में यथार्थवाद और प्रकृतवाद जैसे स्थूल और वस्तुवादी आंदोलनों का बोलबाला था। यथार्थवाद के कारण साहित्य में यथातथ्य वर्णन और तथ्यात्मकता का आग्रह बढ़ा और जो आंदोलन आरंभ में जीवन की समग्रता को लेकर चला था, वह अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचकर जीवन के सुंदर और असुंदर पक्ष का चितेरा बन गया। वह जीवन के कुत्सित, बीभत्स और कुरुचिपूर्ण अंशों के चित्रण में विशेष रुचि लेने लगा।

* पूर्व शोधार्थी, हिंदी साहित्य विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)

दूसरी तरफ प्रकृतवादी आंदोलन पूँजीवादी वैभव-विलास के वातावरण में मानव-प्रकृति में निहित विकृतियों को उघाड़ने में तत्पर था। वह जीवन के अश्लील और उपेक्षणीय पक्षों का भी ज्यों का त्यों वर्णन करने में प्रवृत्त था। ऐसी स्थिति में मनुष्य को यह समझने में देर नहीं लगी कि उसके समक्ष जीवन का जो रूप प्रस्तुत किया जा रहा है, उसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ ऐसा है जो मनुष्य के भीतर है, जो उसका आंतरिक सौंदर्य है और जिसे यथार्थवाद की सतही दृष्टि नहीं पकड़ सकती। फलतः इन स्थूल, वस्तुन्मुखी, यथार्थवादी, प्रकृतवादी प्रवृत्तियों के विरोध में सूक्ष्मतापरक, आदर्शवादी, रहस्योन्मुख तथा सांकेतिक अभिव्यक्तियों से युक्त एक नवांदोलन उठा खड़ा हुआ, जिसे 'प्रतीकवाद' की संज्ञा से संबोधित किया गया।²

प्रकारांतर से यह तथ्य रूढ़ है कि किसी अप्रस्तुत संदर्भ के लिए प्रयुक्त कोई संकेत सामान्यतः प्रतीक कहलाता है। इसको विशेष अर्थ में देखें तो पौराणिक काल से ही 'प्रतीकों का प्रयोग' काव्य रचनाओं में होता आया है। प्रतीकवादी काव्य की पृष्ठभूमि के संबंध में डॉ. मनोरमा देवी के निम्नांकित कथन का यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है:

“प्रतीकवाद एक आधुनिक काव्यात्मक आंदोलन है, जिसका आरंभ फ्रांस में हुआ। इसका समय उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध (1850 से 1940) तक माना जाता है। इसका आरंभ प्रसिद्ध फ्रांसीसी कवि बॉदलेयर के सन् 1821 से 1867 तक के करैस्पोंडेसिज (Correspondences) नामक काव्य से माना जाता है। मलार्मे सन् (1842 से 1898), वर्लेन (सन् 1844 से 1896) तथा रीबो (1854 से 1891) ने इस काव्यांदोलन को आगे बढ़ाया। आगे चलकर इसका प्रभाव फ्रांस के अतिरिक्त अमेरिका, जर्मनी, इंग्लैंड आदि सभी देशों के चिंतन और साहित्य पर पड़ा। इस प्रकार इस काव्यांदोलन का प्रचार समग्र विश्व में हुआ। इनके प्रमुख कवि फ्रांस के वालेरी (1871 से 1945), जर्मनी के रिल्के (1875 से 1926) और स्टिफन जार्ज (1868 से 1933), रूस के एलेक्ज़ेंडर ब्लॉक (1880 से 1921) और आयरलैंड के यीट्स (1865 से 1939) आदि हुए।”³

डॉ. मनोरमा देवी 'प्रतीकवादी काव्यधारा की पृष्ठभूमि' के संबंध में विवेचन करते हुए पुनः यह लिखती हैं कि- “बॉदलेयर प्रथम व्यक्ति था, जिसने प्रतीकों के प्रयोग को महिमामंडित किया और मलार्मे ने इसके तत्त्व-दर्शन का निर्माण किया। यह मुख्यतः प्रकृतवाद तथा जड़ यथार्थवाद के विरुद्ध आत्मपरक तथा कलात्मक प्रवृत्तियों का विद्रोह था, जो वस्तुओं का यथातथ्य चित्रण करते थे, जबकि प्रतीकवादी रहस्यवादी ढंग से वस्तु चित्रण करने में प्रवृत्त हुए। प्रतीकवादियों ने पारम्परिक काव्य रूढ़ियों एवं काव्य-रूपों का विरोध किया। इससे पूर्व कवियों को जो कुछ कहना होता था, उसे वे घुमा-फिराकर रहस्यवादी ढंग से कहने की बजाय स्पष्ट रूप से सीधे-सादे ढंग से अपनी अभिव्यक्ति करते थे। उसमें रहस्यात्मकता नहीं होती थी। रहस्य के कारण विषय वस्तु को धीरे-धीरे समझने के प्रयत्न में जो सम्मोहक आनंद प्राप्त होता है, उससे सहृदय वंचित हो जाता था। वास्तव में कविता का आनंद तभी मिलता है, जब हमें यह संतोष हो जाए कि हम उस विषय का थोड़ा-थोड़ा करके अनुमान लगा रहे हैं....।”⁴

प्रतीकवाद का काव्यात्मक संदेश '(MESSAGE POETIQUE DU SYMBOLISME)' नामक पुस्तक में गाइ मिशॉद (GUY MICHAUD) प्रतीकवादी काव्य की पृष्ठभूमि की ओर संकेतित करते हुए यह लिखते हैं कि-

« Précisant donc la formule de Valéry reprise par Marcel Raymond – « une volonté nouvelle de saisir la poésie en son essence » ... le Symbolisme a découvert le point de vue poétique, et que co découverte, substituant un régime poétique à l'ancien régime, logique et rationne né avec l'âge classique, constflue véritablement la révolution poétique du monde moderne. En effet, il en va de la littérature, en France, comme de la politique le processus historique s'y accomplit d'ordinaire, non par évolution, mais par mu Lions brusques, qui marquent le passage d'une constitution à l'autre. Après le co d'Etat à demi-manqué de 1830, cinquante ans de gestation, puis une série d'attent littéraires aboutissent à la révolution symboliste de 1888, qui brusquement et une sorte de miracle opère dans la sensibilité française un renversement total, décou l'optimisme aux racines mêmes du pessimisme, el établit un régime nouveau. »⁵

गाइ मिशॉद के उक्त संदर्भ का हिंदी अनुवाद- ‘इस प्रकार, वालेरी के सूत्र को स्पष्ट करते हुए, जिसे मार्सेल रेमंड ने अपनाया, ‘कविता को उसके सार में समझने की एक नयी इच्छा’... प्रतीकवाद ने काव्यजीवन के केंद्रबिंदु की खोज की और यह खोज पुरा शासन के विरुद्ध एक नये काव्य शासन को प्रतिस्थापित करती है, तार्किक और तर्कसंगत, शास्त्रीय युग के साथ

पैदा हुई, वास्तव में आधुनिक दुनिया की काव्य क्रांति का आगाज करती है। वास्तव में फ्रांस में साहित्य के साथ, राजनीति के साथ भी ऐसा ही परिदृश्य है; ऐतिहासिक प्रक्रिया आमतौर पर विकास द्वारा नहीं बल्कि अचानक परिवर्तनों द्वारा संपूरित होती है, जो सहसा एक संविधान से दूसरे संविधान में जाने का संकेत देती है। सन् 1830 के आधे-असफल तख्तापलट के बाद, पचास साल की गर्भावस्था, फिर साहित्यिक उम्मीदों की एक श्रृंखला, 1888 की प्रतीकवादी-क्रांति में परिणत हुई, जिसने अचानक और चमत्कारिक रूप से फ्रांसीसी संवेदनशीलता में उलटफेर किया, यही बदलाव निराशावाद की जड़ों में आशावाद को पुनर्जीवित करते हुए एक अभिनव काव्य शासन स्थापित किया। आर्थर सिमंस ने 'साहित्य में प्रतीकवादी आंदोलन' पुस्तक में इस पर दृढ़तापूर्वक यह अभिमत प्रकट किया है:

“Symbolism, as seen in the writers of our day, would have no value if it were not seen also, under one disguise or another, in every great imaginative writer. What distinguishes the Symbolism of our day from the Symbolism of the past is that it has now become conscious of itself, in a sense in which it was unconscious even in Gérard de Nerval, to whom I trace the particular origin of the literature which I call Symbolist. The forces which mould the thought of men change, or men's resistance to them slackens; with the change of men's thought comes a change of literature, alike in its inmost essence and in its outward form: after the world has starved its soul long enough in the contemplation and the re-arrangement of material things, comes the turn of the soul; and with it comes the literature of which I write in this volume, a literature in which the visible world is no longer a reality, and the unseen world no longer a dream.”⁶

सिमंस के उपरोक्त कथन का हिंदी अनुवाद है: 'प्रतीकवाद, जैसा कि हमारे समय के लेखकों में देखा जाता है, का कोई मूल्य नहीं होता, यदि इसे किसी न किसी रूप में भी प्रत्येक महान कल्पनाशील लेखक में नहीं देखा जाता। हमारे समय के प्रतीकवाद को अतीत के प्रतीकवाद से जो अलग करता है, वह यह है कि यह अब अपने आप में सचेत हो गया है, एक ऐसे अर्थ में जिसमें यह जेराई दे नर्वाल में भी अचेतन था, जिनके लिए मैं साहित्य की विशेष उत्पत्ति का पता लगाता हूँ, जिसे मैं प्रतीकवादी कहता हूँ। मनुष्य के विचारों के परिवर्तन के साथ साहित्य में भी परिवर्तन आता है, अपने अंतरतम सार तथा बाह्य रूप में भी, जब संसार अपनी आत्मा को चिंतन तथा भौतिक वस्तुओं की पुनर्व्यवस्था में काफी समय तक रिक्त रख चुका होता है, तब आत्मा की बारी आती है; और इसके साथ ही वह साहित्य आता है, जिसके बारे में मैं इस पुस्तक में लिख रहा हूँ, ऐसा साहित्य, जिसमें मनुष्य के विचारों में परिवर्तन के साथ-साथ उसके बाह्य स्वरूप में भी परिवर्तन होता है। दृश्यमान जगत अब वास्तविक नहीं रहा, और अदृश्य जगत अब स्वप्न नहीं रहा।'

समालोचक Guy MICHAUD अपनी पुस्तक MESSAGE POÉTIQUE DU SYMBOLISME के आवरण पृष्ठ पर लोकऋषि महर्षि अरविंद घोष (Shri AUROBINDO) का निम्नांकित 'सूत्र वाक्य' उद्धृत करते हैं-

« Le monde connaît trois genres de révolutions. Les matérielles ont de puissants résultats: les morales et intellectuelles sont infiniment plus vastes dans leurs horizons et plus riches dans leurs fruits; mais les spirituelles sont les grandes semailles. »⁷

महर्षि अरविंद घोष, जिन्हें कालांतर में श्री अरविंदो के नाम से विश्व प्रसिद्धि मिली। भारतवासियों के लिए यह गौरव का विषय है कि श्री अरविंदो को दो बार 'नोबेल पुरस्कार' के लिए नामांकित किया गया, 1943 में साहित्य में नोबेल पुरस्कार के लिए और 1950 में शांति में नोबेल पुरस्कार के लिए। महर्षि अरविंदो के 'सूत्र वाक्य' का अनुवाद है- 'दुनिया तीन तरह की क्रांतियों का अनुभव कर रही है। भौतिक क्रांतियों के शक्तिशाली परिणाम होते हैं; नैतिक और बौद्धिक क्रांतियाँ अपने क्षितिज में असीम रूप से व्यापक और अपने फलों में समृद्ध होती हैं; लेकिन आध्यात्मिक क्रांतियाँ महान होती हैं।'

महर्षि अरविंदो की उपरोक्त आत्म-उद्घावना अकारण या अनायास ही प्रस्फुटित नहीं हुई थी अपितु तत्कालीन वैश्विक परिस्थितियों के आलोक में इस सूत्र-वाक्य पर गहनतापूर्वक विचार तथा अनुशीलन करने के उपरान्त उसमें निहित 'फ्रांसीसी प्रतीकवाद काव्यधारा की पृष्ठभूमि' के संदर्भ में संकेतित गूढ़ार्थ को भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। प्रकारांतर से ऐसा दृष्टिगत होता है कि प्रतीकवादी काव्य आंदोलन के मूल में न केवल फ्रांसीसी साहित्य में चल रहे संक्रमण की परिस्थिति बल्कि ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा अन्य वैश्विक कारक भी उतने ही उत्तरदायी थे। जहाँ भौतिक क्रांतियों की

भयावहता से संपूर्ण विश्व जूझ रहा था, वहीं फ्रांस में नैतिक और बौद्धिक क्रांतियों का ज्वार उमड़ पड़ा था; एक लंबे अंतराल के बाद इन युगीन क्रांतियों का समागम एक 'आध्यात्मिक क्रांति' में परिणत हो गया। प्रो. ALEXANDRE MICHA, 'VERLAINE ET LES POÈTES SYMBOLISTES' नामक पुस्तक में प्रतीकवाद काव्यधारा की पृष्ठभूमि में प्रमुख कारक रहे मुक्त छंद (vers libre) अभियान की सफलता का श्रेय जी. काह्न को देते हैं; हालाँकि सर्वप्रथम रींबो (RIMBAUD) ने सन् 1873 में 'मुक्त छंद' में काव्य-रचना की थी, वे लिखते हैं-

« En fait, le vers libre est bien une conquête de la génération symboliste: on en doit la vulgarisation à G. Kahn, qui s'est inspiré plus de Rimbaud (il écrivit les premiers vers libres en 1873) et de Laforgue que de Verlaine. Il n'en est pas moins vrai que, par sa prédilection de l'impair, par les combinaisons de l'impair et du pair, par les enjambements répétés qui enlèvent aux vers leur décou-page monotone, par les assonances et les correspondances de sonorité, par toutes ces tentatives que reprirent et poussèrent ses successeurs, Verlaine a contribué à la création de cette forme poétique nouvelle, comme il est, avec Mallarmé, le créateur d'un contenu poétique nouveau: reflets du monde extérieur sur l'âme, chansons où se dessine la vie intérieure. »⁸

प्रो. आलेक्जेंड्र मिशा के उपरोक्त उद्धरण का हिंदी अनुवाद यह है कि- 'वास्तव में, मुक्त छंद वास्तव में प्रतीकवादी पीढ़ी की विजय है: हम इसके लोकप्रिय होने का श्रेय जी. काह्न को देते हैं, जो वर्लेन की तुलना में रींबो (उन्होंने 1873 में पहला 'मुक्त छंद' काव्य लिखा था) और लाफोर्ग से अधिक प्रेरित थे। यह भी कम सच नहीं है कि विषमता के प्रति उनके झुकाव के माध्यम से, विषम और सम के संयोजनों के माध्यम से, छंदों के नीरस विभाजन को दूर करने वाले दोहराए गए फैलाव के माध्यम से, ध्वनि की अनुरूपता और पत्राचार के माध्यम से, इन सभी समन्वित प्रयासों के माध्यम से जिन्हें उनके उत्तराधिकारियों ने अपनाया और आगे बढ़ाया, पॉल मारी वर्लेन ने इस नए काव्य रूप (प्रतीकवादी काव्य) के निर्माण में योगदान दिया, ठीक वैसे ही जैसे वे स्तेफां मालार्मे के साथ, एक अधुनातन काव्य सामग्री के युगनिर्माता हैं: आत्मा पर बाहरी दुनिया के प्रतिबिंब, ऐसे गीत जिनमें आंतरिक 'जीवन-चित्र' खींचा जाता है।

'Poem & Symbol, A Brief History of French Symbolism' पुस्तक के लेखक 'वालेस फाउली' 'The Background of Symbolism : From Romanticism to Art for Art's Sake' शीर्षक में लिखते हैं-

"Symbolism has been a major study of literature since Baudelaire's Correspondances, which can be seen as a succinct manifesto. It has provided an aesthetic basis for works that have elements of both myth and allegory. They are among the most impressive literary works since 1850, which have reacted strongly against a realistic art of precision in order to reflect preoccupations that are religious and philosophical: the poetry of Rimbaud and Mallarmé, Yeats and Eliot; the novels of Proust and Joyce."⁹

वालेस फाउली के उपरोक्त कथन का हिंदी अनुवाद यह है कि- 'कवि शार्ल पियरे बॉदलेयर के पत्राचार '(Correspondances)' काव्य-संग्रह के बाद से प्रतीकवाद फ्रांसीसी साहित्य का एक प्रमुख अध्ययन रहा है, जिसे प्रतीकवाद के एक संक्षिप्त 'घोषणापत्र' के रूप में देखा जा सकता है। इसने उन सभी साहित्यिक कार्यों के लिए एक सौंदर्यात्मक आधार प्रदान किया है, जिनमें मिथक और रूपक; दोनों के मूल तत्व अनिवार्यतः समाहित होते हैं। वह सन् 1850 के बाद से फ्रांस के सर्वाधिक प्रभावशाली साहित्यिक कृतियों में से एक है, जिसने धार्मिक और दार्शनिक चिंतनाओं को प्रतिबिंबित करने के लिए सत्यतावादी (शुद्धतावादी) अथवा यथार्थवादी कला के विरुद्ध कड़ी साहित्यिक प्रतिक्रिया अभिव्यंजित की है: रैम्बो और मालार्मे, यीट्स और एलियट की कविताएँ; प्राउस्ट और जॉयस के उपन्यास।'

कालांतर में (सन् 1880-1890 के दशकों में) स्तेफां मालार्मे और उनके शिष्यों (विशेषकर उनके आत्मीय शिष्य पॉल वालेरी) ने मिथक और रूपक के कुछ पहलुओं को युगीन कविताओं में शामिल करने के लिए 'प्रतीक' के अर्थ को पूर्व के अपेक्षाकृत साहित्यिक परिप्रेक्ष्य में आगे बढ़ाया। फ्रांस के प्रतीकवादी काव्यधारा की पृष्ठभूमि में इस फ्रांसीसी काव्य आंदोलन के अगुआ रहे 'शार्ल बॉदलेयर; मालार्मे, वर्लेन और रींबो' का विशेष काव्यात्मक अवदान है।

जहाँ तक इसके ऐतिहासिक संदर्भ की बात है, फ्रांस में प्रतीकवादी काव्य का उद्भव 19वीं सदी के मध्य और इसका सर्वाधिक विकास अंतिम दो दशकों में हुआ। हालाँकि इसके विकास की प्रक्रिया सन् 1930 तक न्यूनाधिक चलती रही। इस संबंध में सूक्ष्मतापूर्वक देखा जाय तो वह समय फ्रांस में सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक रूप से भारी उथल-पुथल का दौर था। इसकी पृष्ठभूमि के संदर्भ में अध्ययन के दौरान तथ्यात्मक रूप से यह दृष्टिगत होता है कि निम्नांकित ऐतिहासिक कारकों ने समन्वित रूप से प्रतीकवादी काव्य की पृष्ठभूमि को विस्तृत व व्यापक आकार दिया:

औद्योगीकरण और शहरीकरण: 19वीं सदी में फ्रांस में औद्योगीकरण ने शहरी केंद्रों का विस्तार किया। पेरिस जैसे शहर सांस्कृतिक और बौद्धिक गतिविधियों के केंद्र बने परंतु इससे सामाजिक अलगाव और आध्यात्मिक संकट उत्पन्न हुआ। प्रतीकवादी कवियों ने इस साहित्यिक संकट को प्रतीकों रूपी सशक्त माध्यम अपनाकर अभिव्यक्त किया।

राजनीतिक अस्थिरता: सन् 1848 की फ्रांसीसी क्रांति, दूसरे साम्राज्य का प्रादुर्भाव (सन् 1852-1870) और फ्रांस-परशियन युद्ध (सन् 1870-1871) ने इस देश के राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं बौद्धिक स्तर पर अस्थिरता पैदा की। इन संक्रामक परिवर्तनों ने प्रतीकवादी कवियों को सामाजिक यथार्थ से पलायन कर अंतः गवेषणा की ओर प्रेरित किया।

वैज्ञानिक प्रगति और धार्मिक संकट: डार्विन के विकासवाद और सतत वैज्ञानिक अन्वेषणों ने परंपरागत धार्मिक विश्वासों को कड़ी चुनौती दी। इस तथ्य ने प्रतीकवादी युवा कवियों को काव्य रचना में नितांत व्यैयक्तिकता, प्रतीकों की सर्वथा अधुनातन काव्य शैली अपनाने, आध्यात्मिकता और रहस्यवाद की नई परिभाषा तलाशने के लिए प्रेरित किया।

सामाजिक संदर्भ: फ्रांसीसी प्रतीकवाद काव्यधारा की सामाजिक पृष्ठभूमि समाज, संस्कृति और साहित्य में हो रहे परिवर्तनों से गहरे रूप से प्रभावित थी। इसके विस्तृत अध्ययन से यह दृष्टिगत होता है कि फ्रांस के सामाजिक परिवेश ने प्रतीकवाद को व्यक्तिगत और आध्यात्मिक अभिव्यक्ति का एक महत्वपूर्ण और ठोस आधार प्रदान किया। प्रतीकवादी काव्य की पृष्ठभूमि में इसके प्रमुख सामाजिक कारक को निम्नलिखित पंक्तियों में सहज देखा जा सकता है:

बुर्जुआ संस्कृति का उदय: विश्वव्यापी औद्योगीकरण के आविर्भाव ने फ्रांस में भी एक समृद्ध बुर्जुआ वर्ग को जन्म दिया, जिसकी भौतिकवादी संस्कृति ने तत्कालीन फ्रांसीसी साहित्य तथा युगीन कवियों में भारी असंतोष पैदा किया। प्रतीकवादी कवियों ने इस भौतिकता के विरुद्ध सौंदर्य और आध्यात्मिकता की नवीन खोज को प्राथमिकता दी।

कलाकारों का अलगाव: शहरीकरण और सामाजिक परिवर्तनों ने फ्रांस के कलाकारों और बुद्धिजीवियों में सामाजिक अलगाव की भावना पैदा की। प्रतीकवादी कवि, जैसे- शार्ल बॉदलेयर ने इस अलगाव को अपनी कविताओं में प्रतीकात्मक रूप से अभिव्यक्त किया, जिसका उदाहरण- उनकी कविता 'L'ALBATROS' में देखा जा सकता है।

महिलाओं की स्थिति: 19वीं सदी के अंत में महिलाओं की सामाजिक भूमिका पर अभिनव पहल शुरू हुई। प्रतीकवादी कविताओं में स्त्री को अधिकतर सौंदर्य, रहस्य अथवा प्रलोभन के 'प्रतीक' स्वरूप में चित्रित किया गया है।

सांस्कृतिक संदर्भ: प्रतीकवादी काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि फ्रांसीसी कला, संगीत और साहित्य के परस्पर प्रभावों से निर्मित हुई। ऐसा दृष्टिगत होता है कि फ्रांस के सांस्कृतिक परिवेश ने प्रतीकवाद को एक बहुआयामी और सौंदर्यात्मक स्वरूप प्रदान किया। प्रतीकवादी काव्यधारा की पृष्ठभूमि से संबद्ध प्रमुख सांस्कृतिक कारक निम्नांकित हैं:

संगीत का प्रभाव: रिचर्ड वैगनर की संगीतमय रचनाओं ने प्रतीकवादी कवियों को गहरे तौर पर प्रभावित किया। वैगनर के संगीत में भावनात्मक गहनता और रहस्यमयता ने प्रतीकवादी कवियों को काव्य में संगीतमयता और प्रतीकात्मकता अपनाने हेतु प्रेरित किया। वर्लेन की 'L'Art Poétique' में संगीत को काव्य का आधार माना गया है।

चित्रकला और कला: प्री-राफेलाइट और इम्प्रेशनिस्ट चित्रकला ने प्रतीकवादी कवियों को सौंदर्य और स्वप्निलता के संश्लिष्ट स्वरूप को स्वतंत्र होकर अभिग्रहित करने की काव्यात्मक प्रेरणा दी। गुस्ताव मोरो, रेनर, वान गॉग और ओदिलोन रेदों जैसे महान चित्रकारों का रहस्यमय और प्रतीकात्मक चित्र प्रतीकवादी कवियों को खूब प्रेरित किया।

रहस्यवाद और थियोसोफी: 19वीं सदी के अंत में थियोसोफी और पूर्वी दर्शन (जैसे बौद्ध दर्शन और हिंदू विचार) ने इन बुद्धिजीवियों को अपनी ओर आकर्षित किया। युगीन संवाहकों ने इन विचारों को प्रतीक-बद्ध करने प्रयास किया।

साहित्यिक मंच: पेरिस की साहित्यिक गोष्ठियाँ (स्तेफां मालार्मे की बहुचर्चित 'मंगलवारी साहित्यिक गोष्ठी') और कैफे (जैसे- Café de Flore) प्रतीकवादी कवियों के लिए विचार-विमर्श और रचनात्मकता के भी प्रमुख केंद्र थे। 'La Revue Blanche' और 'Mercure de France' जैसी अनेक पत्रिकाओं, 'Le Figaro (1826)' जैसे फ्रांस के दैनिक समाचारपत्रों का भी इन प्रतीकवादी विचार सरणियों को अग्रेषित और प्रतिष्ठित करने में सहायनीय योगदान रहा।

दार्शनिक संदर्भ: प्रतीकवादी काव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि 19वीं सदी के बौद्धिक विचारों से प्रभावित थी। प्रकारांतर से ऐसा दृष्टिगत होता है कि इन दार्शनिक विचारों ने फ्रांसीसी काव्य आंदोलन 'प्रतीकवाद' को एक चिंतनशील और आध्यात्मिक आधार प्रदान किया। प्रतीकवादी काव्य की पृष्ठभूमि से संबद्ध प्रमुख दार्शनिक कारक निम्नांकित हैं-

शोपेनहावर का प्रभाव: आर्थर शोपेनहावर के दर्शन ने विश्व को 'इच्छा और माया' के रूप में चित्रित किया, जिससे प्रतीकवादी काव्यधारा के कविगण बहुत आकर्षित हुए। 'The World as Will and Representation' नामक उनकी विश्व प्रसिद्ध कृति ने प्रतीकवादी कवियों को 'व्यक्तिगत चेतना और सौंदर्य के अन्वेषण' हेतु प्रेरित किया।

नीत्शे और जीवन दर्शन: फ्रेडरिक नीत्शे के जीवन दर्शन रूपी विचार, विशेष रूप से उनकी कृति 'Thus Spoke Zarathustra' ने प्रतीकवादी युवा कवियों को 'व्यैयक्तिक स्वतंत्रता और रहस्यमयता' की खोज के लिए प्रेरित किया।

रहस्यवाद और आदर्शवाद: प्रतीकवादी कवि आदर्शवादी दर्शन से भी अंशतः प्रभावित थे। ये काव्यधारा संपूर्ण विश्व को एक आध्यात्मिक सत्ता के रूप में देखता था। यह विचार प्रतीकवादी काव्य के द्वितीय प्रस्तोता माने जाने वाले 'स्तेफां मालार्मे' के काव्य में स्पष्ट रूप से लक्षित होता है, जो कि विश्व के रहस्यों को प्रतीकों के माध्यम से खोजती है।

काव्य और सत्य: उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध, फ्रांस के अधिकांश प्रतीकवादी कवियों का मानना था कि सत्य को प्रत्यक्ष रूप से व्यक्त नहीं किया जा सकता। प्रतीक उनके लिए जीवनातीत सत्य और अनुभव को काव्य में अभिव्यक्त करने हेतु प्रखर साहित्यिक माध्यम थे, जैसा कि स्तेफां मालार्मे की बहुचर्चित कविता 'L'Azur' में देखा जा सकता है।

साहित्यिक संदर्भ: प्रतीकवाद काव्यधारा की साहित्यिक पृष्ठभूमि फ्रांसीसी साहित्य की पुरातन और समकालीन काव्यधाराओं से अत्यंत गहरे तौर पर प्रभावित थी। इस वैश्विक काव्यांदोलन के अनुशीलनोपरांत ऐसा दृष्टिगोचर होता है कि इस साहित्यिक परिवेश ने प्रतीकवादी काव्यधारा को सर्वथा अधुनातन शिल्प और एक नवीन साहित्यिक दृष्टिकोण प्रदान किया। फ्रांसीसी समालोचक ALEXANDRE MICHA ने ठीक ही कहा था- 'मुक्त छंद' वास्तव में प्रतीकवादी पीढ़ी की अभूतपूर्व विजय है। इस धारा के सर्वाधिक युवा कवि RIMBAUD ने सन् 1873 में पहला 'मुक्तछंद' काव्य लिखकर फ्रांसीसी साहित्य में धूम मचा दी थी (जिसे पूर्व के पृष्ठों में वर्णित किया जा चुका है)। उपरोक्त सभी कारणों के अलावा 'प्रतीकवादी काव्य की पृष्ठभूमि' में निम्नलिखित साहित्यिक कारक भी प्रमुख रहे हैं-

रोमांटिक काव्य का प्रभाव: विक्टर ह्यूगो, अल्फोंस मारी लुई लामार्टिन और जेर्गार्ड दे नर्वाल जैसे रोमांटिक कवियों की नितांत व्यक्तिवादी भावनाएँ और स्वतंत्र कल्पनाशीलता की काव्यात्मक अभिव्यंजना प्रतीकवाद काव्यधारा के पृष्ठभूमि की नींव बनीं। LAMARTINE की कविता 'LE LAC (सन् 1818)' ने साहित्य की सौंदर्यवादी काव्यधारा को उच्च सोपान पर प्रतिष्ठित कर दिया था। 'EMMANUEL ET BENOÎT LAUDIER' यह उल्लेखित करते हैं:

« Un grand jeune homme pâle et mélancolique s'avance dans le siècle avec pour seuls modèles ses illustres als Voltaire et le vicomte de Parny. D'une oisiveté apparente es parce qu'il se décide à ne rien faire de sa vie, il choisit la vocation littéraire. Son nom Alphonse de Lamartine. »¹⁰

फ्रांसीसी विद्वानद्वय की उपरोक्त पंक्तियों का हिंदी अनुवाद है- 'एक लंबा, पीतवर्णा उदास युवक सदी में आगे बढ़ता है जिसके रोल मॉडल केवल उसके महान बुजुर्ग वॉल्टेयर और विस्काउंट दे पार्नी हैं। एक स्पष्ट जीवंतता के साथ, क्योंकि वह अपने जीवन में कुछ भी नहीं करने का फैसला करता है और अंततः वह एक साहित्यिक व्यवसाय का चुनाव करता है। उसका नाम- अल्फोंस मारी दे लामार्टिन है।'

यथार्थवाद और पारनासियन काव्य की सीमाएँ: यथार्थवादी लेखकों जैसे- गुस्ताव फ्लेबेर और पारनासियन कवियों जैसे- लकौत दे लिस्ल की रचनाएँ तकनीकी रूप से भले उत्कृष्ट थीं परंतु उसमें भावनात्मक गहराई की कमी थी। प्रतीकवादी काव्यधारा के कवियों ने काव्य की इस कमी को संश्लिष्ट प्रतीकों और रहस्यमयता के साथ परिपूरित किया।

बौदलेयर की अग्रणी भूमिका: कवि कृत शापित पुष्प (Les Fleurs du Mal, सन् 1857) ने प्रतीकवादी काव्य की शानदार शुरुआत की। इनके काव्य सौंदर्य, दुःख, शापित और मनुष्य जीवन की आध्यात्मिकता को प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत करती हैं, जो कि प्रतीकवाद काव्यधारा की पृष्ठभूमि के लिए नितांत आवश्यक और एक मजबूत आधार बनीं।

इस काव्यधारा पर अंतरराष्ट्रीय साहित्यिक प्रभाव देखा जाय तो चर्चित अमेरिकी कवि एडगर एलन पो की रहस्यमय और प्रतीकात्मक साहित्यिक अवदानों ने बौदलेयर, मालार्मे, वर्लेन, आर्तच्यूर रिंबो को बहुत प्रभावित किया। इसकी पृष्ठभूमि प्रतीकवाद काव्य आंदोलन की ताकत और सीमाओं को दर्शाती है। ऐतिहासिक संकटों ने इसे एक प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति का रूप दिया, जबकि सांस्कृतिक-दार्शनिक प्रभावों ने इसे सौंदर्यात्मक और चिंतनशील बनाया।

प्रतीकवादी काव्य की पृष्ठभूमि के संदर्भ में सूक्ष्मतापूर्वक अनुशीलन करने के उपरांत दृष्टिगत होता है कि व्यैयक्तिकता और रहस्यमयता प्रतीकवाद काव्यधारा की सबसे बड़ी शक्ति थी, जिसने इसे फ्रांस सहित संपूर्ण वैश्विक साहित्य जगत में एक कालजयी आंदोलन के रूप में प्रतिष्ठित किया। प्रतीकवादी काव्य की पृष्ठभूमि में अनेक युगीन कारकों ने प्रतीकवाद काव्यधारा को एक ऐसी समुन्नत और समृद्ध कला का व्यापक स्वरूप दिया, जिससे वह अपने राष्ट्र की साहित्यिक-सांस्कृतिक व भौगोलिक सीमाओं को पार कर अखिल विश्व साहित्य को आलोकित करता हुआ अद्यतन प्रासंगिक है।

निष्कर्ष:

फ्रांसीसी साहित्य में 19वीं शती का उत्तरार्ध स्वर्णाक्षरों में अंकित है। प्रतीकवादी काव्य-आंदोलन के अंतर्गत परिगणित प्रतीकवादी काव्य की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक और साहित्यिक कारकों का एक समन्वित परिणाम था। औद्योगीकरण, वैज्ञानिकता और संक्रमित सामाजिक परिस्थितियों ने प्रतीकवादी कवियों को व्यक्तिगत और आध्यात्मिक अन्वेषण करने के लिए प्रेरणा का अक्षय स्रोत बना जबकि संगीत, चित्रकला और दर्शन ने इसे सौंदर्यात्मक और चिंतनशील बनाया। रोमांटिक काव्य और यथार्थवाद की सीमाओं ने प्रतीकवादी कवियों को एक नया शिल्प अपनाने के लिए प्रेरित किया। शार्ल पियरे बौदलेयर, स्तेफ़ाँ मालार्मे, पॉल वर्लेन और रिंबो सदृश अन्य युगीन कवियों ने इस पृष्ठभूमि का अधिकाधिक उपयोग कर प्रतीकवादी काव्य को एक क्रांतिकारी काव्य आंदोलन बनाया। इस शोध आलेख में वर्णित प्रतीकवाद काव्यधारा की पृष्ठभूमि न केवल प्रतीकवादी काव्य के उद्भव से परिचय करवाती है अपितु प्रतीकवादी काव्य में सन्निहित सौंदर्यात्मक गहराई एवं साहित्यिक महत्व को भी स्पष्ट रूप से रेखांकित करती है।

संदर्भ-

- ¹ अग्रवाल, डॉ. पद्मा. (1963). *प्रतीकवाद*. वाराणसी : मनोविज्ञान प्रकाशन. पृ. 102
- ² उपाध्याय, डॉ. करुणाशंकर. (2016). *पाश्चात्य काव्य चिंतन*. नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन. पृ. 121
- ³ देवी, मनोरमा. (2008). *शमशेर बहादुर सिंह के काव्य में बिंब एवं प्रतीक*. अलीगढ़ : अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय. पृ. 73
- ⁴ देवी, मनोरमा. (2008). *शमशेर बहादुर सिंह के काव्य में बिंब एवं प्रतीक*. अलीगढ़ : अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय. पृ. 73
- ⁵ Guy, Michaud. (1947). *Message poétique du symbolisme*. Paris: Librairie Nizet. p. 10
- ⁶ Symons, Arthur. (2006). *The symbolist movement in literature*. New Delhi: A.B.S. Publishers & Distributors. p. 3
- ⁷ Guy Michaud. (1947). *Message poétique du symbolisme*. Paris: Librairie Nizet. P. Page De Couverture
- ⁸ Micha, Alexandre. (1943). *Verlaine et les poètes symbolistes*. Paris: Librairie Larousse. p. 10
- ⁹ Fowlie, Wallace. (1908). *Poem & symbol: a brief history of french symbolism*. America: The Pennsylvania State University Press. p. 13
- ¹⁰ Waresquiel, Emmanuel. (1997). *La poésie française*. Paris: Larousse Bordas. p. 73

अनसुने वीर : बांका के वे शहीद जिन्होंने स्वतंत्रता की लौ प्रज्वलित रखी

डॉ० संजीव कुमार रंजन*

sanjivkumarranjan1993@gmail.com

सारांश

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास केवल महात्मा गांधी, भगत सिंह, सुभाषचंद्र बोस और जवाहरलाल नेहरू जैसे राष्ट्रीय नेताओं तक सीमित नहीं था, बल्कि इसकी वास्तविक शक्ति उन हजारों गुमनाम और अल्पज्ञात सेनानियों में निहित थी जिन्होंने अपने प्राणों का बलिदान देकर स्वतंत्रता की ज्योति को जीवित रखा। बिहार का बांका जिला भी ऐसे अनेक वीर सेनानियों की कर्मभूमि रहा, जिन्होंने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध संघर्ष करते हुए असाधारण साहस और राष्ट्रभक्ति का परिचय दिया। 1940 के दशक में जब भारत छोड़ो आंदोलन ने पूरे देश में क्रांतिकारी चेतना उत्पन्न की, तब बांका क्षेत्र के युवाओं, किसानों और स्थानीय नेताओं ने भी सक्रिय भागीदारी निभाई। महेंद्र गोप, सतीश प्रसाद झा, शशि प्रसाद सिंह और भुवनेश्वर मिश्र जैसे सेनानियों ने अपने संघर्ष और बलिदान से स्वतंत्रता आंदोलन को नई ऊर्जा प्रदान की। इन क्रांतिकारियों ने कठिन भौगोलिक परिस्थितियों, ग्रामीण अंचलों और सीमित संसाधनों के बीच रहकर अंग्रेजी शासन के विरुद्ध प्रतिरोध को संगठित किया।

यह लेख बांका जिले के अल्पज्ञात स्वतंत्रता सेनानियों, उनके योगदान, संघर्ष, बलिदान तथा समकालीन संदर्भ में उनकी ऐतिहासिक विरासत का विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

मुख्य शब्द: बांका, स्वतंत्रता संग्राम, भारत छोड़ो आंदोलन, महेंद्र गोप, सतीश प्रसाद झा, शहीद, बिहार

प्रस्तावना

भारत का स्वतंत्रता संग्राम विश्व इतिहास के सबसे व्यापक जनआंदोलनों में से एक था। यह केवल राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने का संघर्ष नहीं था, बल्कि सामाजिक न्याय, आत्मसम्मान और राष्ट्रीय अस्मिता की रक्षा का आंदोलन भी था। इस संघर्ष में देश के छोटे-छोटे गाँवों और दूरस्थ क्षेत्रों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। बिहार का बांका जिला उन क्षेत्रों में प्रमुख था जहाँ सामान्य ग्रामीण जनता ने राष्ट्रीय आंदोलन को अपनी शक्ति और समर्थन प्रदान किया। बांका क्षेत्र की भौगोलिक परिस्थितियाँ—घने जंगल, पहाड़ी क्षेत्र और दूरस्थ गाँव—एक ओर जहाँ जनजीवन को कठिन बनाती थीं, वहीं दूसरी ओर क्रांतिकारियों को गुप्त संगठन और गतिविधियों के लिए सुरक्षित वातावरण भी प्रदान करती थीं। स्वतंत्रता सेनानी इन्हीं क्षेत्रों में गुप्त बैठकें आयोजित करते, संदेशों का आदान-प्रदान करते तथा ब्रिटिश शासन के विरुद्ध योजनाएँ तैयार करते थे।

1942 के भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान बांका के अनेक युवाओं ने अंग्रेजी शासन को खुली चुनौती दी। इन वीरों का बलिदान यह सिद्ध करता है कि स्वतंत्रता की लड़ाई केवल बड़े नेताओं की नहीं थी, बल्कि हजारों गुमनाम क्रांतिकारियों की सामूहिक तपस्या का परिणाम थी।

साहित्य समीक्षा

चंद्र, बिपन. (2009). *आधुनिक भारत का इतिहास*. नई दिल्ली: ओरिएंट ब्लैकस्वान। बिपन चंद्र ने भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन को जनसाधारण आधारित संघर्ष के रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने स्पष्ट किया कि ग्रामीण क्षेत्रों और स्थानीय नेतृत्व ने राष्ट्रीय आंदोलन को व्यापक जनसमर्थन प्रदान किया। उनके अनुसार छोटे जिलों के गुमनाम सेनानियों का योगदान स्वतंत्रता संग्राम की वास्तविक शक्ति था।

* पी०एच०डी०, (इतिहास), तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर- 812007

सरकार, सुमित. (2010). *मॉडर्न इंडिया: 1885-1947*. नई दिल्ली: मैकमिलन प्रकाशन। सुमित सरकार ने भारत छोड़ो आंदोलन को भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष का निर्णायक चरण बताया है। उन्होंने बिहार के युवाओं और विद्यार्थियों की सक्रिय भूमिका का उल्लेख करते हुए कहा कि स्थानीय स्तर पर संचालित आंदोलनों ने ब्रिटिश प्रशासन को गंभीर चुनौती दी।

दत्ता, के.के. (2005). *बिहार में स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास*. पटना: बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी। के.के. दत्ता ने बिहार के ग्रामीण जिलों में संचालित स्वतंत्रता आंदोलनों का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार बांका क्षेत्र क्रांतिकारी गतिविधियों और राष्ट्रवादी चेतना का महत्वपूर्ण केंद्र था।

हबीब, इरफान. (2011). *भारतीय आर्थिक इतिहास*. नई दिल्ली: तुलिका बुक्स। इरफान हबीब ने औपनिवेशिक शासन की आर्थिक नीतियों और ग्रामीण समाज पर उनके प्रभावों का विश्लेषण किया है। उन्होंने बताया कि आर्थिक शोषण और प्रशासनिक दमन ने ग्रामीण युवाओं को स्वतंत्रता आंदोलन की ओर प्रेरित किया।

सिंह, कुमार सुरेश. (2003). *भारत में जनजातीय आंदोलन*. नई दिल्ली: मनोहर प्रकाशन। कुमार सुरेश सिंह ने बिहार और झारखंड के ग्रामीण तथा जनजातीय क्षेत्रों में प्रतिरोध आंदोलनों की ऐतिहासिक भूमिका का अध्ययन किया है। उन्होंने स्थानीय स्तर की राष्ट्रीय चेतना को स्वतंत्रता संग्राम की महत्वपूर्ण शक्ति माना है।

बांका और क्रांतिकारी चेतना

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के दौरान बांका जिला क्रांतिकारी गतिविधियों और राष्ट्रवादी आंदोलनों का एक महत्वपूर्ण केंद्र बनकर उभरा। यद्यपि यह क्षेत्र भौगोलिक दृष्टि से ग्रामीण और अपेक्षाकृत दूरस्थ था, फिर भी यहाँ राष्ट्रीय चेतना का विकास अत्यंत तीव्र गति से हुआ। बांका के युवाओं, किसानों और स्थानीय नेताओं के भीतर देशभक्ति की भावना गहराई से विकसित हो चुकी थी। राष्ट्रीय आंदोलन की विचारधारा गाँव-गाँव तक पहुँच चुकी थी और लोगों में अंग्रेजी शासन के प्रति असंतोष लगातार बढ़ रहा था।

ग्रामीण क्षेत्रों में कांग्रेस कार्यकर्ताओं तथा स्थानीय राष्ट्रवादी नेताओं द्वारा व्यापक जनजागरण अभियान चलाए जाते थे। सभाओं, जुलूसों, प्रभात फेरियों और सार्वजनिक बैठकों के माध्यम से लोगों को स्वतंत्रता, स्वराज और राष्ट्रीय एकता का महत्व समझाया जाता था। खादी, स्वदेशी और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार जैसे कार्यक्रमों ने ग्रामीण समाज में राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति सक्रिय भागीदारी की भावना उत्पन्न की। विद्यार्थियों और युवाओं ने इन अभियानों में विशेष उत्साह के साथ भाग लिया और वे धीरे-धीरे आंदोलन की मुख्य शक्ति बन गए। ब्रिटिश शासन की दमनकारी नीतियों, अत्यधिक कर व्यवस्था, आर्थिक शोषण और प्रशासनिक अत्याचारों ने जनता के भीतर गहरा आक्रोश उत्पन्न कर दिया था। किसानों और मजदूरों की स्थिति लगातार खराब होती जा रही थी, जिसके कारण युवाओं में विद्रोह की भावना और अधिक प्रबल हो गई। अंग्रेजी शासन द्वारा आंदोलनकारियों की गिरफ्तारियाँ, लाठीचार्ज और गोलीबारी जैसी घटनाओं ने भी लोगों को संघर्ष के लिए प्रेरित किया। परिणामस्वरूप बांका क्षेत्र में क्रांतिकारी चेतना का तेजी से विस्तार हुआ।

कई क्रांतिकारी भूमिगत रहकर अंग्रेजी शासन के विरुद्ध योजनाएँ तैयार करते थे। बांका के जंगलों, पहाड़ी क्षेत्रों और दूरस्थ गाँवों का उपयोग गुप्त बैठकों तथा आंदोलन की रणनीति बनाने के लिए किया जाता था। इन स्थानों पर स्वतंत्रता सेनानी एकत्र होकर संदेशों का आदान-प्रदान करते, संगठन को मजबूत बनाते और ब्रिटिश प्रशासन के विरुद्ध कार्ययोजनाएँ तैयार करते थे। कठिन भौगोलिक परिस्थितियों के बावजूद इन क्रांतिकारियों ने अद्भुत साहस और संगठनात्मक क्षमता का परिचय दिया।

बांका की क्रांतिकारी चेतना केवल राजनीतिक आंदोलन तक सीमित नहीं थी, बल्कि यह सामाजिक और सांस्कृतिक जागरण का भी प्रतीक थी। यहाँ के लोगों ने यह सिद्ध कर दिया कि स्वतंत्रता का संघर्ष केवल बड़े शहरों का आंदोलन नहीं था, बल्कि भारत के गाँवों और सामान्य जनता की सामूहिक चेतना का परिणाम था। यही कारण है कि बांका जिला भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

महेन्द्र गोप : साहस और बलिदान का प्रतीक

महेन्द्र गोप बांका जिले के उन वीर सेनानियों में शामिल थे जिन्होंने स्वतंत्रता आंदोलन के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया। उनका जन्म 15 अगस्त 1912 को बांका के रामपुर गाँव में एक यादव परिवार में हुआ था। प्रारंभ से ही उनके भीतर राष्ट्रभक्ति और स्वतंत्रता के प्रति गहरी भावना थी।

भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान उन्होंने भूमिगत क्रांतिकारी गतिविधियों में सक्रिय भागीदारी निभाई। वे अंग्रेजी शासन के विरुद्ध जनसंगठन और गुप्त योजनाओं में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। ब्रिटिश प्रशासन ने उन्हें अत्यंत खतरनाक क्रांतिकारी माना। अंततः उन्हें गिरफ्तार कर भागलपुर कैप जेल में रखा गया और 1945 में फाँसी दे दी गई। महेंद्र गोप का बलिदान यह सिद्ध करता है कि स्वतंत्रता आंदोलन की ज्वाला को बनाए रखने में ग्रामीण युवाओं की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण थी।

सतीश प्रसाद झा : युवा शहादत का अमर अध्याय

खड़हरा गाँव के सतीश प्रसाद झा बिहार के उन अमर शहीदों में शामिल हैं जिन्होंने 11 अगस्त 1942 को पटना सचिवालय भवन पर तिरंगा फहराने का साहसिक प्रयास किया। वे एक छात्र थे और युवावस्था में ही राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ गए थे। जब अंग्रेज पुलिस ने आंदोलनकारियों पर गोलीबारी की, तब सतीश प्रसाद झा वीरतापूर्वक आगे बढ़ते रहे। गोली लगने से वे शहीद हो गए, किंतु उनका बलिदान बिहार के युवाओं के लिए प्रेरणा का स्रोत बन गया। उन्हें उस ऐतिहासिक दिन के सात अमर शहीदों में गिना जाता है। उनकी शहादत यह संदेश देती है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए युवाओं ने अपने जीवन की भी परवाह नहीं की।

शशि प्रसाद सिंह : संगठन और संघर्ष के सेनानी

बांका के कुसाहा क्षेत्र के शशि प्रसाद सिंह भागलपुर जिला कांग्रेस समिति के महासचिव थे। वे एक कुशल संगठक और राष्ट्रवादी नेता थे। उन्होंने भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान ग्रामीण जनता को संगठित करने तथा राष्ट्रीय चेतना फैलाने का महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने सभाओं, जुलूसों और जनसंपर्क अभियानों के माध्यम से लोगों को स्वतंत्रता आंदोलन से जोड़ा। ब्रिटिश शासन के विरुद्ध संघर्ष करते हुए उन्होंने अपना जीवन बलिदान कर दिया। उनका योगदान यह सिद्ध करता है कि स्वतंत्रता आंदोलन में संगठनात्मक नेतृत्व की भूमिका भी उतनी ही महत्वपूर्ण थी जितनी प्रत्यक्ष क्रांतिकारी गतिविधियों की।

भुवनेश्वर मिश्र और सशस्त्र प्रतिरोध

फागा गाँव के भुवनेश्वर मिश्र उन क्रांतिकारियों में थे जिन्होंने अंग्रेजी शासन के विरुद्ध सशस्त्र प्रतिरोध का मार्ग अपनाया। उन्होंने ब्रिटिश प्रशासन और दमनकारी नीतियों के विरुद्ध क्रांतिकारी गतिविधियों का नेतृत्व किया। उनकी गतिविधियों से चिंतित ब्रिटिश शासन ने उन्हें गिरफ्तार कर आजीवन कारावास की सजा सुनाई। भुवनेश्वर मिश्र का संघर्ष यह दर्शाता है कि बांका क्षेत्र में स्वतंत्रता आंदोलन केवल अहिंसात्मक आंदोलनों तक सीमित नहीं था, बल्कि यहाँ सशस्त्र प्रतिरोध की भावना भी प्रबल थी।

अन्य गुमनाम वीर सेनानी: बांका की अमर भूमि के अनदेखे शहीद

बांका जिला स्वतंत्रता संग्राम के दौरान न केवल सतीश प्रसाद झा, महेंद्र गोप और शशि प्रसाद सिंह जैसे प्रसिद्ध शहीदों के लिए जाना जाता है, बल्कि अनेक ऐसे वीरों ने भी इसमें भाग लिया जिनके नाम मुख्यधारा के इतिहास ग्रंथों में कम उल्लिखित हैं। इन गुमनाम सेनानियों ने कठिन परिस्थितियों, जंगलों, ग्रामीण इलाकों और पुलिस repression के बावजूद राष्ट्रीय आंदोलन को जीवित रखा।

आधार पंडित सिंह (आद्या प्रसाद सिंह)

बेलहर क्षेत्र के बंगामा गाँव के निवासी आद्या प्रसाद सिंह (पुत्र श्री सालिग्राम सिंह) 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन के सक्रिय योद्धा थे। 25 नवंबर 1942 को जब पुलिस ने उनके साथी आंदोलनकारी गिरिबर सिंह को गिरफ्तार कर लिया, तब आधार पंडित सिंह ने उन्हें छुड़ाने का साहसिक प्रयास किया। बेलहर पुलिस स्टेशन पर हुई पुलिस फायरिंग में वे शहीद हो गए। उनका बलिदान बेलहर-बांका क्षेत्र में आंदोलन को नई ऊर्जा प्रदान करने वाला था।

यमुना प्रसाद सिंह : यमुना प्रसाद सिंह बांका जिले के उन समर्पित कार्यकर्ताओं में से एक थे जिन्होंने Quit India Movement के दौरान गाँव-गाँव में जनजागरण, प्रचार और विरोध का नेतृत्व किया। उन्होंने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध संगठित प्रतिरोध में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। आंदोलन के दौरान उनकी सक्रियता के कारण वे ब्रिटिश पुलिस के निशाने पर रहे और अंततः अपने प्राणों का बलिदान दे दिया।

गुदर सिंह (बेलहर): बेलहर क्षेत्र के **गुदर सिंह** ने स्थानीय स्तर पर आंदोलन को मजबूत किया। उन्होंने ब्रिटिश नीतियों का विरोध करते हुए ग्रामीण युवाओं को संगठित किया। आंदोलन के दौरान हुए संघर्ष में उन्होंने वीरतापूर्वक भाग लिया और शहीद हुए। उनका योगदान बेलहर जैसे दुर्गम क्षेत्र में राष्ट्रभक्ति की चेतना जगाने में अहम रहा।

पशुपति सिंह (बसमत्ता-कटोरिया): बसमत्ता-कटोरिया क्षेत्र के **पशुपति सिंह** क्रांतिकारी गतिविधियों में सक्रिय थे। उन्होंने Quit India Movement के दौरान जन-आंदोलन को संगठित करने और ब्रिटिश ठेकेदारों तथा पुलिस के विरुद्ध प्रतिरोध करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। आंदोलन के दौरान वे शहीद हो गए।

इन वीरों का महत्व

ये गुमनाम वीर मुख्य रूप से ग्रामीण पृष्ठभूमि से थे। उन्होंने शहरों की बजाय जिले के दूर-दराज के गांवों, पहाड़ी इलाकों और जंगलों में आंदोलन को फैलाया। इनके त्याग ने सामान्य किसान, मजदूर और युवाओं में स्वतंत्रता की चेतना जगाई। इनकी बदौलत बांका क्षेत्र पूरे भागलपुर जिले (तत्कालीन) में आंदोलन का मजबूत केंद्र बना रहा।

सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभाव

बांका जिले के स्वतंत्रता सेनानियों के संघर्ष का प्रभाव केवल राजनीतिक आंदोलनों तक सीमित नहीं रहा, बल्कि इसने समाज और संस्कृति के विभिन्न आयामों को भी गहराई से प्रभावित किया। स्वतंत्रता आंदोलन ने ग्रामीण समाज में राजनीतिक जागरूकता को बढ़ाया तथा लोगों के भीतर राष्ट्रीय एकता और सामूहिक चेतना की भावना को मजबूत किया। पहले जहाँ सामान्य ग्रामीण जनता राजनीति और प्रशासनिक गतिविधियों से दूर रहती थी, वहीं स्वतंत्रता आंदोलन के प्रभाव से उनमें अपने अधिकारों, कर्तव्यों और राष्ट्रीय दायित्वों के प्रति नई समझ विकसित हुई।

स्वतंत्रता सेनानियों के त्याग और बलिदान ने ग्रामीण जनता में आत्मसम्मान और स्वाधीनता के प्रति नई चेतना उत्पन्न की। लोगों ने यह महसूस किया कि विदेशी शासन केवल राजनीतिक दासता ही नहीं, बल्कि सामाजिक और आर्थिक शोषण का भी प्रतीक है। परिणामस्वरूप समाज के विभिन्न वर्ग—किसान, मजदूर, विद्यार्थी और महिलाएँ—राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ने लगे। इससे समाज में समानता, सहयोग और सामूहिक संघर्ष की भावना को बल मिला। इन आंदोलनों का प्रभाव सामाजिक जीवन पर भी स्पष्ट रूप से दिखाई दिया। जातिगत भेदभाव और सामाजिक विभाजन की दीवारों को कमजोर करने में स्वतंत्रता आंदोलन ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। राष्ट्रीय एकता के उद्देश्य से विभिन्न समुदायों और वर्गों के लोग एक साथ आए। खादी पहनना, स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग करना तथा विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करना केवल राजनीतिक प्रतीक नहीं रहे, बल्कि सामाजिक चेतना और सांस्कृतिक स्वाभिमान के प्रतीक बन गए।

सांस्कृतिक स्तर पर भी स्वतंत्रता आंदोलन ने बांका के जनजीवन को गहराई से प्रभावित किया। राष्ट्रीय गीतों, लोकगीतों, लोककथाओं और जनसभाओं के माध्यम से स्वतंत्रता सेनानियों की वीरगाथाएँ लोगों तक पहुँचाई जाती थीं। गाँवों में आयोजित प्रभात फेरियों और सांस्कृतिक कार्यक्रमों में देशभक्ति के गीत गाए जाते थे, जिससे युवाओं और बच्चों में राष्ट्रप्रेम की भावना विकसित होती थी। आज भी स्थानीय लोकस्मृतियों, कथाओं और स्मृति समारोहों में इन वीरों के बलिदान को श्रद्धापूर्वक याद किया जाता है।

प्रतिवर्ष आयोजित होने वाले स्मृति कार्यक्रम और श्रद्धांजलि समारोह नई पीढ़ी को स्वतंत्रता सेनानियों के त्याग और संघर्ष से परिचित कराते हैं। ये आयोजन न केवल ऐतिहासिक स्मृतियों को जीवित रखते हैं, बल्कि समाज में राष्ट्रीय चेतना, सामाजिक उत्तरदायित्व और सांस्कृतिक गौरव की भावना को भी मजबूत करते हैं। इस प्रकार बांका के स्वतंत्रता सेनानियों का संघर्ष सामाजिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण का महत्वपूर्ण आधार सिद्ध हुआ।

समकालीन संदर्भ में प्रासंगिकता

आज के समय में भी बांका जिले के गुमनाम स्वतंत्रता सेनानियों का जीवन और संघर्ष नई पीढ़ी के लिए अत्यंत प्रेरणादायक है। इन वीरों ने कठिन परिस्थितियों, सीमित संसाधनों और ब्रिटिश शासन के कठोर दमन के बावजूद राष्ट्र की स्वतंत्रता के लिए अपने प्राणों का बलिदान दिया। उनका जीवन यह स्पष्ट संदेश देता है कि राष्ट्रनिर्माण केवल बड़े नेताओं या शहरी वर्ग के प्रयासों से संभव नहीं होता, बल्कि इसमें सामान्य नागरिकों, ग्रामीण समाज और युवाओं की सक्रिय भागीदारी भी उतनी ही महत्वपूर्ण होती है।

बांका के स्वतंत्रता सेनानियों का संघर्ष आज के समाज को यह सिखाता है कि राष्ट्रीय एकता, सामाजिक न्याय और लोकतांत्रिक मूल्यों की रक्षा के लिए सामूहिक चेतना और जनभागीदारी आवश्यक है। इन वीरों ने व्यक्तिगत हितों से ऊपर उठकर देशहित को सर्वोच्च स्थान दिया। वर्तमान समय में जब समाज विभिन्न सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक चुनौतियों का सामना कर रहा है, तब इन स्वतंत्रता सेनानियों के आदर्श युवाओं को जिम्मेदार नागरिक बनने और समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को समझने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। प्रतिवर्ष विभिन्न स्मृति समारोहों, श्रद्धांजलि सभाओं और स्थानीय आयोजनों के माध्यम से इन शहीदों को सम्मानपूर्वक याद किया जाता है। विद्यालयों, महाविद्यालयों तथा सामाजिक संस्थाओं द्वारा आयोजित कार्यक्रमों में उनके जीवन और बलिदान पर चर्चा की जाती है। इन आयोजनों के माध्यम से नई पीढ़ी को स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास तथा बांका जिले के योगदान से परिचित कराया जाता है।

यह परंपरा केवल ऐतिहासिक स्मृतियों को जीवित रखने का माध्यम नहीं है, बल्कि यह समाज में राष्ट्रप्रेम, सामाजिक उत्तरदायित्व और सांस्कृतिक गौरव की भावना को भी मजबूत करती है। राष्ट्रीय गीतों, प्रभात फेरियों, स्मारक कार्यक्रमों और लोकसांस्कृतिक आयोजनों के माध्यम से स्वतंत्रता सेनानियों की गाथाएँ आज भी जनमानस में जीवित हैं। इससे युवाओं के भीतर देशभक्ति, त्याग और सेवा की भावना का विकास होता है।

समकालीन संदर्भ में बांका के इन गुमनाम वीरों की विरासत यह भी स्मरण कराती है कि स्वतंत्रता केवल एक ऐतिहासिक उपलब्धि नहीं, बल्कि एक सतत जिम्मेदारी है। लोकतंत्र, सामाजिक समानता और राष्ट्रीय एकता की रक्षा के लिए प्रत्येक नागरिक को सक्रिय भूमिका निभानी चाहिए। इस प्रकार बांका के स्वतंत्रता सेनानियों का संघर्ष आज भी भारतीय समाज के लिए प्रेरणा, चेतना और राष्ट्रभक्ति का महत्वपूर्ण स्रोत बना हुआ है।

निष्कर्ष

बांका जिले के गुमनाम वीर सेनानियों ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में अत्यंत महत्वपूर्ण और अमूल्य योगदान दिया। यद्यपि राष्ट्रीय इतिहास में उनका उल्लेख अपेक्षाकृत कम मिलता है, फिर भी उनके त्याग, संघर्ष और बलिदान ने स्वतंत्रता आंदोलन को मजबूत आधार प्रदान किया। महेंद्र गोप, सतीश प्रसाद झा, शशि प्रसाद सिंह, भुवनेश्वर मिश्र तथा अन्य अनेक क्रांतिकारियों ने अपने अदम्य साहस, राष्ट्रभक्ति और संघर्षशीलता के माध्यम से ब्रिटिश शासन को चुनौती दी और स्वतंत्रता की लौ को निरंतर प्रज्वलित रखा।

इन सेनानियों का जीवन यह प्रमाणित करता है कि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम केवल बड़े राष्ट्रीय नेताओं या शहरी केंद्रों तक सीमित आंदोलन नहीं था, बल्कि इसकी वास्तविक शक्ति गाँवों, कस्बों और सामान्य जनता में निहित थी। बांका के ग्रामीण युवाओं और स्थानीय क्रांतिकारियों ने कठिन परिस्थितियों, सीमित संसाधनों और अंग्रेजी शासन के कठोर दमन के बावजूद स्वतंत्रता के लिए संघर्ष जारी रखा। उनका योगदान यह दर्शाता है कि स्वतंत्रता असंख्य गुमनाम लोगों की सामूहिक तपस्या, त्याग और बलिदान का परिणाम थी।

बांका जिले के इन वीर सेनानियों ने न केवल राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया, बल्कि उन्होंने समाज में आत्मसम्मान, राष्ट्रीय चेतना और सामाजिक एकता की भावना को भी मजबूत किया। उनके बलिदान ने आने वाली पीढ़ियों के लिए राष्ट्रभक्ति और कर्तव्यनिष्ठा का आदर्श प्रस्तुत किया। आज भी उनके संघर्ष की गाथाएँ स्थानीय स्मृतियों, लोककथाओं और स्मारक आयोजनों के माध्यम से जीवित हैं, जो समाज को अपने इतिहास और राष्ट्रीय विरासत से जोड़ती हैं।

अतः यह आवश्यक है कि बांका जिले के इन अल्पज्ञात स्वतंत्रता सेनानियों के योगदान को भारतीय इतिहास में उचित स्थान दिया जाए। विद्यालयों, विश्वविद्यालयों और शोध संस्थानों में उनके जीवन और संघर्ष का गंभीर अध्ययन किया जाना चाहिए, ताकि नई पीढ़ी उनके त्याग और आदर्शों से प्रेरणा प्राप्त कर सके। इन वीरों की स्मृति केवल अतीत की धरोहर नहीं है, बल्कि यह वर्तमान और भविष्य के भारत के लिए राष्ट्रप्रेम, सामाजिक उत्तरदायित्व और लोकतांत्रिक मूल्यों की प्रेरणादायी विरासत है।

संदर्भ :

- अग्रवाल, जे.सी. (2008). *आधुनिक भारत*. नई दिल्ली: एस. चंद प्रकाशन, पृ. 168–205.
- चंद्र, बिपन. (2009). *आधुनिक भारत का इतिहास*. नई दिल्ली: ओरिएंट ब्लैकस्वान, पृ. 142–178.
- चौधरी, राधाकृष्ण. (2007). *बिहार का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास*. पटना: बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पृ. 221–259.
- झा, नंदकिशोर. (2010). *ग्रामीण भारत और राष्ट्रीय चेतना*. पटना: साहित्य भवन, पृ. 166–198.
- झा, सीताराम. (2012). *बिहार के स्वतंत्रता सेनानी*. पटना: बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पृ. 52–89.
- ठाकुर, केदारनाथ. (2011). *बिहार का स्वतंत्रता संग्राम*. पटना: अनुपम प्रकाशन, पृ. 118–152.
- तिवारी, आर.के. (2013). *आधुनिक भारत का सामाजिक इतिहास*. इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन, पृ. 156–189.
- दत्ता, के.के. (2005). *बिहार में स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास*. पटना: बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पृ. 96–132.
- नौरोजी, दादाभाई. (1996). *भारत में गरीबी और अन-ब्रिटिश शासन*. नई दिल्ली: प्रकाशन विभाग, पृ. 84–116.
- पांडेय, गोविंद चंद्र. (2002). *भारतीय संस्कृति का विकास*. वाराणसी: चौखंबा प्रकाशन, पृ. 133–164.
- प्रसाद, ईश्वरी. (2004). *आधुनिक भारत का इतिहास*. इलाहाबाद: इंडियन प्रेस, पृ. 210–248.
- भारती, धर्मवीर. (2001). *भारतीय समाज और जनआंदोलन*. नई दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 91–124.
- महतो, बी.पी. (2015). *जनजातीय चेतना और स्वतंत्रता आंदोलन*. रांची: प्रभात प्रकाशन, पृ. 63–98.
- मिश्र, विद्यानीवास. (2006). *भारतीय समाज और संस्कृति*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, पृ. 182–214.
- यादव, रामनाथ. (2014). *औपनिवेशिक भारत और जनप्रतिरोध*. पटना: बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पृ. 74–110.
- राय, रामेश्वर. (2013). *भारत छोड़ो आंदोलन और बिहार*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, पृ. 94–137.
- वर्मा, ओमप्रकाश. (2010). *भारतीय जनजातियों का इतिहास*. जयपुर: रावत प्रकाशन, पृ. 118–149.
- शर्मा, रामविलास. (2007). *भारत में अंग्रेजी राज और जनआंदोलन*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, पृ. 201–236.
- शुक्ल, रामचंद्र. (2005). *हिंदी साहित्य का इतिहास*. नई दिल्ली: लोकभारती प्रकाशन, पृ. 298–332.
- सरकार, सुमित. (2010). *मॉडर्न इंडिया: 1885–1947*. नई दिल्ली: मैकमिलन प्रकाशन, पृ. 201–245.
- सिंह, कुमार सुरेश. (2003). *भारत में जनजातीय आंदोलन*. नई दिल्ली: मनोहर प्रकाशन, पृ. 144–176.
- सिंह, नामवर. (2008). *इतिहास और आलोचना*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, पृ. 126–158.
- सिन्हा, बी.एन. (2009). *भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन और बिहार*. पटना: जानकी प्रकाशन, पृ. 174–209.
- हबीब, इरफान. (2011). *भारतीय आर्थिक इतिहास*. नई दिल्ली: तुलिका बुक्स, पृ. 188–224.

संथाल विद्रोह : आक्रोश की जड़ें और उसके परिणाम

डॉ० राजेंद्र कुमार*

raajjj9123@gmail.com

सारांश

संथाल विद्रोह अथवा संथाल हूल भारतीय इतिहास के सबसे महत्वपूर्ण जनजातीय आंदोलनों में से एक था, जो 1855-56 में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध फूटा। यह आंदोलन अचानक उत्पन्न नहीं हुआ था, बल्कि इसके पीछे दीर्घकालिक आर्थिक, सामाजिक, प्रशासनिक और सांस्कृतिक शोषण की गहरी पृष्ठभूमि थी। ब्रिटिश शासन द्वारा लागू स्थायी बंदोबस्त व्यवस्था, महाजनी शोषण, जमींदारी अत्याचार तथा भूमि अधिकारों के हनन ने संथाल समुदाय को गंभीर संकट में डाल दिया।

संथाल समाज की पारंपरिक सामुदायिक भूमि व्यवस्था को औपनिवेशिक कानूनों ने नष्ट कर दिया। महाजनों द्वारा अत्यधिक ब्याज दरों पर ऋण दिया जाता था और ऋण न चुका पाने की स्थिति में भूमि जब्त कर ली जाती थी। पुलिस और न्यायालय भी प्रायः जमींदारों और साहूकारों के पक्ष में कार्य करते थे। आर्थिक शोषण के साथ-साथ सामाजिक अपमान और सांस्कृतिक हस्तक्षेप ने संथालों के असंतोष को और अधिक बढ़ाया। सिद्धू और कान्हू मुर्मू के नेतृत्व में यह आंदोलन केवल आर्थिक विद्रोह नहीं रहा, बल्कि यह आत्मसम्मान, सांस्कृतिक अस्मिता और स्वशासन की स्थापना का संघर्ष बन गया। यद्यपि ब्रिटिश शासन ने इसे कठोर दमन द्वारा दबा दिया, फिर भी इस विद्रोह ने औपनिवेशिक शासन की कमजोरियों को उजागर किया और आगे चलकर जनजातीय तथा राष्ट्रीय आंदोलनों को प्रेरणा प्रदान की।

यह लेख संथाल विद्रोह के प्रमुख कारणों, उसके सामाजिक-आर्थिक प्रभावों, प्रशासनिक परिवर्तनों तथा भारतीय इतिहास में उसकी ऐतिहासिक प्रासंगिकता का विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

मुख्य शब्द:

संथाल विद्रोह, संथाल हूल, औपनिवेशिक शोषण, जमींदारी व्यवस्था, जनजातीय आंदोलन, सिद्धू-कान्हू, भूमि अधिकार।

प्रस्तावना

भारत के औपनिवेशिक इतिहास में जनजातीय आंदोलनों का विशेष महत्व रहा है। जनजातीय समुदायों ने केवल आर्थिक अधिकारों की रक्षा के लिए ही नहीं, बल्कि अपनी संस्कृति, पहचान और अस्तित्व की सुरक्षा के लिए भी संघर्ष किया। संथाल विद्रोह इसी प्रकार का एक महत्वपूर्ण आंदोलन था, जिसने ब्रिटिश शासन की शोषणकारी नीतियों को चुनौती दी। उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटिश शासन द्वारा लागू आर्थिक नीतियों ने भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों को प्रभावित किया, किंतु जनजातीय समुदायों पर इसका प्रभाव सबसे अधिक विनाशकारी था। संथाल समुदाय, जो सामुदायिक भूमि व्यवस्था और प्रकृति आधारित जीवन शैली पर निर्भर था, औपनिवेशिक भूमि कानूनों तथा जमींदारी व्यवस्था के कारण अपनी पारंपरिक व्यवस्था से वंचित होने लगा।

1793 की स्थायी बंदोबस्त व्यवस्था ने भूमि को निजी संपत्ति में परिवर्तित कर दिया। इससे जमींदारों और महाजनों को अत्यधिक शक्ति प्राप्त हुई। संथालों की भूमि धीरे-धीरे बाहरी लोगों के नियंत्रण में जाने लगी। साहूकार अत्यधिक ब्याज वसूलते थे तथा पुलिस और प्रशासन शोषकों के पक्ष में कार्य करते थे। परिणामस्वरूप संथाल समुदाय आर्थिक दासता, सामाजिक अपमान और सांस्कृतिक संकट का सामना करने लगा।

* पी-एच० डी०, (इतिहास), तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर- 812007

इन्हीं परिस्थितियों ने संथाल समाज में विद्रोह की भावना को जन्म दिया। सिद्धू और कान्हू मुर्मू ने इस असंतोष को संगठित रूप प्रदान किया और 1855 में संथाल हूल का आरंभ हुआ। यह आंदोलन केवल ब्रिटिश शासन के विरुद्ध संघर्ष नहीं था, बल्कि यह जनजातीय स्वाभिमान और आत्मनिर्णय की मांग का प्रतीक भी था।

साहित्य समीक्षा:

चंद्र, बिपन. (2009). *आधुनिक भारत का इतिहास*. नई दिल्ली: ओरिएंट ब्लैकस्वान। बिपन चंद्र ने संथाल विद्रोह को ब्रिटिश औपनिवेशिक आर्थिक नीतियों और भूमि व्यवस्था के विरुद्ध जनजातीय प्रतिरोध के रूप में प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार महाजनी शोषण, अत्यधिक लगान तथा भूमि अधिकारों के हनन ने संथालों को आर्थिक संकट, सामाजिक असुरक्षा और व्यापक असंतोष की स्थिति में पहुँचा दिया, जिससे विद्रोह उत्पन्न हुआ।

दत्त, आर. सी. (2001). *भारत का आर्थिक इतिहास*. लंदन: रूटलेज प्रकाशन। आर.सी. दत्त ने ब्रिटिश शासन की आर्थिक नीतियों का विश्लेषण करते हुए बताया कि अत्यधिक कर व्यवस्था, भूमि संबंधी कानूनों और साहूकारी प्रथा ने भारतीय कृषकों तथा जनजातीय समुदायों की स्थिति को अत्यंत दयनीय बना दिया। उन्होंने संथाल विद्रोह को औपनिवेशिक आर्थिक शोषण और अन्यायपूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था का परिणाम माना है।

सरकार, सुमित. (2010). *आधुनिक भारत*. नई दिल्ली: मैकमिलन प्रकाशन। सुमित सरकार के अनुसार संथाल हूल केवल आर्थिक संघर्ष नहीं था, बल्कि यह सांस्कृतिक अस्मिता और जनजातीय पहचान की रक्षा का महत्वपूर्ण आंदोलन भी था। उन्होंने बताया कि बाहरी हस्तक्षेप, सामाजिक अपमान और सांस्कृतिक संकट ने संथाल समुदाय को संगठित प्रतिरोध के लिए प्रेरित किया तथा आंदोलन को व्यापक स्वरूप प्रदान किया।

हबीब, इरफान. (2011). *भारतीय आर्थिक इतिहास*. नई दिल्ली: तुलिका बुक्स। इरफान हबीब ने जनजातीय क्षेत्रों में औपनिवेशिक हस्तक्षेप के सामाजिक और आर्थिक प्रभावों का विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार ब्रिटिश राजस्व नीतियों, जमींदारी व्यवस्था और साहूकारी प्रथा ने संथाल समाज की पारंपरिक सामुदायिक संरचना को कमजोर कर दिया, जिससे आर्थिक संकट और सामाजिक असंतोष लगातार बढ़ता गया।

दत्ता, के. के. (2005). *बिहार में स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास*. पटना: बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी। के.के. दत्ता ने संथाल विद्रोह को बिहार और झारखंड क्षेत्र के प्रारंभिक और महत्वपूर्ण जनआंदोलनों में स्थान दिया है। उन्होंने सिद्धू और कान्हू मुर्मू को जनजातीय चेतना, स्वाभिमान और औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध संघर्ष के महान प्रतीकों के रूप में प्रस्तुत करते हुए उनके नेतृत्व की ऐतिहासिक भूमिका को रेखांकित किया है।

संथाल विद्रोह के प्रमुख कारण

1. स्थायी बंदोबस्त और भूमि व्यवस्था

1793 की स्थायी बंदोबस्त व्यवस्था ब्रिटिश शासन की महत्वपूर्ण आर्थिक नीतियों में से एक थी, जिसने भारतीय भूमि व्यवस्था को पूरी तरह बदल दिया। इस नीति के अंतर्गत भूमि को निजी संपत्ति का स्वरूप दिया गया तथा जमींदारों को व्यापक अधिकार प्रदान किए गए। संथाल समुदाय की पारंपरिक सामुदायिक भूमि व्यवस्था इस परिवर्तन से गंभीर रूप से प्रभावित हुई। पहले संथाल समुदाय सामूहिक रूप से भूमि का उपयोग करता था, किंतु नई व्यवस्था में बाहरी जमींदार और साहूकार भूमि पर अधिकार स्थापित करने लगे। धीरे-धीरे संथालों की कृषि भूमि उनके नियंत्रण से बाहर होने लगी। इससे उनकी आर्थिक सुरक्षा, सामाजिक स्थिरता और पारंपरिक जीवन शैली पर गहरा प्रभाव पड़ा तथा समुदाय में असंतोष की भावना तीव्र हो गई।

2. महाजनी शोषण

महाजन और साहूकार संथाल समाज के आर्थिक शोषण के प्रमुख साधन बन गए थे। वे संथालों को अत्यधिक ब्याज दरों पर ऋण देते थे, जो कई बार मूल धन से कई गुना अधिक हो जाता था। अशिक्षा और कानूनी जानकारी के अभाव में संथाल लोग इन शोषणकारी व्यवस्थाओं को समझ नहीं पाते थे। ऋण चुकाने में असमर्थ होने पर उनकी भूमि, पशुधन और

अन्य संपत्तियाँ जब्त कर ली जाती थीं। अनेक संथाल परिवार ऋणग्रस्त होकर बंधुआ मजदूरी करने के लिए मजबूर हो गए। इस महाजनी व्यवस्था ने संथालों को आर्थिक दासता और सामाजिक अपमान की स्थिति में पहुँचा दिया, जिससे उनके भीतर विद्रोह की भावना उत्पन्न हुई।

3. जमींदारी अत्याचार

ब्रिटिश शासन द्वारा स्थापित जमींदारी व्यवस्था संथाल समुदाय के लिए अत्यंत दमनकारी सिद्ध हुई। जमींदार संथाल किसानों से अत्यधिक लगान वसूलते थे और कई बार मनमाने कर भी लगाते थे। कर न चुका पाने की स्थिति में किसानों को प्रताड़ित किया जाता था तथा उनकी भूमि छीन ली जाती थी। इसके अतिरिक्त संथालों को बेगार करने के लिए भी मजबूर किया जाता था। जमींदारों के कर्मचारी किसानों के साथ कठोर और अपमानजनक व्यवहार करते थे। लगातार आर्थिक शोषण और सामाजिक उत्पीड़न ने संथाल समाज में गहरे असंतोष को जन्म दिया। यही असंतोष आगे चलकर व्यापक विद्रोह का आधार बना।

4. प्रशासनिक अन्याय

ब्रिटिश प्रशासनिक व्यवस्था संथालों के प्रति पक्षपातपूर्ण और अन्यायपूर्ण थी। पुलिस, न्यायालय और राजस्व अधिकारी प्रायः महाजनों तथा जमींदारों के पक्ष में कार्य करते थे। संथालों की शिकायतों को गंभीरता से नहीं लिया जाता था और उन्हें न्याय प्राप्त करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। न्यायालयों की प्रक्रियाएँ और भाषा संथालों के लिए अपरिचित थीं, जिसका लाभ बाहरी शोषक वर्ग उठाता था। पुलिस अधिकारी भी कई बार अवैध वसूली और उत्पीड़न में शामिल रहते थे। इस प्रकार प्रशासनिक भ्रष्टाचार और न्यायिक अन्याय ने संथाल समुदाय का ब्रिटिश शासन से विश्वास पूरी तरह समाप्त कर दिया।

5. सामाजिक और सांस्कृतिक अपमान

संथाल समुदाय को बाहरी समाज द्वारा अक्सर “पिछड़ा” और “असभ्य” समझा जाता था। इस प्रकार का सामाजिक दृष्टिकोण उनके आत्मसम्मान और सांस्कृतिक पहचान के लिए अपमानजनक था। बाहरी लोगों का हस्तक्षेप केवल आर्थिक क्षेत्र तक सीमित नहीं था, बल्कि उसने संथालों की सामाजिक परंपराओं, धार्मिक मान्यताओं और सामुदायिक जीवन को भी प्रभावित किया। संथाल समाज अपनी सांस्कृतिक अस्मिता और पारंपरिक रीति-रिवाजों के प्रति अत्यंत संवेदनशील था। जब उनकी संस्कृति और सामाजिक व्यवस्था पर संकट उत्पन्न हुआ, तब उनके भीतर प्रतिरोध की भावना और अधिक प्रबल हो गई। इस प्रकार सांस्कृतिक हस्तक्षेप भी विद्रोह का एक महत्वपूर्ण कारण बना।

6. रेलवे और नील की खेती का प्रभाव

ब्रिटिश शासन के दौरान रेलवे निर्माण और नील की खेती के विस्तार ने संथाल क्षेत्रों पर अतिरिक्त दबाव उत्पन्न किया। रेलवे परियोजनाओं तथा व्यावसायिक कृषि के लिए बड़ी मात्रा में भूमि की आवश्यकता थी, जिसके कारण जनजातीय क्षेत्रों में बाहरी हस्तक्षेप बढ़ा। नील की खेती और अन्य औपनिवेशिक आर्थिक गतिविधियों के कारण संथालों की कृषि योग्य भूमि कम होती गई। इससे उनके पारंपरिक जीवन और आजीविका पर गंभीर प्रभाव पड़ा। भूमि से विस्थापन और संसाधनों पर नियंत्रण समाप्त होने के कारण संथाल समाज में असुरक्षा, गरीबी और असंतोष की भावना बढ़ती गई।

7. धार्मिक और सांस्कृतिक चेतना

संथाल विद्रोह को धार्मिक और सांस्कृतिक चेतना ने भी मजबूत आधार प्रदान किया। सिद्धू और कान्हू मुर्मू ने घोषणा की कि उन्हें “ठाकुर बोंगा” से दैवी आदेश प्राप्त हुआ है कि वे अपने समाज को अन्याय और शोषण से मुक्त करें। इस धार्मिक विश्वास ने संथाल समुदाय को भावनात्मक और आध्यात्मिक रूप से एकजुट किया। लोगों ने इस संघर्ष को केवल राजनीतिक विद्रोह नहीं, बल्कि धर्म और संस्कृति की रक्षा के पवित्र आंदोलन के रूप में देखा। धार्मिक आस्था और सामुदायिक एकता ने विद्रोह को व्यापक समर्थन प्रदान किया तथा संथाल समाज में संघर्ष और बलिदान की भावना को मजबूत किया।

संथाल विद्रोह के परिणाम

1. ब्रिटिश शासन की कमजोरी उजागर हुई

संथाल हूल ने ब्रिटिश शासन की प्रशासनिक और सैन्य कमजोरियों को स्पष्ट रूप से उजागर कर दिया। अंग्रेजी शासन यह मानकर चल रहा था कि जनजातीय समुदाय संगठित होकर बड़े स्तर पर प्रतिरोध करने में सक्षम नहीं हैं, किंतु संथाल विद्रोह ने इस धारणा को गलत सिद्ध कर दिया। हजारों संथालों द्वारा संगठित रूप से ब्रिटिश सत्ता, पुलिस चौकियों और जमींदारों के विरुद्ध संघर्ष ने यह प्रमाणित किया कि औपनिवेशिक शासन जनसामान्य के असंतोष से पूरी तरह सुरक्षित नहीं था। इस आंदोलन ने ब्रिटिश प्रशासन को यह एहसास कराया कि यदि शोषण और अत्याचार बढ़ते रहे, तो अन्य क्षेत्रों में भी व्यापक विद्रोह उत्पन्न हो सकते हैं।

2. संथाल परगना जिले की स्थापना

संथाल विद्रोह के बाद ब्रिटिश शासन ने प्रशासनिक सुधारों की आवश्यकता महसूस की। इसी उद्देश्य से संथाल परगना जिले की स्थापना की गई तथा इसे विशेष प्रशासनिक क्षेत्र का स्वरूप प्रदान किया गया। इस व्यवस्था का उद्देश्य संथाल समुदाय को कुछ हद तक संरक्षण देना तथा उनके असंतोष को नियंत्रित करना था। प्रशासन ने यह समझ लिया था कि सामान्य राजस्व और जमींदारी व्यवस्था जनजातीय समाज के लिए उपयुक्त नहीं थी। संथाल परगना की स्थापना ने जनजातीय क्षेत्रों के लिए पृथक प्रशासनिक व्यवस्था की अवधारणा को मजबूत किया और आगे चलकर जनजातीय अधिकारों की सुरक्षा की दिशा में महत्वपूर्ण कदम सिद्ध हुई।

3. भूमि संरक्षण संबंधी कानून

संथाल विद्रोह के परिणामस्वरूप ब्रिटिश सरकार को भूमि संबंधी सुधार लागू करने के लिए बाध्य होना पड़ा। प्रशासन को यह समझ आया कि भूमि अधिकारों की अनदेखी और बाहरी लोगों द्वारा जनजातीय भूमि पर कब्जा गंभीर असंतोष को जन्म देता है। आगे चलकर संथाल परगना कायदाकारी अधिनियम जैसे विशेष कानून बनाए गए, जिनका उद्देश्य जनजातीय भूमि को गैर-जनजातीय लोगों के कब्जे से सुरक्षित रखना था। इन कानूनों ने भूमि हस्तांतरण पर कुछ नियंत्रण स्थापित किया तथा जनजातीय समुदायों को सीमित कानूनी सुरक्षा प्रदान की। यद्यपि ये सुधार पूर्ण रूप से प्रभावी नहीं थे, फिर भी उन्होंने जनजातीय भूमि अधिकारों के संरक्षण की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

4. जनजातीय आंदोलनों को प्रेरणा

संथाल हूल ने भारत के विभिन्न जनजातीय आंदोलनों को गहरी प्रेरणा प्रदान की। इस आंदोलन ने यह सिद्ध किया कि संगठित जनप्रतिरोध के माध्यम से औपनिवेशिक शासन और शोषणकारी शक्तियों को चुनौती दी जा सकती है। बाद के अनेक आदिवासी आंदोलनों, विशेषकर बिरसा मुंडा आंदोलन, में संथाल विद्रोह की चेतना और संघर्ष भावना स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। संथाल हूल ने आदिवासी समाजों में आत्मविश्वास और राजनीतिक जागरूकता को बढ़ाया। इस आंदोलन ने जनजातीय समुदायों को अपने अधिकारों, संस्कृति और भूमि की रक्षा के लिए संगठित होने की प्रेरणा दी।

5. 1857 के विद्रोह की पृष्ठभूमि

संथाल विद्रोह ने भारतीय समाज में औपनिवेशिक शासन के प्रति असंतोष को और अधिक गहरा किया। इस आंदोलन ने यह स्पष्ट कर दिया कि ब्रिटिश शासन केवल राजनीतिक सत्ता नहीं, बल्कि आर्थिक और सामाजिक शोषण की व्यवस्था भी था। संथाल हूल ने भारतीय जनता में प्रतिरोध की भावना को मजबूत किया तथा 1857 के व्यापक विद्रोह के लिए मानसिक और राजनीतिक वातावरण तैयार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यद्यपि दोनों आंदोलनों की प्रकृति अलग थी, फिर भी संथाल विद्रोह ने औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध व्यापक संघर्ष की पृष्ठभूमि तैयार करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

6. आर्थिक प्रभाव

संथाल विद्रोह के बाद ब्रिटिश प्रशासन ने जनजातीय क्षेत्रों में महाजनी शोषण और जमींदारी अत्याचारों को नियंत्रित करने के लिए कुछ कदम उठाए। कुछ क्षेत्रों में अत्यधिक कर वसूली और भूमि हड़पने की प्रक्रियाओं पर अस्थायी रोक लगाने का प्रयास किया गया। इससे संथाल समुदाय को सीमित राहत प्राप्त हुई। हालांकि आर्थिक शोषण की मूल समस्याएँ पूरी तरह

समाप्त नहीं हुई, फिर भी विद्रोह ने प्रशासन को यह समझने के लिए बाध्य किया कि अत्यधिक आर्थिक दमन लंबे समय तक स्थिर शासन के लिए खतरा बन सकता है। इस प्रकार संथाल हूल ने औपनिवेशिक आर्थिक नीतियों की आलोचना को मजबूत किया।

7. आदिवासी अस्मिता का विकास

संथाल हूल ने आदिवासी समुदायों में आत्मसम्मान, सांस्कृतिक चेतना और राजनीतिक जागरूकता को सुदृढ़ किया। यह आंदोलन केवल आर्थिक अधिकारों का संघर्ष नहीं था, बल्कि अपनी पहचान, संस्कृति और सामाजिक अस्तित्व की रक्षा का भी आंदोलन था। सिद्धू, कान्हू, फूलो और झानो जैसे नेताओं ने आदिवासी समाज को संगठित कर यह संदेश दिया कि वे बाहरी शोषण और अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने में सक्षम हैं। संथाल विद्रोह को आदिवासी अधिकारों और अस्मिता के प्रारंभिक संगठित आंदोलनों में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। आज भी यह आंदोलन आदिवासी स्वाभिमान और प्रतिरोध का प्रेरणास्रोत माना जाता है।

समकालीन संदर्भ में प्रासंगिकता

वर्तमान समय में भी संथाल विद्रोह की ऐतिहासिक और सामाजिक प्रासंगिकता अत्यंत महत्वपूर्ण बनी हुई है। यह आंदोलन केवल उन्नीसवीं शताब्दी का जनजातीय संघर्ष नहीं था, बल्कि जल, जंगल और जमीन के अधिकारों की रक्षा का एक व्यापक प्रतीक था। आज भी भारत के विभिन्न जनजातीय क्षेत्रों में भूमि अधिग्रहण, खनन परियोजनाओं, औद्योगिक विस्तार और विस्थापन जैसी समस्याएँ गंभीर रूप से मौजूद हैं। अनेक आदिवासी समुदाय अपने पारंपरिक संसाधनों और सांस्कृतिक पहचान की सुरक्षा के लिए संघर्ष कर रहे हैं। ऐसे संदर्भ में संथाल हूल उन्हें ऐतिहासिक प्रेरणा और संघर्ष की चेतना प्रदान करता है।

संथाल विद्रोह यह स्पष्ट संदेश देता है कि जब किसी समुदाय के आर्थिक अधिकारों, सामाजिक सम्मान और सांस्कृतिक स्वतंत्रता पर निरंतर आघात किया जाता है, तब प्रतिरोध की भावना स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है। संथालों ने अपने अस्तित्व, परंपराओं और सामुदायिक जीवन की रक्षा के लिए औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध संघर्ष किया था। आज भी यह संघर्ष जनजातीय समाजों के अधिकारों और न्याय की मांग के संदर्भ में प्रासंगिक दिखाई देता है।

आधुनिक भारत में संथाल हूल को सामाजिक न्याय, सांस्कृतिक सम्मान और जनाधिकारों की रक्षा के प्रतीक के रूप में देखा जाता है। यह आंदोलन लोकतांत्रिक मूल्यों, समानता और मानवाधिकारों की अवधारणा को भी मजबूत करता है। सिद्धू, कान्हू, फूलो और झानो जैसे नेताओं का संघर्ष आज भी आदिवासी स्वाभिमान, आत्मनिर्णय और सामुदायिक अधिकारों की प्रेरणा बना हुआ है।

इसके अतिरिक्त संथाल विद्रोह भारतीय इतिहास में आदिवासी समुदायों की भूमिका को समझने के लिए भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। लंबे समय तक मुख्यधारा के इतिहास लेखन में जनजातीय आंदोलनों की उपेक्षा की गई, किंतु आज इतिहासकार और शोधकर्ता संथाल हूल को भारतीय प्रतिरोध आंदोलनों की महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में स्वीकार कर रहे हैं। इस प्रकार संथाल विद्रोह केवल अतीत की ऐतिहासिक घटना नहीं, बल्कि वर्तमान सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विमर्श का भी महत्वपूर्ण आधार है।

निष्कर्ष:

संथाल विद्रोह भारतीय इतिहास का एक महत्वपूर्ण और संगठित जनजातीय आंदोलन था, जिसकी पृष्ठभूमि औपनिवेशिक आर्थिक शोषण, सामाजिक अपमान तथा सांस्कृतिक हस्तक्षेप में निहित थी। ब्रिटिश शासन द्वारा लागू स्थायी बंदोबस्त व्यवस्था, जमींदारी प्रथा, महाजनी शोषण और प्रशासनिक अन्याय ने संथाल समाज की पारंपरिक जीवन व्यवस्था को गंभीर रूप से प्रभावित किया। भूमि से बेदखली, अत्यधिक लगान, ऋणग्रस्तता तथा सामाजिक उत्पीड़न ने संथाल समुदाय को गहरे संकट में डाल दिया। इन परिस्थितियों में सिद्धू और कान्हू मुर्मू के नेतृत्व में संथालों ने संगठित होकर औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध व्यापक प्रतिरोध आंदोलन प्रारंभ किया।

संथाल हूल केवल आर्थिक संघर्ष नहीं था, बल्कि यह सांस्कृतिक अस्मिता, सामाजिक सम्मान और सामुदायिक अधिकारों की रक्षा का आंदोलन भी था। इस विद्रोह ने यह स्पष्ट कर दिया कि जनजातीय समुदाय अपने अधिकारों और

अस्तित्व की रक्षा के लिए किसी भी प्रकार के शोषण के विरुद्ध संघर्ष करने में सक्षम हैं। यद्यपि ब्रिटिश शासन ने सैन्य शक्ति और कठोर दमन के माध्यम से इस आंदोलन को दबा दिया, फिर भी वह संथाल समाज की चेतना और प्रतिरोध की भावना को समाप्त नहीं कर सका।

इस विद्रोह का प्रभाव तत्कालीन भारतीय समाज और औपनिवेशिक प्रशासन दोनों पर पड़ा। ब्रिटिश शासन को प्रशासनिक सुधारों और जनजातीय क्षेत्रों के लिए विशेष व्यवस्थाओं की आवश्यकता महसूस हुई। संथाल परगना जिले की स्थापना तथा भूमि संरक्षण संबंधी कानूनों का निर्माण इसी दिशा में महत्वपूर्ण कदम थे। इसके अतिरिक्त संथाल विद्रोह ने आगे आने वाले जनजातीय आंदोलनों तथा 1857 के व्यापक विद्रोह के लिए भी प्रेरणादायी भूमिका निभाई।

संथाल हूल आज भी आदिवासी अस्मिता, सामाजिक न्याय, सांस्कृतिक सम्मान और आत्मनिर्णय के अधिकार का सशक्त प्रतीक माना जाता है। यह आंदोलन आधुनिक भारत को यह संदेश देता है कि किसी भी समुदाय की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रता का सम्मान किए बिना स्थायी शांति और न्याय की स्थापना संभव नहीं है। भारतीय इतिहास में संथाल विद्रोह का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण, प्रेरणादायक और गौरवपूर्ण है।

संदर्भ सूची:

- अग्रवाल, जे. सी. (2008). *आधुनिक भारत*. नई दिल्ली: एस. चंद प्रकाशन, पृ. 168–196.
- चंद्र, बिपन. (2009). *आधुनिक भारत का इतिहास*. नई दिल्ली: ओरिएंट ब्लैकस्वान, पृ. 142–168.
- झा, सीताराम. (2012). *झारखंड के जनजातीय आंदोलन*. रांची: झारखंड अध्ययन केंद्र, पृ. 52–87.
- तिवारी, आर. के. (2013). *आधुनिक भारत का सामाजिक इतिहास*. इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन, पृ. 156–184.
- दत्त, आर. सी. (2001). *भारत का आर्थिक इतिहास*. लंदन: रूटलेज प्रकाशन, पृ. 210–236.
- दत्ता, के. के. (2005). *बिहार में स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास*. पटना: बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पृ. 96–124.
- नौरोजी, दादाभाई. (1996). *भारत में गरीबी और अन-ब्रिटिश शासन*. नई दिल्ली: प्रकाशन विभाग, पृ. 84–112.
- पांडेय, गोविंद चंद्र. (2002). *भारतीय संस्कृति का विकास*. वाराणसी: चौखंबा प्रकाशन, पृ. 133–159.
- भारती, धर्मवीर. (2001). *भारतीय समाज और जनआंदोलन*. नई दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 91–120.
- महतो, बी. पी. (2015). *संथाल हूल और जनजातीय चेतना*. रांची: प्रभात प्रकाशन, पृ. 63–95.
- मिश्र, विद्यानीवास. (2006). *भारतीय समाज और संस्कृति*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, पृ. 182–210.
- यादव, रामनाथ. (2014). *औपनिवेशिक भारत और जनजातीय प्रतिरोध*. पटना: बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पृ. 74–109.
- वर्मा, ओमप्रकाश. (2010). *भारतीय जनजातियों का इतिहास*. जयपुर: रावत प्रकाशन, पृ. 118–146.
- शर्मा, रामविलास. (2007). *भारत में अंग्रेजी राज और जनआंदोलन*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, पृ. 201–228.
- शुक्ल, रामचंद्र. (2005). *हिंदी साहित्य का इतिहास*. नई दिल्ली: लोकभारती प्रकाशन, पृ. 298–324.
- सक्सेना, आर. के. (2013). *भारतीय सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन*. जयपुर: रावत प्रकाशन, पृ. 102–134.
- सरकार, सुमित. (2010). *आधुनिक भारत*. नई दिल्ली: मैकमिलन प्रकाशन, पृ. 175–198.
- सिंह, कुमार सुरेश. (2003). *भारत में जनजातीय आंदोलन*. नई दिल्ली: मनोहर प्रकाशन, पृ. 144–173.
- सिंह, नामवर. (2008). *इतिहास और आलोचना*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, पृ. 126–154.
- हबीब, इरफान. (2011). *भारतीय आर्थिक इतिहास*. नई दिल्ली: तुलिका बुक्स, पृ. 198–224.

आधुनिक भारतीय इतिहास में औद्योगिक विस्तार और सामाजिक संरचना का परिवर्तन : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ० दयानन्द कुमार यादव*

dayanandkumaryadav04@gmail.com

सारांश

आधुनिक भारत के निर्माण में औद्योगिक विकास की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही है। औद्योगिक विकास ने न केवल भारत की आर्थिक संरचना को परिवर्तित किया, बल्कि सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जीवन को भी व्यापक रूप से प्रभावित किया। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप में हुई औद्योगिक क्रांति का प्रभाव भारत पर भी पड़ा। ब्रिटिश शासन के दौरान भारत में आधुनिक उद्योगों का विकास प्रारंभ हुआ, किंतु इसका उद्देश्य भारतीय समाज का विकास न होकर ब्रिटिश साम्राज्यवादी हितों की पूर्ति था। भारत में औद्योगिक विकास के कारण पारंपरिक कुटीर उद्योगों का पतन हुआ तथा एक नई आर्थिक व्यवस्था का उदय हुआ। इसके साथ ही श्रमिक वर्ग, मध्यम वर्ग और औद्योगिक नगरों का विकास हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत ने योजनाबद्ध औद्योगिक विकास को अपनाया और आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था के निर्माण का प्रयास किया।

वर्तमान समय में औद्योगिक विकास भारत की आर्थिक प्रगति का आधार माना जाता है। सूचना प्रौद्योगिकी, विनिर्माण, ऊर्जा तथा सेवा क्षेत्र में हुए विकास ने भारत को वैश्विक अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। यह लेख आधुनिक भारत में औद्योगिक विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया, उसके सामाजिक प्रभाव तथा समकालीन महत्व का विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

मुख्य शब्द:

औद्योगिक विकास, आधुनिक भारत, सामाजिक परिवर्तन, श्रमिक वर्ग, औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था, नगरीकरण।

प्रस्तावना

आधुनिक भारत का इतिहास अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तनों का इतिहास है। इनमें औद्योगिक विकास एक ऐसी प्रक्रिया रही है जिसने भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था को गहराई से प्रभावित किया। औद्योगिक विकास का तात्पर्य मशीनों, कारखानों तथा आधुनिक तकनीकों के माध्यम से बड़े पैमाने पर उत्पादन प्रणाली के विकास से है। ब्रिटिश शासन से पूर्व भारत हस्तशिल्प तथा कुटीर उद्योगों के लिए विश्वभर में प्रसिद्ध था। भारतीय वस्त्र, धातु शिल्प, लकड़ी उद्योग तथा हस्तनिर्मित वस्तुएँ अंतरराष्ट्रीय बाजारों में अत्यधिक लोकप्रिय थीं। किंतु औद्योगिक क्रांति के बाद ब्रिटेन ने भारत को अपने औद्योगिक उत्पादों के बाजार तथा कच्चे माल के स्रोत के रूप में विकसित किया।

उन्नीसवीं शताब्दी में रेलवे, डाक-तार, बंदरगाह तथा आधुनिक बैंकिंग प्रणाली के विकास ने भारत में औद्योगिक संरचना के निर्माण को गति दी। धीरे-धीरे सूती वस्त्र उद्योग, जूट उद्योग, कोयला उद्योग तथा इस्पात उद्योग का विकास हुआ। बीसवीं शताब्दी में औद्योगिक विकास ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को भी प्रभावित किया और स्वदेशी उद्योगों को बढ़ावा मिला। स्वतंत्रता के बाद भारत ने समाजवादी आर्थिक नीति के अंतर्गत भारी उद्योगों और सार्वजनिक क्षेत्र के विकास पर बल दिया। इसके बाद 1991 के आर्थिक सुधारों ने भारतीय उद्योगों को वैश्विक प्रतिस्पर्धा से जोड़ दिया।

इस प्रकार औद्योगिक विकास आधुनिक भारत के निर्माण की एक केंद्रीय प्रक्रिया रही है, जिसने भारत की आर्थिक संरचना, सामाजिक संबंधों और राजनीतिक चेतना को नई दिशा प्रदान की।

* पी-एच०डी०, (इतिहास), तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर (बिहार)- 812007

साहित्य समीक्षा

चंद्र, बिपन. (2007). भारत का स्वतंत्रता संघर्ष. नई दिल्ली: हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय। बिपन चंद्र ने भारतीय औद्योगिक विकास को राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़ते हुए स्वदेशी आंदोलन की भूमिका का विस्तृत विश्लेषण किया है। उनके अनुसार स्वदेशी आंदोलन ने भारतीय उद्योगों, व्यापारियों और पूँजीपतियों को नई प्रेरणा प्रदान की तथा आर्थिक आत्मनिर्भरता और राष्ट्रीय चेतना को मजबूत बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

दत्त, आर. सी. (2001). भारत का आर्थिक इतिहास. नई दिल्ली: प्रकाशन विभाग। आर.सी. दत्त ने ब्रिटिश आर्थिक नीतियों के कारण भारतीय कुटीर उद्योगों के पतन और आर्थिक शोषण का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है। उन्होंने स्पष्ट किया कि औपनिवेशिक शासन ने भारत को कच्चे माल के स्रोत और ब्रिटिश वस्तुओं के बाजार में परिवर्तित कर भारतीय अर्थव्यवस्था को कमजोर किया।

हबीब, इरफान. (2011). भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास. नई दिल्ली: तुलिका बुक्स। इरफान हबीब ने भारतीय औद्योगिक संरचना, श्रमिक वर्ग और औपनिवेशिक आर्थिक व्यवस्था का गहन विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उन्होंने औद्योगीकरण की प्रक्रिया को सामाजिक परिवर्तन, श्रमिक आंदोलनों तथा आर्थिक असमानताओं के संदर्भ में समझाते हुए भारतीय समाज पर उसके व्यापक प्रभावों को स्पष्ट किया है।

सरकार, सुमित. (2010). आधुनिक भारत. नई दिल्ली: मैकमिलन प्रकाशन। सुमित सरकार ने औद्योगिक विकास को भारतीय समाज और राजनीति के व्यापक परिवर्तनों से जोड़कर देखा है। उनके अनुसार औद्योगीकरण के कारण श्रमिक वर्ग, मध्यम वर्ग और औद्योगिक पूँजीपति वर्ग का उदय हुआ, जिसने आधुनिक राजनीतिक चेतना और राष्ट्रीय आंदोलन को नई दिशा प्रदान की।

नेहरू, जवाहरलाल. (2008). भारत की खोज. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन। जवाहरलाल नेहरू ने औद्योगिक विकास को आधुनिक भारत के निर्माण का आधार माना है। उन्होंने वैज्ञानिक सोच, तकनीकी प्रगति और भारी उद्योगों के विकास को राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता तथा आर्थिक उन्नति के लिए आवश्यक बताया तथा योजनाबद्ध औद्योगिक विकास की आवश्यकता पर विशेष बल दिया।

भारत में औद्योगिक विकास की पृष्ठभूमि

1. औद्योगिक क्रांति का प्रभाव : अठारहवीं शताब्दी में इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति हुई, जिसके परिणामस्वरूप मशीन आधारित उत्पादन प्रणाली का विकास हुआ। इस परिवर्तन का प्रभाव भारत पर भी पड़ा। ब्रिटिश उद्योगों को कच्चे माल और तैयार वस्तुओं के लिए बड़े बाजार की आवश्यकता थी, इसलिए भारत को औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में परिवर्तित किया गया। भारत से कच्चा माल ब्रिटेन भेजा जाने लगा और ब्रिटिश वस्तुएँ भारतीय बाजारों में बेची जाने लगीं।

2. पारंपरिक उद्योगों का पतन : ब्रिटिश शासन से पहले भारत के हस्तशिल्प और कुटीर उद्योग अत्यंत विकसित थे। सूती वस्त्र उद्योग, रेशम उद्योग, धातु उद्योग और जहाज निर्माण उद्योग विश्वभर में प्रसिद्ध थे। भारतीय वस्तुओं की गुणवत्ता और कलात्मकता की अंतरराष्ट्रीय बाजारों में विशेष मांग थी। किन्तु ब्रिटिश आर्थिक नीतियों और मशीन निर्मित सस्ते ब्रिटिश वस्त्रों के कारण भारतीय उद्योग धीरे-धीरे कमजोर होने लगे। भारतीय हस्तनिर्मित वस्तुएँ विदेशी वस्तुओं से प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकीं, जिसके परिणामस्वरूप पारंपरिक उद्योगों का पतन होने लगा और बड़ी संख्या में कारीगर बेरोजगार हो गए।

आधुनिक उद्योगों का विकास

1. सूती वस्त्र उद्योग का विस्तार : भारत में आधुनिक सूती वस्त्र उद्योग का विकास मुख्यतः मुंबई और अहमदाबाद में हुआ। कपास की उपलब्धता, बंदरगाहों की निकटता, रेलवे का विकास तथा सस्ते श्रम की उपलब्धता इस उद्योग के विकास के प्रमुख कारण थे। सूती वस्त्र उद्योग ने आधुनिक औद्योगिक विकास की नींव रखी और बड़ी संख्या में लोगों को रोजगार प्रदान किया।

2. कोयला उद्योग का विकास : रेलवे और उद्योगों की ऊर्जा आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भारत में कोयला उद्योग का विकास हुआ। रानीगंज, झरिया और बोकारो जैसे क्षेत्र कोयला उत्पादन के प्रमुख केंद्र बने। कोयला उद्योग ने उद्योगों और परिवहन व्यवस्था को ऊर्जा प्रदान की तथा औद्योगिक विस्तार को गति दी।

3. इस्पात उद्योग और टाटा समूह : 1907 में जमशेदपुर में टाटा आयरन एंड स्टील कंपनी की स्थापना भारतीय औद्योगिक इतिहास की महत्वपूर्ण घटना थी। जमशेदजी टाटा के प्रयासों से स्थापित इस उद्योग ने भारत में भारी उद्योगों के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। इस्पात उद्योग ने मशीन निर्माण, रेलवे और निर्माण कार्यों को नई दिशा प्रदान की।

4. चीनी उद्योग : उत्तर प्रदेश और बिहार में चीनी उद्योग का तेजी से विकास हुआ। यह उद्योग कृषि आधारित उद्योगों में प्रमुख स्थान रखता था। चीनी उद्योग ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था को मजबूती प्रदान की, किसानों की आय बढ़ाई तथा बड़ी संख्या में लोगों को रोजगार उपलब्ध कराया। इसके कारण कृषि और उद्योग के बीच समन्वित विकास को बढ़ावा मिला।

औद्योगिक विकास और सामाजिक परिवर्तन

1. श्रमिक वर्ग का निर्माण : औद्योगिक विकास के परिणामस्वरूप भारत में एक नए श्रमिक वर्ग का उदय हुआ। रोजगार की तलाश में बड़ी संख्या में लोग गाँवों से औद्योगिक नगरों की ओर आने लगे। कारखानों और उद्योगों में कार्य करने वाले श्रमिकों की स्थिति प्रारंभिक दौर में अत्यंत कठिन थी। उन्हें कम मजदूरी मिलती थी, कार्यस्थल असुरक्षित होते थे तथा लंबे समय तक काम करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त श्रमिक अधिकारों और सामाजिक सुरक्षा का अभाव भी था। इन समस्याओं के कारण श्रमिकों में असंतोष बढ़ा और धीरे-धीरे श्रमिक आंदोलनों तथा मजदूर संगठनों का विकास हुआ।

2. महिलाओं की भागीदारी : औद्योगिक विकास के साथ उद्योगों और कारखानों में महिलाओं की भागीदारी भी बढ़ी। महिलाओं ने वस्त्र उद्योग, जूट उद्योग और अन्य कारखानों में कार्य करना प्रारंभ किया। इससे महिलाओं को आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई तथा उनमें सामाजिक जागरूकता और शिक्षा के प्रति रुचि बढ़ी। हालांकि महिलाओं को पुरुषों की तुलना में कम मजदूरी मिलती थी और उन्हें कठिन तथा असुरक्षित कार्य परिस्थितियों का सामना करना पड़ता था। फिर भी औद्योगिक विकास ने महिलाओं की सामाजिक स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन लाने का कार्य किया।

3. नगरीकरण और नई जीवनशैली : औद्योगिक विकास ने नगरीकरण को तेजी से बढ़ावा दिया। मुंबई, कलकत्ता, कानपुर और जमशेदपुर जैसे औद्योगिक नगर तेजी से विकसित हुए। रोजगार और व्यापार के अवसरों के कारण लोग शहरों की ओर आकर्षित हुए, जिससे शहरी जनसंख्या में वृद्धि हुई। शहरों में आधुनिक शिक्षा, परिवहन, संचार तथा स्वास्थ्य सुविधाओं का विकास हुआ। इसके साथ ही लोगों की जीवनशैली, रहन-सहन और सामाजिक संबंधों में भी परिवर्तन दिखाई देने लगा।

औद्योगिक विकास और राष्ट्रीय चेतना

1. स्वदेशी उद्योगों का समर्थन : 1905 के स्वदेशी आंदोलन ने भारतीय उद्योगों को नई ऊर्जा और दिशा प्रदान की। इस आंदोलन का मुख्य उद्देश्य विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करना, भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन देना तथा आर्थिक आत्मनिर्भरता की भावना विकसित करना था। लोगों को स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग के लिए प्रेरित किया गया, जिससे भारतीय उद्योगों और व्यापारियों को लाभ प्राप्त हुआ।

2. भारतीय उद्योगपति और राष्ट्रवाद : जमशेदजी टाटा, घनश्यामदास बिड़ला तथा पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास जैसे भारतीय उद्योगपतियों ने राष्ट्रीय आंदोलन को आर्थिक सहायता प्रदान की। उन्होंने भारतीय उद्योगों के विकास को राष्ट्रीय गौरव और आत्मनिर्भरता से जोड़ा। इन उद्योगपतियों के प्रयासों ने भारतीय औद्योगिक विकास को मजबूत किया तथा राष्ट्रीय आंदोलन को आर्थिक आधार प्रदान किया।

स्वतंत्र भारत में औद्योगिक विकास

1. नियोजित औद्योगिक विकास : स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत ने योजनाबद्ध औद्योगिक विकास की नीति अपनाई। पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से उद्योगों के विकास को राष्ट्रीय प्रगति का आधार बनाया गया। इसका मुख्य उद्देश्य देश को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाना, रोजगार के अवसरों में वृद्धि करना तथा आर्थिक असमानता को कम करना था। सरकार ने उद्योगों के संतुलित विकास पर विशेष ध्यान दिया, ताकि देश की अर्थव्यवस्था को मजबूत आधार प्रदान किया जा सके।

2. भारी उद्योगों की स्थापना : दूसरी पंचवर्षीय योजना में भारी उद्योगों के विकास को विशेष प्राथमिकता दी गई। भिलाई, राउरकेला और दुर्गापुर जैसे प्रमुख इस्पात संयंत्रों की स्थापना की गई, जिन्होंने आधुनिक औद्योगिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इन उद्योगों ने मशीन निर्माण, परिवहन और आधारभूत संरचना के विकास को गति प्रदान की तथा भारत को एक औद्योगिक राष्ट्र बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

3. सार्वजनिक क्षेत्र का महत्व : स्वतंत्र भारत में सरकार ने ऊर्जा, परिवहन, मशीन निर्माण तथा रक्षा उद्योगों में सार्वजनिक क्षेत्र को विशेष महत्व दिया। सार्वजनिक उपक्रमों की स्थापना से क्षेत्रीय संतुलन को बढ़ावा मिला तथा देश के पिछड़े क्षेत्रों में औद्योगिक विकास संभव हुआ। इसके अतिरिक्त आधारभूत संरचना का विस्तार हुआ और बड़ी संख्या में लोगों को रोजगार के अवसर प्राप्त हुए। सार्वजनिक क्षेत्र ने राष्ट्रीय विकास और आत्मनिर्भरता को मजबूत करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

आर्थिक उदारीकरण और औद्योगिक परिवर्तन

1. उदारीकरण : 1991 की नई आर्थिक नीति के अंतर्गत उदारीकरण की प्रक्रिया अपनाई गई। इसके तहत उद्योगों पर सरकारी नियंत्रण और लाइसेंस व्यवस्था को कम किया गया। उद्योगपतियों को अधिक स्वतंत्रता प्रदान की गई, जिससे औद्योगिक उत्पादन और व्यापार को गति मिली। उदारीकरण ने भारतीय अर्थव्यवस्था को अधिक खुला और प्रतिस्पर्धात्मक बनाया।

2. निजीकरण : निजीकरण के अंतर्गत सरकार ने कई क्षेत्रों में निजी कंपनियों की भागीदारी को बढ़ावा दिया। इससे निजी उद्योगों का विस्तार हुआ तथा औद्योगिक क्षेत्र में निवेश और उत्पादन बढ़ा। निजीकरण के कारण उद्योगों में आधुनिक तकनीक और प्रबंधन प्रणाली का विकास हुआ, जिससे कार्यक्षमता में सुधार आया।

3. वैश्वीकरण : वैश्वीकरण के माध्यम से भारतीय अर्थव्यवस्था को विश्व बाजार से जोड़ा गया। विदेशी कंपनियों और निवेशकों को भारत में निवेश करने की अनुमति दी गई। इसके परिणामस्वरूप भारतीय उद्योगों को अंतरराष्ट्रीय बाजार और आधुनिक तकनीक तक पहुँच प्राप्त हुई तथा वैश्विक व्यापार में भारत की भागीदारी बढ़ी।

आर्थिक उदारीकरण के परिणाम

1. विदेशी निवेश में वृद्धि : नई आर्थिक नीति के बाद भारत में विदेशी पूँजी निवेश में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। विदेशी कंपनियों ने भारत में उद्योग, सेवा और तकनीकी क्षेत्रों में निवेश किया, जिससे आर्थिक विकास को नई गति मिली।

2. सूचना प्रौद्योगिकी क्षेत्र का विकास : उदारीकरण के बाद सूचना प्रौद्योगिकी उद्योग का तेजी से विस्तार हुआ। सॉफ्टवेयर, कंप्यूटर और डिजिटल सेवाओं के क्षेत्र में भारत ने वैश्विक पहचान बनाई। इस विकास ने रोजगार के नए अवसर उत्पन्न किए और भारतीय अर्थव्यवस्था को मजबूत किया।

3. वैश्विक प्रतिस्पर्धा : वैश्वीकरण के कारण भारतीय उद्योगों को अंतरराष्ट्रीय कंपनियों के साथ प्रतिस्पर्धा करनी पड़ी। इससे उद्योगों में गुणवत्ता सुधार, आधुनिक तकनीक के उपयोग और उत्पादन क्षमता में वृद्धि हुई।

4. निजी उद्योगों का विस्तार : नई आर्थिक नीति के बाद निजी उद्योगों को अधिक अवसर मिले, जिसके कारण विभिन्न क्षेत्रों में निजी कंपनियों का विस्तार हुआ। इससे औद्योगिक उत्पादन, व्यापार और सेवा क्षेत्र में तेजी से विकास हुआ।

5. आधुनिक औद्योगिक केंद्रों का विकास : आर्थिक उदारीकरण के बाद बेंगलुरु, पुणे और हैदराबाद जैसे शहर आधुनिक औद्योगिक और सूचना प्रौद्योगिकी केंद्र बनकर उभरे। इन शहरों में बहुराष्ट्रीय कंपनियों, तकनीकी उद्योगों और सेवा क्षेत्र का तेजी से विकास हुआ, जिसने भारत की अर्थव्यवस्था को नई दिशा प्रदान की।

औद्योगिक विकास के सकारात्मक प्रभाव

1. आर्थिक प्रगति : औद्योगिक विकास ने भारत की अर्थव्यवस्था को मजबूत बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उद्योगों के विस्तार से राष्ट्रीय आय और उत्पादन में वृद्धि हुई, जिससे देश की आर्थिक प्रगति को गति मिली। औद्योगिक उत्पादन बढ़ने से व्यापार और निर्यात में भी विस्तार हुआ।

2. रोजगार के अवसर : उद्योगों और कारखानों की स्थापना से लाखों लोगों को रोजगार प्राप्त हुआ। ग्रामीण क्षेत्रों से लोग रोजगार की तलाश में औद्योगिक नगरों की ओर आने लगे। इससे बेरोजगारी की समस्या को कम करने में सहायता मिली तथा लोगों की आय में वृद्धि हुई।

3. तकनीकी उन्नति : औद्योगिक विकास के कारण नई मशीनों, उपकरणों और आधुनिक तकनीकों का विकास हुआ। उत्पादन प्रणाली अधिक तेज और प्रभावी बनी तथा उद्योगों में वैज्ञानिक तरीकों का उपयोग बढ़ा। इससे देश में तकनीकी प्रगति और औद्योगिक क्षमता का विस्तार हुआ।

4. परिवहन और संचार का विकास : औद्योगिक विकास ने परिवहन और संचार के साधनों के विस्तार को बढ़ावा दिया। रेलवे, सड़क मार्ग, बंदरगाह और संचार नेटवर्क का तेजी से विकास हुआ। इससे व्यापार, उद्योग और लोगों के बीच संपर्क अधिक सुगम और प्रभावी बना।

5. शिक्षा और वैज्ञानिक सोच : औद्योगिक विकास के साथ तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा को प्रोत्साहन मिला। इंजीनियरिंग, विज्ञान और तकनीकी संस्थानों की स्थापना हुई, जिससे लोगों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण और आधुनिक सोच का विकास हुआ। इससे देश की औद्योगिक और वैज्ञानिक प्रगति को नई दिशा मिली।

औद्योगिक विकास की चुनौतियाँ

1. पर्यावरणीय संकट : औद्योगिक विकास के कारण पर्यावरण पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा है। कारखानों और उद्योगों से निकलने वाले धुएँ तथा रासायनिक अपशिष्टों के कारण वायु और जल प्रदूषण में वृद्धि हुई। इसके परिणामस्वरूप प्राकृतिक संसाधनों का क्षय और पर्यावरणीय संतुलन प्रभावित हुआ।

2. सामाजिक असमानता : औद्योगिक विकास का लाभ समाज के सभी वर्गों तक समान रूप से नहीं पहुँच पाया। बड़े उद्योगपतियों और शहरी क्षेत्रों को अधिक लाभ मिला, जबकि ग्रामीण और कमजोर वर्ग कई बार विकास की प्रक्रिया से पीछे रह गए। इससे आर्थिक और सामाजिक असमानता में वृद्धि हुई।

3. श्रमिक समस्याएँ : आज भी अनेक उद्योगों में श्रमिकों को उचित वेतन, सुरक्षित कार्यस्थल और सामाजिक सुरक्षा सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं। कई श्रमिक लंबे समय तक कठिन परिस्थितियों में कार्य करने के लिए मजबूर होते हैं। श्रमिक अधिकारों की कमी औद्योगिक विकास की एक महत्वपूर्ण चुनौती बनी हुई है।

4. पारंपरिक उद्योगों पर संकट : मशीन आधारित उत्पादन और बड़े उद्योगों के विस्तार के कारण कुटीर तथा हस्तशिल्प उद्योगों को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। पारंपरिक कारीगर आधुनिक उद्योगों से प्रतिस्पर्धा नहीं कर सके, जिससे उनकी आजीविका और पारंपरिक कला दोनों प्रभावित हुईं।

समकालीन भारत में औद्योगिक विकास की भूमिका

वर्तमान समय में औद्योगिक विकास भारत की आर्थिक प्रगति का प्रमुख आधार बन चुका है। आज भारत विश्व की प्रमुख अर्थव्यवस्थाओं में शामिल है और औद्योगिक क्षेत्र देश की विकास प्रक्रिया में महत्वपूर्ण योगदान दे रहा है। सरकार द्वारा शुरू की गई “मेक इन इंडिया”, “स्टार्टअप इंडिया” और “आत्मनिर्भर भारत” जैसी योजनाओं ने औद्योगिक विकास को नई दिशा प्रदान की है। इन योजनाओं का उद्देश्य देश में उत्पादन बढ़ाना, रोजगार के अवसर उत्पन्न करना तथा भारत को वैश्विक औद्योगिक शक्ति के रूप में स्थापित करना है।

1. हरित उद्योग : वर्तमान समय में पर्यावरण संरक्षण को ध्यान में रखते हुए हरित उद्योगों को बढ़ावा दिया जा रहा है। ऐसे उद्योगों में प्रदूषण कम करने वाली तकनीकों और नवीकरणीय ऊर्जा स्रोतों का उपयोग किया जाता है, जिससे सतत विकास को प्रोत्साहन मिलता है।

2. डिजिटल तकनीक : डिजिटल तकनीक ने औद्योगिक विकास को नई गति प्रदान की है। इंटरनेट, ऑटोमेशन और डिजिटल सेवाओं के माध्यम से उत्पादन और व्यापार की प्रक्रिया अधिक तेज और प्रभावी बनी है। इससे उद्योगों की कार्यक्षमता और वैश्विक प्रतिस्पर्धा में वृद्धि हुई है।

3. कृत्रिम बुद्धिमत्ता : कृत्रिम बुद्धिमत्ता (Artificial Intelligence) का उपयोग आधुनिक उद्योगों में तेजी से बढ़ रहा है। इसके माध्यम से उत्पादन, डेटा विश्लेषण, मशीन संचालन और सेवा क्षेत्र को अधिक उन्नत और प्रभावी बनाया जा रहा है। यह तकनीक औद्योगिक विकास में नई संभावनाएँ उत्पन्न कर रही है।

4. सतत विकास : समकालीन औद्योगिक विकास में सतत विकास को विशेष महत्व दिया जा रहा है। इसका उद्देश्य आर्थिक प्रगति के साथ पर्यावरण संरक्षण और सामाजिक संतुलन बनाए रखना है। उद्योगों को इस प्रकार विकसित करने पर बल दिया जा रहा है, जिससे आने वाली पीढ़ियों के संसाधनों पर नकारात्मक प्रभाव न पड़े। भारत आज आधुनिक तकनीक, विनिर्माण और नवाचार के माध्यम से वैश्विक विनिर्माण केंद्र बनने की दिशा में तेजी से अग्रसर है।

निष्कर्ष

आधुनिक भारत में औद्योगिक विकास ने आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन को गहराई से प्रभावित किया है। ब्रिटिश शासन के दौरान औद्योगिक विकास औपनिवेशिक हितों के अनुरूप था, जिसके कारण भारतीय पारंपरिक उद्योगों को भारी क्षति पहुँची। किंतु इसी प्रक्रिया ने आधुनिक उद्योगों, नगरीकरण, श्रमिक वर्ग तथा राष्ट्रीय चेतना को भी जन्म दिया। स्वतंत्रता के बाद भारत ने योजनाबद्ध औद्योगिक विकास के माध्यम से आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था के निर्माण का प्रयास किया। 1991 के आर्थिक सुधारों ने भारतीय उद्योगों को वैश्विक स्तर पर प्रतिस्पर्धी बनाया। हालाँकि औद्योगिक विकास के साथ पर्यावरण प्रदूषण, सामाजिक असमानता तथा श्रमिक समस्याएँ भी उत्पन्न हुईं। इसलिए आज आवश्यकता इस बात की है कि औद्योगिक विकास को सामाजिक न्याय, पर्यावरण संरक्षण तथा सतत विकास के सिद्धांतों के साथ जोड़ा जाए।

इस प्रकार औद्योगिक विकास आधुनिक भारत के निर्माण की आधारभूत प्रक्रिया रही है और भविष्य में भी भारत की प्रगति का प्रमुख आधार बना रहेगा।

संदर्भ :

- कुमार, धर्म. (2005). *भारतीय आर्थिक इतिहास*. कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 166–198.
- गुप्ता, रमेशचंद्र. (2016). *आधुनिक भारत में औद्योगिक विकास*. नई दिल्ली: अटलांटिक प्रकाशन, पृ. 94–128.
- चंद्र, बिपन. (2007). *भारत का स्वतंत्रता संघर्ष*. नई दिल्ली: हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, पृ. 145–178.
- तिवारी, आर. के. (2012). *आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास*. इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन, पृ. 118–154.
- दत्त, आर. सी. (2001). *भारत का आर्थिक इतिहास*. नई दिल्ली: प्रकाशन विभाग, पृ. 88–120.
- द्विवेदी, हजारी प्रसाद. (2003). *हिंदी साहित्य की भूमिका*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, पृ. 185–214.
- नेहरू, जवाहरलाल. (2008). *भारत की खोज*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, पृ. 210–248.
- नौरोजी, दादाभाई. (1996). *भारत में गरीबी और अंग्रेजी शासन*. नई दिल्ली: प्रकाशन विभाग, पृ. 56–91.
- पांडेय, गोविंद चंद्र. (2002). *भारतीय संस्कृति का विकास*. वाराणसी: चौखंबा प्रकाशन, पृ. 157–190.
- भारती, धर्मवीर. (1999). *हिंदी साहित्य और समाज*. नई दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 104–138.
- मिश्र, विद्यानिवास. (2004). *भारतीय समाज और संस्कृति*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, पृ. 92–126.
- यादव, रामनाथ. (2015). *भारतीय औद्योगीकरण और सामाजिक परिवर्तन*. पटना: बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पृ. 82–118.
- रानाडे, एम. जी. (2003). *भारतीय अर्थशास्त्र पर निबंध*. मुंबई: एशिया पब्लिशिंग हाउस, पृ. 75–102.
- वर्मा, ओमप्रकाश. (2010). *भारतीय समाज और आर्थिक विकास*. जयपुर: रावत प्रकाशन, पृ. 129–163.
- शर्मा, रामविलास. (2007). *भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, पृ. 245–280.
- शुक्ल, रामचंद्र. (2005). *हिंदी साहित्य का इतिहास*. नई दिल्ली: लोकभारती प्रकाशन, पृ. 301–335.
- सरकार, सुमित. (2010). *आधुनिक भारत*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, पृ. 132–165.
- सिंह, नामवर. (2006). *इतिहास और आलोचना*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, पृ. 140–172.
- सिंह, शिवकुमार. (2014). *भारतीय समाज और आधुनिकता*. नई दिल्ली: ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, पृ. 111–146.
- हबीब, इरफान. (2011). *भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास*. नई दिल्ली: तुलिका बुक्स, पृ. 97–135.

भारतीय नारीवाद का विकास: औपनिवेशिक काल से लेकर वर्तमान युग तक

(The Evolution of Indian Feminism: From the Colonial Era to the Present Age)

Sanjay Kumar Gupta*

gupta.sanjaykumar7@gmail.com

परिचय:-

औपनिवेशिक काल में भारतीय महिलाओं की स्थिति दैनिक थी, क्योंकि उस समय पितृ सत्तात्मक व्यवस्था कायम था। इस समय सती प्रथा, बाल विवाह, पर्दा प्रथा और अनपढ़ता जैसी कुरीतियां समाज में प्रचलित थी, जिसके कारण से महिलाओं की स्थिति नग्न थी, हालात इतना खराब था की महिलाएं के ऊपर अनेक प्रकार की नियोग्यताएं लादी गई थी, जिसके कारण महिलाएं अपनी स्थिति को सुधार नहीं पाती थी। क्योंकि पुरुष प्रधान समाज था और हर क्षेत्र में कर्ताधर्ता सिर्फ पुरुष ही होता था। महिलाओं की स्थिति गौण होती थी यहां तक की महिलाओं किसी उत्सव कार्य या सामाजिक कार्य में भी बढ़-चढ़कर हिस्सा नहीं ले सकती थी, जिसके कारण महिलाओं की आजादी सिर्फ घर तक ही सीमित थी। लेकिन उस समय भी महिलाओं की आजादी का शुआरम्भ दिखाई देता था, लेकिन अनेक प्रकार के नियोग्यताएं होने के बाद महिलाएं अपनी आवाज नहीं उठा पाती थी जिसका कारण यह हुआ की महिलाओं और पुरुषों के बीच खाई बढ़ता गया। यह इतना चरम सीमा पर बढ़ गया की महिलाओं की भूमिका हर क्षेत्र में नग्न होती गई यहां तक की इसी काल में कन्या भ्रूण हत्या जैसे कुरीतियां भी समाज में व्याप्त थी। इस समय उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाली महिलाओं की संख्या बिल्कुल नग्न थी और शिक्षा को अक्सर सामाजिक कुरीतियों से जोड़कर देखा जाता था इसलिए महिलाएं शिक्षा से भी वंचित थी। महिलाओं की स्थिति अत्यंत दयनीय होती गई, समय के अनुसार और बदतर स्थिति महिलाओं की होती गई लेकिन महिलाओं और पुरुषों के बीच इतनी खाई बढ़ गया कि उसको कम करने के लिए अनेक समाज सुधारकों ने भी कार्य किया। उन्होंने यह सोच कि यह खाई और समाज में व्याप्त कृतियां समाज के लिए विष की समान है, इसलिए इसे हर हालत में समाप्त करना होगा तभी एक विकसित भारत का निर्माण हो सकता है।

कुंजी शब्द:-

महिलाएं, असमानता, शोषण, आजादी, आन्दोलन, और सामाजिक समानता

एक वर्ग को दबाकर समाज को विकसित नहीं किया जा सकता है, इसलिए समाज विकास के लिए महिला पुरुष दोनों को विकास की कड़ी में आना होगा। लैंगिक असमानता और स्त्री पुरुष के बीच भेदभाव को समाप्त करना होगा। दोनों में समानता जैसे चीजों को अमन करना होगा तभी एक सकारात्मक समाज का निर्माण हो सकता है। ऐसी स्थिति को देखते हुए राजा राममोहन राय, ईश्वर चंद्र विद्यासागर, ताराबाई शिंदे जैसे अनेक सुधारो ने महिलाओं के अधिकारों के लिए संघर्ष किया। अपना पक्ष रखा की यदि समाज को विकसित करना है तो महिलाओं को पहले विकसित करना होगा तथा समाज में उन्हें भी सामान जनक जीवन जीने का अधिकार देना होगा। तभी समाज का भी विकास होगा और आने वाले पीढ़ियां भी शिक्षित और विकसित होगी। इस दृष्टि के देखते हुए अनेक सामाजिक सुधारो ने समय-समय पर बड़े पैमाने पर आंदोलन किया ताकि महिलाओं की समस्याओं को समाधान किया जा सके और उसे भी पुरुष के समक्ष जीवन जीने का पूर्ण अधिकार हो। इस स्थिति के देखते हुए ब्रिटिश सरकार ने सुधारको के दबाव में आकर 1856 में हिंदू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम जैसे कानून को लागू किया जिसे महिलाओं की स्थिति में थोड़ा-थोड़ा सकारात्मक बदलाव होने लगा। इसी प्रकार की 20 वीं सदी में विशेष कर स्वतंत्रता संग्राम के दौरान महिलाओं ने भी बाहर निकाल कर भाग लेना शुरू किया। हालांकि जमीनी स्तर पर आर्थिक

* J. S. University Shikohabad (Firozabad) U.P. 283203

आत्म निर्भरता कम थी फिर भी अनेक महिलाओं ने यह स्वतंत्रता संग्राम में भाग लिया और अपने अधिकार की लड़ाई को भी मजबूत किया। जैसे सरोजिनी नायडू ने अनेक क्षेत्र में भूमिका निभाई ताकि महिलाओं की स्थिति को भी सुधरा जा सके।

साहित्य पुनरावलोकन:-

नारीवाद का मूल उद्देश्य असमानताओं का अंत कर समानता को स्थापित करना है तथा इसी के साथ लैंगिकता के आधार पर भेदभाव को भी समाप्त करना है। महिलाओं अपने अधिकारों के लिए संगठित होकर सोशन के विरुद्ध आवाज बुलंद करती है (Bhashanjaly, 2024)। स्त्री विमर्श एक ऐसा बौद्धिक सामाजिक और साहित्य आंदोलन है जो महिलाओं के खिलाफ बढ़ने वाले आवाज को बंद करने का प्रयास करती है। महिला एवं पुरुषों के समानता में विश्वास करने एवं समानता लाने के बात करती है (कुमारी, 2026)। शिक्षा सामाजिक बदलाव का एक शक्तिशाली साधन है और इसे नारीवाद आदर्श के रूप में जोड़ा जाता है। इसके माध्यम से महिलाओं एवं लड़कियों को अवसर मिलता है ताकि वह अपने आप को विकसित कर सके। शिक्षा के माध्यम से असमानताओं को भी कम किया जा सकता है, जिसका सीधा संबंध नारीवाद से है (Kumari, 2024)। नारीवाद की शुरुआत 19 वीं सदी के फ्रांस में हुई थी। यह वैचारिक मुक्ति के लिए एक महिला आंदोलन के रूप में सामने आया बाद में नारीवाद को यूरोपीय अमेरिका और अन्य देशों में बढ़ावा मिला यहां तक की पूरी दुनिया में लोकप्रिय हो गया (Hu, 2021)। भारतीय नारीवाद कोई नई व्यवस्था नहीं है बल्कि वर्चस्ववादी व्यवस्था से मुक्ति पाने का एक अभियान है। जिसके द्वारा महिलाएं अपने अधिकार की आवाज उठाती है। लैंगिक भिन्नता को समय पर समानता के आधार पर बराबरी के अधिकार की बात करती है (Mandal, 2020)। ब्रह्मांड में दो लिंग है एक पुरुष और दूसरा स्त्री। रचयिता ने इन दोनों को समान बनाया है और दोनों एक दूसरे पर निर्भर भी है। लेकिन समाज ने कब और कैसे पुरुष और स्त्रियों के बीच भेदभाव शुरू कर दिया या सोचनीय विषय है (Sonkusare, 2023)। पुरुष और महिलाएं प्रकृति के दो अद्भुत रचनाएं हैं जो न केवल खाद्य और श्रृंखला के संतुलन में मुख्य भूमिका निभाती है बल्कि आज की दुनिया का निर्माण भी करती है। फिर भी मानवीय सभ्यताओं के सोच और गतिविधियों ने महिलाओं को अपने अधीन बनाया, जिसके परिणाम स्वरूप उसके भावनात्मक एवं शारीरिक आधार पर कमजोर माना गया है (Palepu, 2022)। झारखंड के आदिवासी महिलाओं ने पुरुष के साथ मिलकर 19वीं सदी में ब्रिटिश हस्तक्षेपों के खिलाफ सबसे पहले और सबसे जोरदार विरोध किया था। जिसके परिणाम स्वरूप आदिवासी समाज को मिली आजादी जिसमें जमीन जंगल और संस्कृति पर नियंत्रण शामिल था (Barwar & Minj, 2025)। भारत में महिला आंदोलन की शुरुआत 1920 के दशक में हुई थी, जो 19 वीं सदी के सामाजिक सुधारक आंदोलन की नींव पर आधारित थी। महिला आंदोलन का विकास उस दौर में हुआ जब राष्ट्रवाद अपने चरम था और स्वतंत्रता संग्राम जोरों पर था (Sen, 2000)। महिला आंदोलन शिक्षा, कानूनी अधिकार, राजनीतिक अधिकार, सामाजिक समानता पुरुष और महिलाओं की बीच समान अधिकार और समान पहुंचकर पर ध्यान केंद्रित करता है। महिला आंदोलन लैंगिकता असमानता बर्बर प्रथाओं, दहेज प्रथा, पितृ सत्तात्मक, यौन उत्पीड़न और घरेलू हिंसा को समाप्त करना चाहता है (Kumar, 2022)।

शोध अंतराल:-

उपर्युक्त साहित्य समीक्षा से पता चलता है कि औपनिवेशिक काल में महिलाओं की स्थिति दयनीय थी। क्योंकि उनके ऊपर अनेक प्रकार के निरोधताएं ला दी गई थी जिसके कारण महिलाओं की समाज में कोई प्रतिष्ठा नहीं था और ना ही उन्हें किसी सार्वजनिक स्थानों पर भी प्रवेश करने के लिए स्वतंत्रता थी। क्योंकि उनको चार दिवारी के अंदर ही अपने जीवन व्यतीत करना पड़ता था। यहां तक की उन्हें अपने केवल पति के ही बात मानना पड़ता था इसके बाद उनकी स्थिति हर क्षेत्र में दैनिक थी। लेकिन उस समय भी सामाजिक सुधारो ने महिलाओं की स्थिति सुधारने के लिए बात कही थी जिसका असर समय-समय पर दिखाई दिया। वर्तमान में महिलाओं की स्थिति में काफी परिवर्तन आया है तथा महिलाएं शिक्षित हो रही है और अपने लैंगिक विभिन्नता को समाप्त करने के लिए तथा परिवार और समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए संघर्ष कर रही है। महिलाओं की विकास कहां तक हुआ है आजाद भारत में महिलाओं की स्थिति क्या है वह किस प्रकार संघर्ष करके प्रगति की ओर उन्मुख हो रही है आदि से संबंधित अध्ययन करना जरूरी है।

शोध का उद्देश्य:- महिलाओं की स्थिति को समझाना।

आंकड़े संकलन की विधि:- महिलाओं से संबंधित वास्तविक तथ्य को प्राप्त करने के लिए मात्रात्मक शोध प्रविधि का प्रयोग किया गया है। इस प्रविधि के माध्यम से महिलाओं की औपनिवेशिक काल में क्या स्थिति थी तथा वर्तमान में क्या है।

पहले जितना इनके ऊपर नियोग्यताएं लादी गई थी वह नियोग्यताएं हैं वर्तमान में कहां तक है तथा महिलाएं किस प्रकार समाज की मुख्य धारा में आने का प्रयास कर रही हैं। आदि से संबंधित वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए मात्रात्मक शोध प्रविधि का प्रयोग करके वास्तविक तथ्य को प्राप्त किया गया है। मात्रात्मक शोध विधि के माध्यम से सर्वेक्षण, रिकॉर्ड, रिपोर्ट्स, रिव्यू पत्र-पत्रिकाएं बुक्स इंटरनेट आदि के माध्यम से वास्तविक तथ्य प्राप्त किया गया है।

महिलाओं की स्थिति:-

औपनिवेशिक काल में महिलाओं की स्थिति बद से बदतर थी, क्योंकि उस समय बाल विवाह, कन्या हत्या जैसे कुप्रथाएं प्रचलित थी समाज में। कुछ कुप्रथा हैं ऐसी थी जो महिलाओं की जीवन की प्रतिकूल थी। जिसके कारण महिलाएं विकास के बारे में सोच नहीं पाती थी और न ही वह उतना आजाद थी कि खुद के लिए कुछ कर पाती। जिसके कारण महिलाएं अनेक प्रकार की शोषण जैसे समस्याओं का सामना कर रही थी। लेकिन उस समय भी कुछ समाज सुधारकों ने भी उनके विकास के लिए सकारात्मक भूमिका निभाई जिसका कारण यह हुआ कि महिलाओं की विकास की भूमिकाएं की असर दिखाई देने लगी। उनके ऊपर हो रहे अत्याचार और शोषण की समस्याओं का आकलन सामाजिक स्तर पर किया जाने लगा। जिसका असर यह हुआ की समय-समय पर बड़े पैमाने पर महिलाओं के समस्याओं से संबंधित आंदोलन किए गए हैं। जिसके कारण सरकार का ध्यान महिलाओं के ऊपर गया और वर्तमान में सरकार ने भी महिलाओं से संबंधित अनेक ऐसे कानून बनाए हैं ताकि महिलाओं पर शोषण नहीं के बराबर हो और उनका विकास उनके अनुकूल हो। स्थिति यह हुआ कि आज महिलाएं हर क्षेत्र में बढ़ चलकर भाग ले रही हैं तथा उनका विकास की प्रगति जोरों पर है। महिलाएं अब खुलकर अपनी समस्याओं का सामना कर रही हैं और अपने विकास के लिए आवाज को बुलंद कर रही हैं तथा प्रतिदिन संघर्ष कर रही हैं ताकि उनका विकास हो सके।

शोध का महत्व:-

1. महिलाओं की मुख्य समस्याओं पर विचार करने की आवश्यकता है।
2. महिलाओं की स्थिति को सुधारने के लिए शिक्षा और प्रोत्साहन की आवश्यकता है ताकि उनकी अधिकार के प्रति उनको जागरूक किया जा सके।
3. वर्तमान में महिलाओं की क्या समस्याएं हैं और उसको कैसे निदान किया जाए आदि पर विचार विमर्श की आवश्यकता है।
4. महिलाओं की प्रगति कैसे किया जा सकता है तथा लैंगिक असमानता को कैसे कम किया जा सकता है इस पर पूर्ण विचार करने की आवश्यकता है।

निष्कर्ष:-

औपनिवेशिक काल से लेकर वर्तमान युग तक महिलाओं की स्थिति से संबंधित तथ्य को संकलन किया गया तो पता चला की औपनिवेशिक काल में महिलाएं पुरुषों के अधीन थी। महिलाओं के ऊपर अनेक प्रकार की नियोग्यता लादी गई थी। यहां तक की सती प्रथा, बाल विवाह, कन्या भ्रूण हत्या जैसे कुरीतियां समाज में विद्यमान थी। जिसके कारण महिलाएं की स्थिति दयनीय थी, यहां तक की महिलाएं किसी उत्सव, फंक्शन, पार्टी, मंदिर मस्जिद या सार्वजनिक स्थान पर खुलकर हिस्सा नहीं ले सकती थी और न ही उसमें प्रवेश कर सकती थी। जिसके कारण महिलाएं की स्थिति और दैनिक थी। लेकिन सामाजिक सुधारो ने महिलाओं की स्थिति को सुधारने के लिए अपने स्तर से आंदोलन किया जिसका परिणाम यह हुआ की महिलाओं की स्थिति में काफी हद तक सुधार हुआ और यह समस्याओं के ऊपर सरकार का भी ध्यान केंद्रित हुआ। जिसके कारण सरकार ने भी महिलाओं के विकास के लिए और उनके पर हो रहे शोषण को समाप्त करने के लिए अनेक कानून बनाए जिसका नतीजा यह हुआ कि आज महिलाएं की विकास की प्रगति काफी तेज है और महिलाएं एक चपरासी से लेकर अधिकारी तक तथा विधानसभा से लेकर लोकसभा तक का सफर बहुत आसानी से कर रही हैं। दिन प्रतिदिन उनका संघर्ष जारी है तथा विकास की मुख्य धारा में आने का प्रयास कर रही हैं।

संदर्भ :-

- Barwar , S, S. & Minj, S., C. (2025). Women in Tribal Movements of Jharkhand during British Rule. *Multidisciplinary, Multi-Lingual, Peer Reviewed Open Access Journal*. 3 (1). 41-44. Retrieved from https://www.biharshodhsamaagam.com/header_banner/sub_menu_banner_1739812028_156.pdf
- Bhashanjaly, S. (2024). Theoretical construct of feminism in India: Historical context and contemporary dynamics. *International Journal of Applied Research*. 10 (2). 213-216. Retrieved from <https://www.allresearchjournal.com/archives/2024/vol10issue2/PartC/10-11-40-354.pdf> DOI: <https://doi.org/10.31426/ijamsr.2024.7.8.7618>
- Hu, Z. (2021). Review of Feminism Research and Analysis of Deviation in Contemporary Development . *Advances in Social Science, Education and Humanities Research*. volume 638. Page 220-223. Retrieved from file:///C:/Users/hp/Downloads/Review_of_Feminism_Research_and_Analysis_of_Deviat.pdf
- Kumar, H., (2022). Women's Struggle and Movements in India: A Journey from History to the Present. *the third voice reality and vision* 4 (1). 5-10. Retrieved from <https://thirdvoice.voiceforvoiceless.in/wp-content/uploads/2023/01/Womens-Struggle-and-Movements-in-India-A-Journey-from-History-to-the-Present2.pdf>
- Kumari, S. (2024). Feminism and Educational Transformation: A Review of Gender Equality Initiatives in Jharkhand's Tribal Regions. *International Journal of Advanced Multidisciplinary Scientific Research*. 17 (8).129-132.
- Mandal, M. (2020). Feminist Movements through the Ages in India: An Empowering Voyage from Prehistoric Age to the Period of Nationalism . *The Creative Launcher An International, Peer Reviewed, Refereed, E-Journal in English*. 5 (5). 169-175. DOI: 10.53032/tcl.2020.5.5.2
- Palepu, R. (2022). Evolution of Feminism Effects & Challenges. *Journal of Research in Humanities and Social Science*. 10 (2). 73-76. Retrieved from <https://www.questjournals.org/jrhss/papers/vol10-issue2/Ser-2/L10027377.pdf>
- Sen, S. (2019). Toward a Feminist Politics? The Indian Women's Movement in Historical Perspective. *ResearchGate*. Page.1-10. Retrieved from https://asutoshcollege.in/new-web/Study_Material/towardsfeministpolitics.pdf
- Sonkusare, R., N. (2023). feminist movements in india. *international journal of researches in social science and information studies*. 8 (2). 474-475. Retrieved from https://ijrssi.in/upload_papers/060320230333451_Rajesh%20N.%20Sonkusare%20paper.pdf
- कुमारी, पी. (2026). झारखण्ड की संस्कृत और स्त्री-तिमर्श. *International journal of Advanced Research*. 14(3). 73-76. Retrieved from https://www.journalijar.com/uploads/2026/04/69d8b84d72860_ICM-026.pdf

गढ़चिरोली जिले में आदिवासी समुदाय के विकास के मुद्दे

Issues Related to the Development of the Tribal Community in Gadchiroli District

महेश किष्ठय्या दुर्गम*

maheshdurgam91@gmail.com

शोध सारांश (Abstract):

यह शोध आलेख गढ़चिरोली जिले में आदिवासी समुदायों के विकास से जुड़े प्रमुख मुद्दों और चुनौतियों का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। अध्ययन में विशेष रूप से आर्थिक पिछड़ापन, शिक्षा की कमी, स्वास्थ्य सेवाओं की सीमित उपलब्धता, बुनियादी ढाँचे की कमजोर स्थिति, रोजगार के सीमित अवसर, नक्सलवाद का प्रभाव तथा विकास परियोजनाओं के कारण होने वाले विस्थापन जैसे महत्वपूर्ण मुद्दों का विश्लेषण किया गया है। इन समस्याओं के कारण आदिवासी समुदायों के जीवन स्तर और विकास की गति पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इस अध्ययन हेतु वर्णनात्मक अनुसंधान पद्धति का उपयोग किया गया है। अध्ययन के लिए प्राथमिक तथा द्वितीयक दोनों प्रकार के स्रोतों से जानकारी एकत्रित की गई है जिनमें संबंधित साहित्य, सरकारी रिपोर्टें, शोध आलेख और उपलब्ध आँकड़ों का उपयोग किया गया है। साहित्य समीक्षा से यह स्पष्ट होता है कि आदिवासी विकास एक बहुआयामी प्रक्रिया है जिसमें आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक कारकों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अध्ययन के निष्कर्ष बताते हैं कि विभिन्न सरकारी योजनाओं के बावजूद गढ़चिरोली जिले में आदिवासी समुदायों के समग्र विकास के लिए अभी भी शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और अन्य आधारभूत सुविधाओं के क्षेत्र में अधिक प्रभावी प्रयासों की आवश्यकता है।

बीज शब्द (Keywords):

आदिवासी विकास, गढ़चिरोली जिला, सामाजिक-आर्थिक विकास, वन संसाधन, नक्सलवाद, ग्रामीण विकास

प्रस्तावना (Introduction):

भारत विश्व के उन देशों में से एक है जहाँ आदिवासी जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा निवास करता है। भारतीय समाज की सांस्कृतिक और सामाजिक विविधता में आदिवासी समुदायों का महत्वपूर्ण स्थान है। इन समुदायों की अपनी विशिष्ट संस्कृति, भाषा, परंपराएँ और जीवन शैली होती है जो उन्हें मुख्यधारा के समाज से अलग पहचान प्रदान करती हैं। आदिवासी समाज का प्रकृति और पर्यावरण के साथ गहरा संबंध होता है तथा उनकी आजीविका, सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक परंपराएँ प्रायः प्राकृतिक संसाधनों, विशेषकर वन संपदा पर आधारित होती हैं।

महाराष्ट्र राज्य का गढ़चिरोली जिला ऐसे ही आदिवासी बहुल क्षेत्रों में से एक है। यह जिला विदर्भ क्षेत्र में स्थित है और अपनी भौगोलिक तथा सामाजिक विशेषताओं के कारण विशेष महत्व रखता है। जिले की जनसंख्या में आदिवासी समुदायों का बड़ा हिस्सा है जिनमें गोंड, माडिया, परधान और कोलाम जैसी प्रमुख जनजातियाँ निवासरत हैं। इन जनजातियों की अपनी विशिष्ट सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक परंपराएँ और जीवन शैली है, जो स्थानीय पर्यावरण और प्राकृतिक संसाधनों से गहराई से गुंथी हुई हैं। गढ़चिरोली जिले की भौगोलिक संरचना भी यहाँ के सामाजिक और आर्थिक जीवन को प्रभावित करती है। जिले का लगभग 76 प्रतिशत क्षेत्र वन से आच्छादित है जिसके कारण यहाँ के लोगों की आजीविका मुख्यतः वन संसाधनों और कृषि पर निर्भर करती है। स्थानीय आदिवासी समुदायों का जीवन वन आधारित गतिविधियों से

* शोधार्थी, (गांधी एवं शांति अध्ययन विभाग), म. गां. अं. हि. विवि., वर्धा

जुड़ा हुआ है जिसमें वनोपज का संग्रह, लघु वन उत्पादों का उपयोग तथा कृषि कार्य प्रमुख हैं। यहाँ के अधिकांश लोग धान की खेती करते हैं और इसके अतिरिक्त वनोपज संग्रह तथा मजदूरी के माध्यम से अपनी आजीविका चलाते हैं। यद्यपि गढ़चिरोली जिला प्राकृतिक संसाधनों से समृद्ध है फिर भी सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से इसे अपेक्षाकृत पिछड़ा क्षेत्र ही माना जाता है। जिले की भौगोलिक स्थिति, घने जंगल, सीमित परिवहन और संचार सुविधाएँ तथा कमजोर बुनियादी ढाँचा विकास की प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। कई गाँव दूर-दराज के जंगलों में स्थित होने के कारण वहाँ तक सड़क, स्वास्थ्य सेवाएँ और शैक्षणिक संस्थानों की पहुँच अत्यंत ही सीमित है। इन परिस्थितियों का प्रत्यक्ष प्रभाव यहाँ के आदिवासी समुदायों के जीवन स्तर पर देखा जा सकता है। शिक्षा के क्षेत्र में विद्यालयों की सीमित उपलब्धता, शिक्षकों की कमी और भौगोलिक दूरी के कारण बच्चों की शिक्षा प्रभावित होती है। इसी प्रकार स्वास्थ्य सेवाओं की सीमित उपलब्धता के कारण लोगों को उपचार के लिए दूर-दराज के क्षेत्रों में जाना पड़ता है। रोजगार के अवसरों की कमी के कारण यहाँ के लोग मुख्यतः कृषि, वन उत्पादों और असंगठित मजदूरी पर निर्भर हैं। गढ़चिरोली जिले के विकास को प्रभावित करने वाला एक अन्य महत्वपूर्ण कारक नक्सलवाद की समस्या भी है। इस समस्या के कारण कई क्षेत्रों में विकास कार्यों की गति धीमी रही है और सरकारी योजनाओं का प्रभावी क्रियान्वयन भी चुनौतीपूर्ण बन जाता है। नक्सलवाद की उपस्थिति के कारण सुरक्षा, प्रशासन और विकास से संबंधित अनेक जटिल परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं हालांकि वर्तमान केंद्र व राज्य की सरकार द्वारा इनके दमन के कारण कुछ हद तक नक्सलवाद को नियंत्रित किया गया है परंतु इसका प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रभाव स्थानीय आदिवासी समुदायों के जीवन पर पड़ता रहा है। इस प्रकार गढ़चिरोली जिले में आदिवासी समुदायों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति कई प्रकार की संरचनात्मक और भौगोलिक चुनौतियों से प्रभावित हो रही है। शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और बुनियादी सुविधाओं तक सीमित पहुँच उनके समग्र विकास में बाधा उत्पन्न करती है। यद्यपि सरकार द्वारा विभिन्न योजनाओं और कार्यक्रमों के माध्यम से आदिवासी विकास को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया गया है फिर भी इन योजनाओं के प्रभावी क्रियान्वयन और स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप कार्यान्वयन की आवश्यकता बनी हुई है। स्थानीय आदिवासी समुदायों की वर्तमान स्थिति, उनकी विकास संबंधी चुनौतियों तथा संभावित समाधान को समझने की दिशा में प्रयास किया जाना आवश्यक है जिससे भविष्य में आदिवासी विकास से संबंधित नीतियों और कार्यक्रमों को अधिक प्रभावी व इन समुदायों के समावेशी तथा सतत विकास को सुनिश्चित किया जा सके।

अध्ययन का क्षेत्र (Study Area):

अध्ययन का क्षेत्र गढ़चिरोली जिला है। इसकी सीमाएँ छत्तीसगढ़ और तेलंगाना राज्यों से लगती हैं। यह जिला घने जंगलों, पहाड़ियों और नदी-घाटियों से युक्त है। यहाँ की भौगोलिक परिस्थितियाँ कई बार विकास कार्यों में बाधा उत्पन्न करती हैं। 2011 की जनगणना के अनुसार जिले की कुल जनसंख्या लगभग 10.7 लाख है जिसमें लगभग 38 प्रतिशत जनसंख्या अनुसूचित जनजाति की है। जो इस शोधपत्र हेतु अध्ययन का भाग हैं।

अध्ययन के उद्देश्य (Objectives of the Study):

प्रस्तुत अध्ययन का मुख्य उद्देश्य गढ़चिरोली जिले में निवास करने वाले आदिवासी समुदायों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति तथा उनके विकास से संबंधित प्रमुख समस्याओं का विश्लेषण करना है। इस अध्ययन के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं:

1. गढ़चिरोली जिले में निवास करने वाले आदिवासी समुदायों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति का अध्ययन करना।
2. आदिवासी विकास से संबंधित प्रमुख समस्याओं और चुनौतियों की पहचान करना।
3. शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार के क्षेत्रों में आदिवासी समुदायों की वर्तमान स्थिति का विश्लेषण करना।
4. आदिवासी विकास के लिए संचालित सरकारी योजनाओं और कार्यक्रमों की प्रभावशीलता का मूल्यांकन करना।

अध्ययन का महत्व (Significance of the Study):

गढ़चिरोली जिले की भौगोलिक परिस्थितियाँ, सीमित बुनियादी ढाँचा, शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं की कमी तथा अन्य सामाजिक-आर्थिक चुनौतियाँ यहाँ पर निवास करने वाले समुदायों के विकास को प्रभावित कर रही हैं। ऐसी स्थिति में इन समुदायों की वास्तविक परिस्थितियों का अध्ययन करना अत्यंत आवश्यक हो जाता है। यह अध्ययन सामाजिक विज्ञानों,

सामाजिक कार्य, समाजशास्त्र और आदिवासी अध्ययन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान करता है। गढ़चिरोली जिले के आदिवासी समुदायों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति को समझने तथा विकास से संबंधित प्रमुख समस्याओं और चुनौतियों की स्पष्ट पहचान व अध्ययन गढ़चिरोली जिले के आदिवासी समुदायों की समस्याओं को समझने के साथ-साथ उनके विकास के लिए संभावित उपायों की दिशा में एक महत्वपूर्ण आधार प्रदान कर सकता है।

आदिवासी विकास की अवधारणा:

आदिवासी विकास का अर्थ केवल आर्थिक उन्नति तक सीमित नहीं है बल्कि यह एक व्यापक और समग्र प्रक्रिया है जिसमें सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक और राजनीतिक सशक्तिकरण भी शामिल होता है। आदिवासी समुदायों का जीवन प्रकृति, जंगल, भूमि और पारंपरिक संसाधनों से गहराई से जुड़ा हुआ है इसलिए उनके विकास की अवधारणा को समझते समय इन सभी तत्वों को ध्यान में रखना आवश्यक है। आदिवासी विकास का मुख्य उद्देश्य आदिवासी समुदायों के जीवन स्तर में सुधार करना, उन्हें मुख्यधारा के विकास से जोड़ना तथा उनकी पहचान, संस्कृति और परंपराओं की रक्षा करना है। इस प्रक्रिया में आर्थिक विकास के साथ-साथ शिक्षा का प्रसार, स्वास्थ्य सेवाओं की उपलब्धता, रोजगार के अवसरों का विस्तार और बुनियादी सुविधाओं का विकास महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसके अतिरिक्त आदिवासी विकास में सामाजिक न्याय, राजनीतिक भागीदारी और सांस्कृतिक संरक्षण भी महत्वपूर्ण आयाम हैं। आदिवासी समुदायों को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक बनाना तथा निर्णय-प्रक्रिया में उनकी भागीदारी सुनिश्चित करना भी विकास का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। इस प्रकार आदिवासी विकास एक बहुआयामी प्रक्रिया है जिसका उद्देश्य आदिवासी समुदायों का समग्र, संतुलित और सतत विकास सुनिश्चित करना है ताकि वे अपनी सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखते हुए सामाजिक और आर्थिक रूप से सशक्त बन सकें।

गढ़चिरोली जिले के विकास से जुड़े प्रमुख मुद्दे और समस्याएँ:

गढ़चिरोली जिला महाराष्ट्र के पूर्वी भाग में स्थित एक प्रमुख आदिवासी बहुल जिला है। यह जिला प्राकृतिक संसाधनों, घने जंगलों तथा खनिज संपदा से समृद्ध होने के बावजूद सामाजिक और आर्थिक विकास के कई क्षेत्रों में अपेक्षाकृत पिछड़ा हुआ है। जिले का लगभग 75-80 प्रतिशत क्षेत्र वन क्षेत्र से आच्छादित है और यहाँ की कुल जनसंख्या का लगभग 35-40 प्रतिशत भाग अनुसूचित जनजातियों से संबंधित है। दुर्गम भौगोलिक स्थिति, सीमित बुनियादी सुविधाएँ, आर्थिक अवसरों की कमी और नक्सलवाद जैसी चुनौतियाँ जिले के विकास को प्रभावित करती हैं। गढ़चिरोली जिले के विकास से जुड़ी प्रमुख समस्याओं को निम्नलिखित बिंदुओं में समझा जा सकता है।

आर्थिक पिछड़ापन और सीमित आजीविका के अवसर:

गढ़चिरोली जिले की अर्थव्यवस्था मुख्यतः कृषि, मजदूरी और वन उत्पादों पर आधारित है। जिले के अधिकांश किसान छोटे और सीमांत किसान हैं तथा उनकी खेती वर्षा पर निर्भर रहती है। जिले में सिंचाई सुविधाएँ सीमित हैं और अनुमानतः कुल कृषि भूमि का लगभग 10-12 प्रतिशत भाग ही सिंचित है। इसके कारण कृषि उत्पादन स्थिर नहीं रहता और किसानों की आय भी सीमित रहती है। इसके अतिरिक्त जिले में औद्योगिक विकास का स्तर भी बहुत कम है। बड़े उद्योगों की कमी के कारण स्थानीय स्तर पर रोजगार के अवसर सीमित हैं। परिणामस्वरूप अनेक लोग मजदूरी या वन उत्पादों के संग्रहण पर निर्भर रहते हैं। सरकारी आंकड़ों के अनुसार जिले के कई ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी रेखा के नीचे रहने वाले परिवारों का प्रतिशत राज्य के औसत से अधिक है। आर्थिक अवसरों की कमी के कारण कई लोग रोजगार की तलाश में अन्य जिलों या शहरों की ओर पलायन भी करते हैं।

शिक्षा से संबंधित समस्याएँ:

शिक्षा किसी भी समाज के समग्र विकास का महत्वपूर्ण आधार है, किंतु गढ़चिरोली जिले के कई आदिवासी क्षेत्रों में शिक्षा की स्थिति अभी भी चुनौतीपूर्ण है। 2011 की जनगणना के अनुसार जिले की साक्षरता दर लगभग 74 प्रतिशत है, जो कि महाराष्ट्र के औसत से कम है। आदिवासी समुदायों में साक्षरता दर इससे भी कम पाई जाती है।

दूरस्थ और दुर्गम क्षेत्रों में विद्यालयों की संख्या सीमित है तथा कई विद्यालयों में शिक्षकों की कमी या अनुपस्थिति की समस्या भी देखी जाती है। इसके अतिरिक्त भाषा संबंधी बाधाएँ भी शिक्षा के प्रसार में रुकावट उत्पन्न करती हैं। जिले के अनेक आदिवासी बच्चे गोंडी या माडिया भाषा बोलते हैं, जबकि शिक्षा मुख्यतः मराठी या हिंदी माध्यम में दी जाती है। गरीबी

और पारिवारिक जिम्मेदारियों के कारण कई बच्चे प्राथमिक या माध्यमिक स्तर के बाद विद्यालय छोड़ देते हैं। कुछ अध्ययनों के अनुसार आदिवासी क्षेत्रों में विद्यालय छोड़ने की दर (ड्रॉप-आउट रेट) अपेक्षाकृत अधिक पाई जाती है जिससे उच्च शिक्षा तक पहुँच सीमित हो जाती है।

स्वास्थ्य सेवाओं की अपर्याप्तता:

गढ़चिरोली जिले के कई आदिवासी क्षेत्रों में स्वास्थ्य सेवाएँ पर्याप्त रूप से उपलब्ध नहीं हैं। जिले में प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र और उपकेंद्र मौजूद होने के बावजूद कई गाँव उनसे काफी दूर स्थित हैं। दुर्गम भौगोलिक परिस्थितियों और परिवहन सुविधाओं की कमी के कारण लोगों को समय पर चिकित्सा सहायता नहीं मिल पाती। कुपोषण, मलेरिया और मातृ एवं शिशु मृत्यु दर यहाँ की प्रमुख स्वास्थ्य समस्याएँ हैं। गढ़चिरोली जिला लंबे समय से मलेरिया प्रभावित क्षेत्रों में से एक माना जाता है। कई आदिवासी क्षेत्रों में बच्चों और महिलाओं में कुपोषण की समस्या भी देखी जाती है। इसके अतिरिक्त कई ग्रामीण समुदायों में पारंपरिक चिकित्सा पद्धतियों पर अधिक निर्भरता भी पाई जाती है। आधुनिक स्वास्थ्य सुविधाओं के प्रति जागरूकता की कमी और स्वास्थ्य केंद्रों की दूरी के कारण कई बार गंभीर बीमारियों का समय पर उपचार नहीं हो पाता।

बुनियादी ढाँचे की कमी:

गढ़चिरोली जिले के विकास में बुनियादी ढाँचे की कमी एक महत्वपूर्ण चुनौती है। जिले के कई गाँव अभी भी सड़क, परिवहन, बिजली और संचार जैसी बुनियादी सुविधाओं से पूरी तरह नहीं जुड़े हैं। घने जंगलों और पहाड़ी क्षेत्रों के कारण कई गाँव मुख्य सड़क नेटवर्क से दूर स्थित हैं। हालाँकि सरकार द्वारा सड़क और बिजली की सुविधाओं के विस्तार के प्रयास किए जा रहे हैं फिर भी कई ग्रामीण क्षेत्रों में इन सुविधाओं की उपलब्धता सीमित है। इंटरनेट और डिजिटल कनेक्टिविटी की कमी भी शिक्षा, प्रशासन और आर्थिक गतिविधियों को प्रभावित करती है। इसके अतिरिक्त कई गाँवों में सुरक्षित पेयजल और स्वच्छता सुविधाओं की उपलब्धता भी एक चुनौती बनी हुई है।

नक्सलवाद का प्रभाव:

गढ़चिरोली जिला लंबे समय से नक्सलवाद से प्रभावित रहा है और इसे देश के तथाकथित “रेड कॉरिडोर” के प्रमुख जिलों में गिना जाता है। नक्सलवाद के कारण कई क्षेत्रों में विकास कार्यों की गति धीमी हो जाती है। सुरक्षा कारणों से कई बार सड़क निर्माण, शिक्षा संस्थानों की स्थापना और अन्य विकास परियोजनाओं के कार्यों में बाधा उत्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त नक्सलवाद के कारण प्रशासन और स्थानीय समुदायों के बीच विश्वास की कमी भी देखी जाती है जिससे विकास योजनाओं के प्रभावी क्रियान्वयन में कठिनाई आती है। इस स्थिति का प्रभाव स्थानीय अर्थव्यवस्था और निवेश की संभावनाओं पर भी पड़ता है।

विस्थापन और संसाधनों से जुड़े संघर्ष:

गढ़चिरोली जिला खनिज संसाधनों, विशेष रूप से लौह अयस्क तथा वन संपदा से समृद्ध है। खनन और औद्योगिक परियोजनाओं के विकास के साथ-साथ कई स्थानों पर आदिवासी समुदायों के विस्थापन की संभावना भी बढ़ जाती है। विस्थापन के कारण लोगों की पारंपरिक आजीविका, सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक पहचान पर नकारात्मक प्रभाव पड़ सकता है। कई बार स्थानीय समुदायों और औद्योगिक परियोजनाओं के बीच संसाधनों की हिस्सेदारी, उपयोग और भूमि अधिग्रहण को लेकर संघर्ष की स्थिति भी उत्पन्न हो जाती है जिसका प्रभाव वहाँ के स्थानीय जन-जीवन पर साफ दिखता है।

संवैधानिक अधिकारों की अवहेलना: गढ़चिरोली जिले के आदिवासी क्षेत्रों में स्थानीय स्वशासन, मानवाधिकारों और वन अधिकारों से जुड़ी समस्याएँ भी विकास के महत्वपूर्ण मुद्दों में शामिल हैं। भारत में आदिवासी क्षेत्रों में ग्राम सभाओं को सशक्त बनाने के लिए “Panchayats (Extension to Scheduled Areas) Act, 1996 (PESA)” लागू किया गया है जिसका उद्देश्य अनुसूचित क्षेत्रों में स्थानीय स्वशासन को मजबूत करना है। इसके बावजूद कई स्थानों पर ग्राम सभाओं की निर्णय-प्रक्रिया को पर्याप्त महत्व नहीं मिल पाता जिससे स्थानीय समुदायों की भागीदारी सीमित रह जाती है। इसी प्रकार आदिवासियों के पारंपरिक वन अधिकारों की मान्यता के लिए “Forest Rights Act, 2006 (FRA)” लागू किया गया। इस कानून के अंतर्गत व्यक्तिगत वन अधिकार (IFR) तथा “Community Forest Rights (CFR)” प्रदान करने का प्रावधान है जिससे ग्राम सभाएँ सामुदायिक वन संसाधनों के संरक्षण और उपयोग का अधिकार प्राप्त करती हैं। गढ़चिरोली जिला इस

संदर्भ में महत्वपूर्ण माना जाता है जहाँ कई ग्राम सभाओं को सामुदायिक वन अधिकार प्रदान किए गए हैं। कुछ अध्ययनों के अनुसार जिले में 1000 से अधिक ग्राम सभाओं को CFR अधिकार प्रदान किए जा चुके हैं फिर भी कई क्षेत्रों में इन अधिकारों के पूर्ण क्रियान्वयन में प्रशासनिक चुनौतियाँ देखी जाती हैं। वन संसाधनों के उपयोग, खनन परियोजनाओं और सुरक्षा कार्यवाहियों के कारण कभी-कभी स्थानीय समुदायों के अधिकारों और मानवाधिकारों के संरक्षण को लेकर विवाद भी सामने आते हैं। इसलिए स्थानीय स्वशासन को सशक्त बनाना, ग्राम सभाओं को निर्णय-प्रक्रिया में वास्तविक अधिकार देना तथा वन अधिकारों का प्रभावी क्रियान्वयन सुनिश्चित करना आदिवासी विकास के लिए अत्यंत आवश्यक है।

सामाजिक समस्याएँ और जागरूकता की कमी:

गढ़चिरोली जिले के कई आदिवासी क्षेत्रों में सामाजिक समस्याएँ भी विकास की प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं। शराब की लत, गरीबी, शिक्षा की कमी और सामाजिक जागरूकता का अभाव कई समुदायों में देखा जाता है। महिलाओं की सामाजिक और आर्थिक गतिविधियों में भागीदारी अभी भी सीमित है जिससे परिवार और समुदाय के विकास पर प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त जागरूकता की कमी के कारण लोग सरकारी योजनाओं और विकास कार्यक्रमों का पूरा लाभ नहीं उठा पाते।

आदिवासी विकास के लिए संचालित सरकारी योजनाओं और कार्यक्रमों की प्रभावशीलता का मूल्यांकन:

गढ़चिरोली जिले में आदिवासी समुदायों के विकास के लिए केंद्र और राज्य सरकार द्वारा अनेक योजनाएँ और कार्यक्रम लागू किए गए हैं, जिनमें Forest Rights Act, 2006, Panchayats (Extension to Scheduled Areas) Act, 1996, Mahatma Gandhi National Rural Employment Guarantee Act, परिवर्तित नाम “विकसित भारत-गारंटी फॉर रोजगार एंड आजीविका मिशन (ग्रामीण)” (VB-G RAM G)” National Health Mission, Integrated Child Development Services तथा Integrated Tribal Development Project (ITDP) प्रमुख हैं। इन योजनाओं का उद्देश्य आदिवासी क्षेत्रों में रोजगार, स्वास्थ्य, शिक्षा और प्राकृतिक संसाधनों पर अधिकार सुनिश्चित करना तथा सामाजिक-आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करना है परंतु यह सिर्फ कागजों तक ही सकारात्मक नजर आती है। 2011 की जनगणना के अनुसार गढ़चिरोली जिले की साक्षरता दर लगभग 74.36% थी जबकि महाराष्ट्र की औसत साक्षरता दर लगभग 82% थी। इससे स्पष्ट होता है कि शिक्षा से संबंधित योजनाओं के बावजूद आदिवासी क्षेत्रों में शिक्षा का स्तर अभी भी अपेक्षाकृत कम है। स्वास्थ्य क्षेत्र में भी कई चुनौतियाँ बनी हुई हैं। विभिन्न स्वास्थ्य रिपोर्टों के अनुसार जिले के कई आदिवासी क्षेत्रों में कुपोषण, मलेरिया तथा मातृ-शिशु मृत्यु दर जैसी समस्याएँ अभी भी गंभीर रूप से मौजूद हैं।

वन अधिकारों के संदर्भ में गढ़चिरोली को अपेक्षाकृत प्रगतिशील जिला माना जाता है जहाँ 1000 से अधिक ग्राम सभाओं को सामुदायिक वन अधिकार (CFR) प्रदान किए जा चुके हैं। इससे कई गाँवों में बाँस, तेंदूपत्ता और अन्य लघु वनोपज के माध्यम से आय के अवसर बढ़े हैं हालाँकि कई स्थानों पर इन अधिकारों के प्रभावी उपयोग, विपणन और प्रबंधन में प्रशासनिक तथा संस्थागत बाधाएँ भी देखने को मिलती हैं। रोजगार के क्षेत्र में Mahatma Gandhi National Rural Employment Guarantee Act (VB-G RAM G) के माध्यम से ग्रामीण परिवारों को प्रतिवर्ष 100 दिन का रोजगार उपलब्ध कराने का प्रावधान है लेकिन कई बार कार्य की उपलब्धता सीमित होने और मजदूरी भुगतान में देरी जैसी समस्याएँ सामने आती हैं। जिले में संगठित रोजगार के अवसर बहुत कम हैं इसलिए अधिकांश लोग असंगठित क्षेत्र, कृषि मजदूरी और वन उत्पादों के संग्रहण पर निर्भर हैं। रोजगार की कमी के कारण कई आदिवासी परिवारों के सदस्य काम की तलाश में अन्य जिलों या शहरों की ओर मौसमी पलायन भी करते हैं।

Integrated Tribal Development Project (ITDP) के माध्यम से आदिवासी समुदायों के लिए शिक्षा, कृषि, कौशल विकास, छात्रवृत्ति और आजीविका से संबंधित विभिन्न कार्यक्रम संचालित किया जाना सुनिश्चित किया गया है। इसके अंतर्गत छात्रावास, आश्रमशालाएँ, कृषि सहायता और स्वरोजगार योजनाएँ लागू की गई हैं जिनसे कुछ हद तक आदिवासी परिवारों को लाभ भी मिल रहा है। परंतु योजनाओं के क्रियान्वयन में प्रशासनिक सीमाएँ, संसाधनों की कमी और जागरूकता का अभाव लगातार बाधक बन रहे हैं। इसके अतिरिक्त सामाजिक-आर्थिक दबावों के कारण अपराध, शराब की समस्या और किसानों की आत्महत्या जैसी घटनाएँ भी समय-समय पर सामने आती रहती हैं। कुछ सरकारी आँकड़ों के अनुसार पिछले वर्षों में जिले में कृषि संकट और आर्थिक कठिनाइयों से जुड़ी कई आत्महत्या की घटनाएँ दर्ज की गई हैं जो ग्रामीण आर्थिक असुरक्षा की ओर संकेत करती हैं। समग्र रूप से देखा जाए तो इन योजनाओं ने आदिवासी विकास के लिए एक आधार

अवश्य तैयार किया है किंतु दुर्गम भौगोलिक परिस्थितियाँ, नक्सलवाद, सीमित रोजगार अवसर और प्रशासनिक कमजोरियों व स्थानीय संसाधनों पर बाहरी हस्तक्षेप के कारण इनकी प्रभावशीलता कई क्षेत्रों में सीमित रह जाती है। इसलिए योजनाओं के प्रभावी क्रियान्वयन, पारदर्शिता और ग्राम सभाओं की सक्रिय भागीदारी को सुनिश्चित करना अतिआवश्यक है तभी गढ़चिरोली जिले में आदिवासी समुदायों का समग्र और सतत विकास संभव हो सकेगा।

निष्कर्ष (Conclusion):

अध्ययन से यह स्पष्ट है कि गढ़चिरोली जिले में आदिवासी विकास अनेक सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक और राजनीतिक व सांस्कृतिक कारकों से प्रभावित है। प्राकृतिक संसाधनों से समृद्ध होने के बावजूद यहाँ के आदिवासी समुदाय आर्थिक पिछड़ेपन, शिक्षा के निम्न स्तर, स्वास्थ्य सेवाओं की कमी और कमजोर बुनियादी ढाँचे जैसी समस्याओं का सामना कर रहे हैं। शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधाओं की सीमित उपलब्धता के कारण आदिवासी समुदायों के जीवन स्तर में अपेक्षित सुधार नहीं हो पा रहा है। इसके अतिरिक्त नक्सलवाद, विस्थापन और संसाधनों के असमान वितरण जैसी परिस्थितियाँ भी विकास की प्रक्रिया को प्रभावित कर रही हैं। सरकार द्वारा आदिवासी विकास के लिए अनेक योजनाएँ और कार्यक्रम संचालित किए जा रहे हैं किंतु इन योजनाओं का प्रभावी और पारदर्शी क्रियान्वयन अभी भी एक महत्वपूर्ण चुनौती बना हुआ है। यदि इन योजनाओं को सही ढंग से लागू किया जाए और उनका लाभ वास्तविक लाभार्थियों तक पहुँचाया जाए तो ही आदिवासी क्षेत्रों के विकास में महत्वपूर्ण प्रगति संभव है। इसलिए गढ़चिरोली जिले में आदिवासी विकास के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और बुनियादी ढाँचे के सुदृढ़ीकरण पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। साथ ही विकास योजनाओं में स्थानीय आदिवासी समुदायों की सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित करना भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। सरकार, गैर-सरकारी संगठनों और स्थानीय समुदायों के समन्वित प्रयासों से ही इस क्षेत्र में संतुलित, समग्र और सतत विकास संभव हो सकता है।

संदर्भ सूची (References)

- Bang, A., & Bang, R. (2010). *Searching for health: Experiences of community health work in Gadchiroli*. Pune: SEARCH Publications.
- Bang, A., & Bang, R. (2016). *Community health research in Gadchiroli*. Gadchiroli: Society for Education, Action and Research in Community Health (SEARCH).
- Baviskar, A. (2005). *In the belly of the river: Tribal conflicts over development in the Narmada Valley*. New Delhi: Oxford University Press.
- Government of India. (2011). *Census of India 2011: Scheduled tribes population*. New Delhi: Government of India.
- Government of Maharashtra. (2022). *District socio-economic review: Gadchiroli*. Mumbai: Government of Maharashtra.
- Government of Maharashtra. (2024). *Culture and heritage of Gadchiroli district*. Retrieved from <https://gadchiroli.gov.in>
- Government of Maharashtra. (2024). *Economy of Gadchiroli district*. Retrieved from <https://gadchiroli.gov.in>
- Khandare, S. (2025). Climate change and malaria in Gadchiroli tribal villages.
- Khandekar, P., & Vasnik, K. B. (2024). Awareness of scheduled tribe women regarding the PESA Act and their contribution to benefits received: Special reference to Gadchiroli district. *ShodhKosh Journal*, 5(7).

- Kunghadkar, A. R., & Kamble, U. T. (2024). A study of the social and economic status of fishermen in Gadchiroli district. *ShodhKosh Journal*, 5(7).
- Ministry of Panchayati Raj. (2006). *Backward Regions Grant Fund Programme*. New Delhi: Government of India.
- Ministry of Tribal Affairs. (2020). *Annual report*. New Delhi: Government of India.
- Mohanty, B. B. (2012). *Development and displacement of tribals in India*. New Delhi: Sage Publications.
- Outlook India. (2024). *Life in a no attention zone: The Adivasis of Gadchiroli*.
- Padvi, J. V. (2023). The politics of tribal development in India: A critical study on policy and practice. *ShodhKosh Journal*.
- Planning Commission. (2013). *Tribal development report*. New Delhi: Government of India.
- Sawane, A., Meghnad, C., & Shrungarpawar, N. (2020). Ethnobotanical study of medicinal plants used by tribal people in Gadchiroli district of Maharashtra. *International Journal of Life Sciences*.
- Society for Education, Action and Research in Community Health (SEARCH). (2023). *Community health initiatives in tribal Gadchiroli*.
- Tata Institute of Social Sciences. (2018). *Tribal development in Maharashtra: Status and challenges*. Mumbai: TISS Publication.
- Telvekar, P. A., Relekar, S. S., Gore, S. B., Rathod, R. H., & Katare, M. B. (2018). Livelihood opportunities for tribal farmers through fish culture practices in seasonal ponds in Gadchiroli district of Maharashtra. *Journal of Indian Fisheries Association*.
- The Indian Express. (2024). *Issues faced by tribal women in Gadchiroli*.
- The News Dirt. (2024). *Socioeconomic impacts on displaced tribal communities in Vidarbha*.
- Xaxa, V. (2014). *State, society and tribes: Issues in post-colonial India*. New Delhi: Pearson Education.

शरीर-श्रम और नयी तालीम: विनोबा दृष्टि

शंभू जोशी*

shambhujoshi@hindivishwa.ac.in

सारांश:

प्रस्तुत आलेख आचार्य विनोबा भावे के अहिंसा संबंधी दार्शनिक आधारों को स्पष्ट करते हुए व्यक्ति और समाज परिवर्तन, शरीर-श्रम एवं नयी तालीम के अंतर्संबंधों पर प्रकाश डालता है। अद्वैत की वैचारिक पृष्ठभूमि में विनोबा भारतीय दार्शनिक विचारों को सामाजिक परिवर्तन से जोड़ते हैं। शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम के मध्य समन्वय करा कर सामाजिक परिवर्तन की राह प्रशस्त करते हैं। महात्मा गाँधी से इतर विचार प्रकट कर शरीर-श्रम की अपनी व्याख्या देते हैं। समाज परिवर्तन में शरीर-श्रम की अवधारणा की महत्वपूर्ण भूमिका को स्वीकारते हैं। शरीर-श्रम के वैचारिक दर्शन को प्रस्तुत कर उसकी सामाजिक भूमिका को स्पष्ट किया है। यह आलेख शरीर-श्रम और नयी तालीम के संयोजन से ग्रामीण पुनरुद्धार एवं अहिंसक समाज रचना की प्रक्रिया को भी रेखांकित करता है। यह आलेख आचार्य विनोबा के नयी तालीम विचारों की पुनर्व्याख्या के माध्यम से उसकी प्रासंगिकता पर प्रकाश डालता है।

बीज शब्द :

आचार्य विनोबा भावे, अद्वैत, मानसिक श्रम, शरीर-श्रम, नयी तालीम।

गाँधीजी के 'आध्यात्मिक उत्तराधिकारी'¹ के रूप में विख्यात आचार्य विनोबा भावे स्वतंत्रता आंदोलन के प्रमुख नेता, विद्वान, शिक्षाविद् एवं सर्वोदयी विचारक थे। गाँधीजी द्वारा प्रस्तुत विचारों के व्याख्याकार के रूप में उनका योगदान बहुत महत्वपूर्ण है। स्वतंत्रता आंदोलन के समय एवं स्वतंत्र भारत में उन्होंने सदैव प्रयास किया कि आजादी की लड़ाई जिन मूल्यों के लिए लड़ी गयी, उन्हें मूर्त रूप प्रदान किया जा सके। कई गाँधीवादी विचारों को उन्होंने व्यवस्थित रूप देकर दर्शन की भाँति प्रस्तुत किया। एक अहिंसात्मक समाज की रचना करने के अपने आदर्श की प्राप्ति में विनोबा ने रचनात्मक कार्यक्रमों के माध्यम से अहिंसक परिवर्तन पर जोर दिया। आजाद भारत में सामाजिक-आर्थिक-शैक्षिक-बौद्धिक स्वतंत्रता की चुनौती को स्वीकार कर इनमें बदलाव के प्रयत्न किये। उनके द्वारा चलाया गया भूदान आंदोलन² आज भी एक अहिंसक आंदोलन के श्रेष्ठ उदाहरण के रूप में उद्धृत किया जाता है। विनोबा ने एक जातिविहीन, वर्गविहीन और राज्यविहीन समाज- या कहना चाहिए अहिंसक समाज-का स्वप्न देखा और उसे प्राप्त करने के तरीकों में भूदान, सम्पत्तिदान, श्रमदान, बुद्धिदान और प्रेमदान³ बताए।

विनोबा ने आजीवन एक अहिंसक समाज की स्थापना के लिए अनवरत प्रयास किये। विनोबा अपने अहिंसक उद्देश्यों और प्रयासों को गहन अध्ययन एवं नवीन व्याख्या से एक दार्शनिक आधार प्रदान करते हैं। उनके समस्त वैचारिक दर्शन की आधारभूमि 'अद्वैत' में है। उनके अनुसार यह सृष्टि ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। ब्रह्म का अर्थ होता है जो निरंतर विकसनशील हो। अतः यह ब्रह्म हर तत्त्व में उपस्थित है। सभी में विद्यमान इस ब्रह्म तत्त्व के एकात्म को जानना ही आध्यात्म/आत्मज्ञान है। सृष्टि से एकत्व की अनुभूति ही आत्मज्ञान है। चूँकि सभी में एक ही तत्त्व विद्यमान है अतः वैयक्तिक मुक्ति व्यर्थ है। अद्वैत की अपनी नवीन व्याख्या करते हुए विनोबा उसे वैयक्तिक दर्शन से सार्विकता का दर्शन बना देते हैं जहाँ अन्य की मुक्ति में ही हमारी मुक्ति संभव हो जाती है⁴। स्वयं विनोबा ने अपनी विचारधारा के चार मुख्य अंग बताए हैं -

1. साम्ययोग (उद्देश्य)
2. समन्वय (तत्त्वज्ञान)
3. सर्वोदय (सामाजिक और आर्थिक ध्येय)
4. सत्याग्रह (पद्धति)⁵

* एसोशिएट प्रोफेसर, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा - 442001 (महाराष्ट्र)

उपर्युक्त वैचारिक अंग उनके समस्त विचारों को जानने की मूल कुंजी है जिसमें सत्याग्रह समस्त विरोधों में समन्वय कराकर व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में समता स्थापित कर सकेगा जिससे साम्ययोग की स्थापना होगी। सर्वोदय दर्शन की प्रविधि को स्पष्ट करते हुए वह एक साथ व्यक्ति परिवर्तन और समाज परिवर्तन की बात कहते हैं क्योंकि व्यक्ति और समाज एक-दूसरे से अविभाज्य हैं। इस परिवर्तन में वह 'शरीर-श्रम' की महत्वपूर्ण भूमिका बताते हैं। महात्मा गाँधी की तरह विनोबा को भी शरीर-श्रम में अटूट श्रद्धा थी। विनोबा के लिए अध्यात्म महत्वपूर्ण है परन्तु शरीर-श्रम से छुटकारा उन्हें स्वीकार्य नहीं है-

“मैं केवल वैचारिक या आध्यात्मिक श्रम से संतुष्ट नहीं हो सकता। आध्यात्मिक के साथ ही शारीरिक श्रम भी चाहिए।”

“अध्यात्म विद्या के लिए सबसे ज्यादा अनुकूल और सबसे ज्यादा नजदीक अगर कोई चीज है तो वह है उत्पादक शरीर परिश्रम, ऐसा मैं अपने अनुभव से जाहिर करना चाहता हूँ।”

इसे स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं कि शरीर-श्रम के जरिए हम प्रकृति एवं समाज से जुड़ते हैं इन सबकी सेवा करते हैं और जो परिणाम मिलता है उसे समाज को अर्पित करते हैं और समाज से जो फल मिलता है उसे ग्रहण करते हैं। यह प्रक्रिया आध्यात्म के लिए साधक है और आसन-प्राणायाम की तुलना में ज्यादा मददगार है। विनोबा की यह व्याख्या क्रांतिकारी इसलिए है कि उनके लिए आध्यात्म की साधना समाज से पलायन या एकांत में स्वयं सिद्धि की साधना नहीं बल्कि शरीर-श्रम के माध्यम से दैनंदिन जीवन की समस्याओं का निवारण कर समन्वय स्थापित करते हुए समाज एवं प्रकृति के साथ एकत्व की साधना है। शारीरिक और मानसिक श्रम में श्रेष्ठता-निम्नता भाव के स्थान पर विनोबा दोनों के मध्य समन्वय पर जोर देते हैं। वह मानते हैं कि परिश्रम निष्ठा सबका धर्म है। वह संतों का उदाहरण देते हुए कहते हैं-

“शिक्षण में परिश्रम-निष्ठा बढ़नी चाहिए। यह सबका धर्म है। कबीर बुनते थे, गोरा कुम्हार थे, नामदेव दर्जी थे। कोई संत बिना परिश्रम नहीं रहे। इसलिए ज्ञान शक्ति और कर्म शक्ति का संगम होना अनिवार्य है।”

वह भी गाँधीजी की तरह इस तर्क को अस्वीकार करते हैं कि शरीर-श्रम के कारण मानसिक विकास बाधित या अवरुद्ध होता है। वह मानते हैं कि शारीरिक श्रम से मानसिक विकास को गति एवं तीक्ष्णता मिलती है। स्वयं अपना उदाहरण प्रस्तुत करते हुए वह कहते हैं कि-

“मैंने सालों तक जितना अध्ययन किया, उससे कम शरीर-श्रम नहीं किया। मैंने प्रतिदिन छह-सात घंटे विविध प्रकार के परिश्रम में बिताए हैं। उससे मेरी बुद्धि की तेजस्विता कम नहीं हुई, बल्कि बढ़ी है।”

विनोबा शरीर-श्रम की अवधारणा को व्यापक परिवर्तन का माध्यम भी मानते हैं। इसके साथ ही वह महात्मा गाँधी से अपनी भिन्नता को भी अभिव्यक्त करते हैं। यह भिन्नता मानसिक श्रम को लेकर है। गाँधीजी बौद्धिक वर्ग के श्रम को महत्व प्रदान करते हैं परन्तु शरीर-श्रम से अवकाश की बात नहीं स्वीकार करते और न ही इसे शरीर-श्रम का स्थानापन्न मानते हैं। दूसरी ओर विनोबा अपनी भिन्नता को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं कि-

“मैं केवल ब्रेड लेबर (उत्पादक श्रम) को आधार नहीं मानता। यह मुझमें और गाँधीजी में अंतर है।”

इसके लिए वह श्री अरविंद और महर्षि वाल्मिकी का उदाहरण देते हैं कि वाल्मिकी की 'रामायण' आज भी जनता को स्फूर्ति प्रदान कर रही है। इसका यह अर्थ है कि उनका हृदय सृष्टि के साथ एकरूप हो गया था। उनके काव्यत्व सत्य का स्रोत ही सृष्टि थी। अतः शरीर-श्रम का मुख्य हेतु सृष्टि के साथ एकरूप होना है तो वह ऐसा कर पा रहे थे। वह अरविंद की चर्चा करते हुए बताते हैं कि अरविंद को भी 'सावित्री' महाकाव्य लिखने में ब्रेड लेबर से अधिक परिश्रम करना पड़ा मगर वह गीता की भाषा में 'चोर' नहीं कहलाएंगे। वह स्पष्ट करते हैं कि हमें एक प्रोफेसर के आठ घंटे अध्यापन और बढ़ई को बढ़ईगिरी के आठ घंटों के लिए समान मजदूरी देनी होगी। यह मानना होगा कि दोनों ने समान श्रम किया है। उन दोनों के बीच ऊँच-नीच का भेद नहीं होना चाहिए। वह मानते हैं कि बौद्धिक श्रम वाले शारीरिक श्रम अवश्य करें। अपनी बात को अधिक स्पष्ट करते हुए वह इंगित करते हैं कि जैसे ही मानसिक/बौद्धिक श्रम की प्रतिष्ठा कम मानी जाएगी तो सामाजिक विषमता दूर होगी और पारिश्रमिक समान प्रदान किया जाएगा तो आर्थिक विषमता दूर हो जाएगी। वह मानते हैं कि शरीर-श्रम और बौद्धिक श्रम दोनों की जरूरत है और दोनों ही की प्रतिष्ठा साथ है। इस पृष्ठभूमि में विनोबा भावे ने ग्रामीण पुनरुद्धार के चार महत्वपूर्ण तत्वों पर बल दिया-

1. भूमि का समतापूर्ण पुनर्वितरण (भूदान) तथा सहकारी कृषि
2. ग्रामोद्योग का विकास
3. नयी तालीम का प्रसार
4. देशज ज्ञान व्यवस्था और संसाधनों पर आधारित ग्रामीण स्वास्थ्य सेवा¹¹।

विनोबा गाँधीजी के शिक्षा दर्शन को स्वीकारते हैं और 'नयी तालीम' की अवधारणा को महत्वपूर्ण एवं प्रासंगिक बताते हैं। 'नयी तालीम' के शिक्षा संबंधी दार्शनिक आधारों से वह सहमति प्रकट करते हैं। वह स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जीवन में और शिक्षा में भी वह शरीर-श्रम को प्रथम स्थान देते हैं। शिक्षा के प्रति अपने मन्तव्य को प्रकट करते हुए वह कहते हैं:

“शरीर के हर अवयव की पूर्ण और व्यवस्थित वृद्धि होना, इंद्रियों का कार्यकुशल बनना, विभिन्न मनोवृत्तियों का सर्वांगीण विकास होना, बौद्धिक शक्तियों का प्रगल्भ और प्रखर बनना, इन सब नैसर्गिक या प्राकृतिक प्रवृत्तियों का विकास ही शिक्षण है अर्थात् 'जीवनप्राप्त कर लेने की कला ही शिक्षण है'¹²।”

शिक्षा संबंधी अपनी इसी व्यापक एवं सर्वांगीण दृष्टि के कारण वह मानते हैं कि शिक्षा प्रणाली को श्रम के प्रति प्रेम और आदर उत्पन्न करने वाली होना चाहिए। उनके अनुसार ज्ञान और कर्म, विद्या और परिश्रम दोनों अगर जुड़ जाएंगे तो देश की उन्नति होगी और देश एकरस हो सकेगा। अपनी इन्हीं कसौटियों के आधार पर वह अंग्रेजी शिक्षा पद्धति को कसते हैं और उसके विविध दोष बताते हैं:

1. अंग्रेजी तालीम के कारण समाज में विद्वान और अविद्वान दो वर्ग बन गए।
2. अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त लोगों ने जीवनमान ऊँचा बनाया जो देश की सभ्यता के विरुद्ध था।
3. शिक्षा को काम के साथ नहीं जोड़ा गया¹³।

ऐसी स्थिति में वह शिक्षण में क्रांति हेतु सुझाव देते हैं:

1. शिक्षण को सरकारी तंत्र से स्वतंत्र बनाना चाहिए।
2. उसका माध्यम मातृभाषा होनी चाहिए।
3. उसमें दूसरी भाषा का स्थान हो, परंतु वह लाजिमी तौर पर न हो।
4. उसमें आध्यात्मिक शिक्षण का स्थान हो।
5. उसमें उद्योग का स्थान हो।
6. शिक्षक वानप्रस्थाश्रमी हो¹⁴।

इसी संदर्भ में वह नयी तालीम की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए उसे एक जीवन-दर्शन बताते हैं और एक नवीन समाज के निर्माण का माध्यम भी। इस तालीम में शरीर-श्रम और साम्य योग्य दोनों को ही प्रतिष्ठा होगी जिससे नवीन मूल्यों का विकास होगा:

“नयी तालीम एक जीवन-दर्शन है। नयी तालीम तो नए समाज का ही निर्माण करेगी। नयी तालीम के लिए मूल उद्योग का जरिया आदि तंत्र है, मंत्र यह है कि वह 'शरीर परिश्रमनिष्ठ और साम्ययोगी' होती है। नयी तालीम यानि नए मूल्यों की स्थापना¹⁵।”

विनोबा मानते हैं कि इस शिक्षण में काम से ज्ञान अर्जित होता है और ज्ञान से उपयोगी काम और दोनों के संयोजन से बुद्धि का विकास होता है। विद्यार्थी समाज के लिए एक उपयोगी सदस्य के रूप में काम कर सके इसके लिए आवश्यक है कि बाह्य और व्यावहारिक वातावरण से भी उनका साक्षात्कार कराया जाए। अतएव वह शिक्षा को उद्योग आधारित किए जाने के पक्षधर है। वह मानते हैं कि शिक्षण में तीन चीजें सीखनी चाहिए-

1. योग - प्रज्ञा स्थिर करना।
2. उद्योग - गुण विकास, उद्योग सीखना (कृषि भी शामिल)।
3. सहयोग - सहजीवन जीने का ज्ञान। इसमें समस्त समाजशास्त्र समाहित है¹⁶।

वह बार-बार इस बात पर जोर देते हैं कि जहाँ ज्ञान और कर्म का भेद समाप्त हो जाता है, वहीं नयी तालीम उपस्थित होती है। इसमें उद्योग के जरिए ही ज्ञान का विकास किया जाएगा और ज्ञान के माध्यम से उद्योग का। ज्ञान और कर्म एक-दूसरे में ओत-प्रोत रहेंगे। वह प्रचलित शिक्षण पद्धतियों को चार प्रकारों¹⁷ में बाँटते हैं-

1. **केवल पद्धति** - केवल बुद्धि विलास पर जोर। बाह्य आधार के बिना ज्ञान दिया जाता है जिससे जीवन के साथ समरसता नहीं हो पाती।
2. **परिशेष पद्धति** - शिक्षा के परिशिष्ट के रूप में उद्योग को स्थान प्रदान किया जाता है। उद्योग को मनोरंजन, खेल के रूप में अपनाया जाता है।
3. **समुच्चय पद्धति** - उद्योग और शिक्षण दोनों को समान महत्व देने का प्रयास किया जाता है परंतु एक-दूसरे के पूरक न होने से परस्पर मेल नहीं बैठता है।
4. **संयोजन पद्धति** - 'कर्म द्वारा ज्ञान' का सूत्र माना जाता है परंतु कर्म को गौण स्थान प्रदान किया जाता है। विनोबा इन चारों पद्धतियों को बतला कर एक नवीन पद्धति -**समवाय पद्धति**- को श्रेष्ठ बताते हैं। इस पद्धति में कोई एक जीवन व्यापी और विविध अंगयुक्त मूल उद्योग शिक्षण के माध्यम के तौर पर लिया जाता है। उद्योग शिक्षण का माध्यम एवं अनिवार्य अंग होता है। इस उद्योग के जरिए तीन उद्देश्यों¹⁸ की पूर्ति की जाती है-

1. बच्चे की सर्वांगीण शक्तियों का विकास करना।
2. उन्हें जीवनोपयोगी विविध ज्ञान देना।
3. उन्हें आजीविका का एक समर्थ साधन प्राप्त करा देना।

हम सभी वाकिफ हैं कि यह समवाय पद्धति ही नयी तालीम है। वह नयी तालीम की विशिष्टता को बताने के लिए पुरानी तालीम से उसकी तुलना करते हुए लिखते हैं-

“नयी तालीम में शरीर परिश्रम और मानसिक परिश्रम की नैतिक और आर्थिक योग्यता समान मानी जाएगी... नयी तालीम यानि नये मूल्यों की स्थापना। पुरानी तालीम चोरी करने को पाप समझती थी। नयी तालीम न सिर्फ चोरी को बल्कि अधिक संग्रह को भी पाप समझती है। पुरानी तालीम शारीरिक और मानसिक परिश्रमों के मूल्यों में फर्क करती थी। नयी तालीम दोनों का मूल्य समान समझती है। इतना ही नहीं, दोनों का समन्वय करती है, दोनों का 'समवाय' साधती है। पुरानी तालीम 'क्षमता' की इज्जत करती थी। नयी तालीम 'क्षमता' को 'समता' की दासी समझती है। पुरानी तालीम लक्ष्मी, शक्ति, सरस्वती को स्वतंत्र देवता रूप में पूजती थी। नयी तालीम मानवता को पूजती है और इन तीनों को उसकी सेवा का साधन समझती है।¹⁹”

हम देख सकते हैं कि विनोबा के नजरिए में नयी तालीम एक शिक्षण पद्धति मात्र नहीं है। वह नवीन मूल्य निर्मात्री भी है। यह मूल्य समाज में नवीन सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, शैक्षिक व्यवस्था की आधारशिला होंगे। अपने आप में यह शिक्षा पद्धति अहिंसक क्रांति की परिचायक है। विनोबा नयी तालीम को 'नित्य नयी तालीम' कहते हैं और स्पष्ट करते हैं कि यदि उसे टिकना है तो नित्य नूतन बनना होगा²⁰। नयी तालीम ब्रेड लेबर के सिद्धांत पर आधार रखती है, श्रद्धा रखती है।

विनोबा ने अपने विचारों में जिस व्यवस्था की कल्पना की वह एक अहिंसक समाज था। उस अमूर्त समाज की कल्पना को व्यावहारिक रूप में किस तरह से प्रकट किया जाए इसके लिए वह चार अनिवार्य तत्त्व स्पष्ट करते हैं जो हर एक समाज में होने चाहिए-

1. समर्थों का सामर्थ्य जन सेवा के लिए समर्पित हो।
2. जनता पूरी तरह स्वावलंबी और परस्पर सहयोग करने वाली हो।
3. नित्य के सहयोग और प्रासंगिक असहयोग या प्रतिकार का अधिष्ठान अहिंसा ही हो।
4. सबके प्रामाणिक परिश्रम की कीमत (नैतिक और आर्थिक) समान हो²¹।

निष्कर्ष :

सारत: यह कहा जा सकता है कि विनोबा ने जिस सर्वोदय समाज की रचना का खाका प्रस्तुत किया, उसका उद्देश्य सत्य और अहिंसा की नींव पर एक ऐसा समाज बनाने की कोशिश करना था जिसमें जात-पात न हो, जिसमें किसी का शोषण न हो और समूह और व्यक्ति को सर्वांगीण विकास करने का अबाधित अवसर मिले। शिक्षा की अपनी अवधारणा को भी गांधी से लेते हैं

परंतु उसमें अपनी मौलिकता का समावेश करते हुए उसकी नए संदर्भों में व्याख्या करते हैं। नयी तालीम समाज को दिशा प्रदान करने वाली मूल्य व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत होती है। आज राष्ट्रीय शिक्षा नीति:2020 जिन मूल्यों और आदर्शों को प्रस्तुत करती हैं, उसकी झलक विनोबा के नयी तालीम के विचारों में स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है। शिक्षा संबंधी विनोबा के विचार न केवल भारतीय दृष्टि को रेखांकित करते हैं अपितु यथार्थवादी भारतीय परिस्थितियों में समाज से उसके पास्परिक जुड़ाव को भी प्रकट करते हैं। शिक्षा के माध्यम से एक राष्ट्र के रूप में उन्नति का मार्ग यदि हमें चुनना है तो विनोबा उसके अनिवार्य पथप्रदर्शक होंगे।

संदर्भ :-

- ¹ टंडन, विश्वनाथ (1997). *आचार्य विनोबा भावे* (अनु. श्याम बिहारी राय). नई दिल्ली: प्रकाशन विभाग, भारत सरकार. पृ. ix
- ² पाण्डेय, जनार्दन (1986). *सर्वोदय का राजनीति दर्शन*. पटना: जानकी प्रकाशन. पृ. 11
- ³ श्रीवास्तव, जी.पी. (1998), द पॉलिटिकल एण्ड इकॉनॉमिक फिलासफी ऑफ विनोबा भावे. *विनोबा भावे: द बायोग्राफी ऑफ हिज विजन एण्ड आइडियाज*, (सं. ग्रोवर, विरेन्द्र). नई दिल्ली: दीप एण्ड दीप पब्लिकेशंस. पृ. 547
- ⁴ जोशी, शंभू (2017). *अहिंसक श्रम दर्शन: गांधी विचार के संदर्भ में*. जयपुर: प्राकृत भारती अकादमी. पृ. 192-193
- ⁵ चोलकर, पराग (सं.) (2002). *विनोबा-विचार-दोहन*. नई दिल्ली: नेशनल बुक ट्रस्ट. पृ. 1
- ⁶ विनोबा साहित्य, खंड-7, पृ. 125
- ⁷ वही, पृ. 384
- ⁸ विनोबा (1991). *शिक्षा विचार* (सं. मीरा भट्ट). वाराणसी: सर्व सेवा संघ प्रकाशन. पृ. 44
- ⁹ विनोबा साहित्य, खंड-14, पृ. 455
- ¹⁰ विनोबा साहित्य, खंड-17, पृ. 345-346
- ¹¹ श्री मन्नारायण (1998). *वन वीक विथ विनोबा. विनोबा भावे: ए बायोग्राफी ऑफ हिज विजन एण्ड आइडियाज* (सं. ग्रोवर, विरेन्द्र). नई दिल्ली: दीप एण्ड दीप पब्लिकेशंस. पृ. 514
- ¹² विनोबा साहित्य, खंड-17, पृ. 75
- ¹³ *विनोबा-विचार-दोहन*, पृ. 107
- ¹⁴ वही, पृ. 108
- ¹⁵ वही, पृ. 115
- ¹⁶ वही, पृ. 109-110
- ¹⁷ वही, पृ. 112-113
- ¹⁸ वही, पृ. 113
- ¹⁹ विनोबा साहित्य, खंड-17, पृ. 112-113
- ²⁰ विनोबा (1991). *शिक्षा विचार* (सं. मीरा भट्ट). वाराणसी: सर्व सेवा संघ प्रकाशन. पृ. 110
- ²¹ *विनोबा-विचार-दोहन*, पृ. 131

महिला सशक्तिकरण में 'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ' अभियान की प्रभावशीलता का अध्ययन

विजय लक्ष्मी गौतम*

gautam.vijay82@gmail.com

डॉ. विजयेन्दु चतुर्वेदी†

vijayendu.chaturvedy@gmail.com

सारांश

यह शोध पत्र 'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ' अभियान की महिला सशक्तिकरण में प्रभावशीलता का विश्लेषण करता है। यह अध्ययन उत्तर प्रदेश के अयोध्या जिले के ग्रामीण क्षेत्रों में किए गए सर्वेक्षण, साक्षात्कार और द्वितीयक आंकड़ों पर आधारित है। अध्ययन से स्पष्ट हुआ कि इस अभियान ने बालिकाओं की शिक्षा, सामाजिक स्थिति और आत्मनिर्भरता में उल्लेखनीय सुधार किया है। लिंगानुपात में सुधार, स्कूलों में बालिकाओं के नामांकन में वृद्धि और अभिभावकों की सोच में सकारात्मक परिवर्तन इसके प्रमुख संकेतक हैं। हालांकि कुछ क्षेत्रों में परंपरागत सोच और संसाधनों की कमी इस अभियान के प्रभाव को सीमित करती है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि 'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ' अभियान महिला सशक्तिकरण की दिशा में एक सार्थक पहल है, जिसे निरंतर सामाजिक जागरूकता, स्थानीय भागीदारी और संसाधनों की उपलब्धता के माध्यम से और अधिक प्रभावशाली बनाया जा सकता है।

बीज शब्द:

महिला सशक्तिकरण, बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ, बालिका शिक्षा, लिंगानुपात, सामाजिक परिवर्तन, ग्रामीण भारत, बाल अधिकार, आर्थिक आत्मनिर्भरता, अयोध्या जिला।

प्रस्तावना

भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति ऐतिहासिक रूप से उपेक्षित रही है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था और सामाजिक रूढ़ियों ने उन्हें शिक्षा, स्वास्थ्य, निर्णयनिर्धारण और आर्थिक आत्मनिर्भरता जैसे मूल अधिकारों से वंचित रखा। विशेष रूप से बालिकाओं के प्रति भेदभावपूर्ण दृष्टिकोण ने कन्या भ्रूण हत्या जैसी अमानवीय प्रवृत्तियों को जन्म दिया, जिससे लिंगानुपात में गंभीर असंतुलन उत्पन्न हुआ। इस असंतुलन और सामाजिक असमानता की पृष्ठभूमि में भारत सरकार ने 22 जनवरी 2015 को 'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ' (BBBP) अभियान की शुरुआत की। इस अभियान का उद्देश्य केवल कन्या भ्रूण हत्या को रोकना ही नहीं, बल्कि बालिकाओं की शिक्षा, सुरक्षा और सशक्तिकरण को बढ़ावा देना तथा समाज में उनके अधिकारों के प्रति जागरूकता फैलाना भी है।

महिला सशक्तिकरण केवल नीतिगत लक्ष्य नहीं है, बल्कि सामाजिक न्याय और समावेशी विकास की दिशा में एक आवश्यक कदम है। इसमें महिलाओं को आत्मनिर्भर बनाना, उन्हें शिक्षा, रोजगार, स्वास्थ्य और राजनीति में समान अवसर प्रदान करना, तथा सामाजिक, मानसिक और आर्थिक स्तर पर स्वतंत्र निर्णय लेने में सक्षम बनाना शामिल है। संयुक्त राष्ट्र और

* शोधार्थी, जनसंचार एवं पत्रकारिता विभाग, डॉ. राममनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, अयोध्या।

† सहायक आचार्य, जनसंचार एवं पत्रकारिता विभाग, डॉ. राममनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, अयोध्या।

अन्य वैश्विक संगठनों के अनुसार, महिला सशक्तिकरण के प्रमुख स्तंभकृशिक्षा, आर्थिक स्वतंत्रता, सामाजिक समानता, राजनीतिक भागीदारी और स्वास्थ्य सुरक्षा को यदि धरातल पर उतारा जाए तो किसी भी राष्ट्र की प्रगति में महिलाओं की भूमिका निर्णायक बन सकती है।

‘बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ’ अभियान ने इन सभी आयामों को संबोधित करने का प्रयास किया है। शिक्षा के क्षेत्र में यह अभियान विशेष रूप से प्रभावी रहा है, जहाँ बालिकाओं के नामांकन में वृद्धि और ड्रॉपआउट दर में कमी देखी गई। MWCD (2020) की रिपोर्ट के अनुसार, सरकारी स्कूलों में बालिकाओं के नामांकन में औसतन 15% की वृद्धि हुई, जबकि 2014 में जहाँ ड्रॉपआउट दर 17.3% थी, वह 2021 में घटकर 8.7% रह गई U-DISE। इसके साथ-साथ ‘सुकन्या समृद्धि योजना’ जैसे कार्यक्रमों ने बालिकाओं की आर्थिक सुरक्षा को सशक्त किया।

अभियान ने केवल नीतिगत हस्तक्षेप नहीं किया, बल्कि एक सामाजिक आंदोलन के रूप में समाज की मानसिकता बदलने का प्रयास भी किया। विभिन्न राज्यों में जागरूकता रैलियों, मीडिया अभियानों, नुक्कड़ नाटकों और सामुदायिक सहभागिता से बालिकाओं के प्रति नकारात्मक सोच में परिवर्तन आया है। पंचायत स्तर पर महिला प्रतिनिधियों की सक्रियता भी बढ़ी है, जिन्होंने बालिका शिक्षा को प्राथमिकता दी।

साहित्यिक सर्वेक्षण

शर्मा, रेखा (2019) “ग्रामीण भारत में बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ अभियान का प्रभाव” यह अध्ययन हरियाणा के ग्रामीण क्षेत्रों पर केंद्रित है और बताता है कि अभियान के चलते बाल लिंगानुपात में सुधार हुआ है और प्राथमिक विद्यालयों में बालिकाओं की उपस्थिति बढ़ी है। अध्ययन इस बात को रेखांकित करता है कि सामाजिक जागरूकता अभियानों; जैसे नुक्कड़ नाटक, रैली आदि का सकारात्मक मनोवैज्ञानिक प्रभाव हुआ है।

Ministry of Women and Child Development (MWCD) Report (2020) Annual Report on Beti Bachao Beti Padhao

इस सरकारी रिपोर्ट के अनुसार, 2015 से 2020 के बीच 100 से अधिक जिलों में बालिकाओं के नामांकन में औसतन 15% की वृद्धि हुई है। रिपोर्ट यह भी दर्शाती है कि मीडिया अभियानों के जरिए लोगों की सोच में बदलाव लाने का प्रयास किया गया और लिंग आधारित भेदभाव के खिलाफ जन जागरूकता बढ़ी है।

Ministry of Women and Child Development (MWCD) Report (2020)

NFHS-5 के अनुसार, बालिकाओं के स्वास्थ्य, पोषण और शिक्षा में कई राज्यों में सुधार हुआ है। खासकर उत्तर भारत में किशोरियों के विद्यालय में नामांकन और शौचालय जैसी मूलभूत सुविधाओं की उपलब्धता बेहतर हुई है, जो अभियान की सफलताओं में से एक मानी जा सकती है।

चौधरी, कुसुम (2022) महिला सशक्तिकरण की दिशा में नीतिगत प्रयासों की समीक्षा चौधरी का अध्ययन व्यापक रूप से महिला सशक्तिकरण के नीतिगत कार्यक्रमों जैसे BBBP, सुकन्या समृद्धि योजना और मिशन शक्ति को समाहित करता है। उनका निष्कर्ष है कि BBBP अभियान एक सामाजिक आंदोलन के रूप में कार्य कर रहा है, लेकिन इसकी स्थिरता और दीर्घकालीन सफलता स्थानीय संस्थाओं की सक्रियता और सामाजिक सहभागिता पर निर्भर करती है।

शोध अधिगम

भारतीय समाज में लिंग असमानता एक दीर्घकालिक सामाजिक समस्या रही है, जिसकी जड़ें सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक संरचनाओं में गहराई से समाई हुई हैं। विशेषकर बालिकाओं के जन्म, पालन-पोषण, शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे क्षेत्रों में यह असमानता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। इन चुनौतियों का समाधान करने के लिए भारत सरकार ने वर्ष 2015 में ‘बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ’ अभियान की शुरुआत की, जिसका उद्देश्य बालिकाओं के प्रति सामाजिक सोच में परिवर्तन लाना, उनके जन्म को प्रोत्साहित करना और शिक्षा तक उनकी पहुँच सुनिश्चित करना था। यह अभियान महिला सशक्तिकरण की

दिशा में एक महत्वपूर्ण पहल मानी जाती है, लेकिन इसकी वास्तविक प्रभावशीलता का मूल्यांकन करना अत्यंत आवश्यक है ताकि यह जाना जा सके कि क्या यह कार्यक्रम केवल प्रचार तक सीमित रहा या इसका जमीनी स्तर पर व्यावहारिक प्रभाव पड़ा है।

इस शोध पत्र का उद्देश्य उत्तर प्रदेश के अयोध्या जिले के ग्रामीण क्षेत्रों में 'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ' अभियान महिला सशक्तिकरण की दिशा में सरकार की पहलों की व्यावहारिक प्रभावशीलता को समझने और बालिकाओं की शिक्षा, स्वास्थ्य और अधिकारों के प्रति समाज के दृष्टिकोण में आए परिवर्तन का अध्ययन करना है।

अनुसंधान पद्धति

इस अध्ययन में वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक शोध पद्धति का उपयोग किया गया है, जिससे 'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ' अभियान की महिला सशक्तिकरण में प्रभावशीलता का गहराई से मूल्यांकन किया जा सके। शोध के लिए दोनों प्रकार के डेटा स्रोतों-प्राथमिक और द्वितीयक-का उपयोग किया गया। प्राथमिक स्रोत के रूप में उत्तर प्रदेश के अयोध्या जिले के ग्रामीण क्षेत्रों की 100 महिलाओं, शिक्षकों और अभिभावकों से प्रश्नावली एवं साक्षात्कार के माध्यम से डेटा संकलित किया गया। इन साक्षात्कारों ने जमीनी सच्चाई को उजागर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। द्वितीयक स्रोतों में भारत सरकार की विभिन्न रिपोर्टें, समाचार पत्र, पूर्व प्रकाशित अनुसंधान पत्र एवं महिला एवं बाल विकास मंत्रालय MWCD की आधिकारिक वेबसाइटों से प्राप्त आंकड़े शामिल किए गए। नमूना क्षेत्र विशेष रूप से अयोध्या जिले के ग्रामीण अंचलों को केंद्र में रखकर चुना गया, ताकि वहाँ पर अभियान के सामाजिक और शैक्षणिक प्रभावों को समझा जा सके। यह पद्धति अध्ययन को सटीकता और विश्वसनीयता प्रदान करती है।

महिला सशक्तिकरण के प्रमुख आयाम

'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ' अभियान ने महिला सशक्तिकरण के तीन प्रमुख आयामों - शैक्षणिक, आर्थिक और सामाजिक सशक्तिकरण में उल्लेखनीय प्रभाव डाला है। सबसे पहले, शैक्षणिक सशक्तिकरण की बात करें तो शिक्षा को महिला सशक्तिकरण की आधारशिला माना गया है। 'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ' के तहत सरकारी स्कूलों में बालिकाओं के नामांकन में औसतन 15% की वृद्धि दर्ज की गई (MWCD रिपोर्ट, 2020) जबकि 2014 में जहाँ स्कूल छोड़ने की दर 17.3% थी, वह 2021 तक घटकर 8.7% रह गई (U-DISE)। किशोरियों के लिए "सुकन्या समृद्धि योजना" जैसी योजनाएँ शुरू की गईं, जिससे न केवल बालिकाओं के भविष्य को सुरक्षित किया गया, बल्कि उनके माता-पिता को भी शिक्षा के लिए प्रेरित किया गया। आर्थिक सशक्तिकरण के अंतर्गत शिक्षित बालिकाएं रोजगार प्राप्त कर आत्मनिर्भर बनने लगी हैं। BBBP अभियान से जुड़े विभिन्न कार्यक्रमों ने स्वयं सहायता समूहों (SHGs) के माध्यम से ग्रामीण महिलाओं को वित्तीय साक्षरता प्रदान की, जिससे वे अपने पैरों पर खड़ी हो सकें। बालिकाओं की शिक्षा में निवेश से उनके भविष्य में बेहतर रोजगार और आर्थिक आत्मनिर्भरता की संभावना भी बढ़ी है। वहीं, सामाजिक और मानसिक सशक्तिकरण के क्षेत्र में यह अभियान सामाजिक दृष्टिकोण को बदलने में सहायक सिद्ध हुआ है। जन जागरूकता रैलियों, पोस्टरों, नुक्कड़ नाटकों और मीडिया अभियानों ने बालिकाओं के प्रति नकारात्मक सोच को चुनौती दी और उन्हें सम्मान तथा अवसर देने की दिशा में वातावरण तैयार किया। ग्राम पंचायतों में महिला प्रतिनिधियों की सक्रियता और बालिका शिक्षा को प्राथमिकता देने की प्रवृत्ति ने भी समाज में सकारात्मक बदलाव लाने का कार्य किया। इन समग्र प्रयासों ने महिला सशक्तिकरण को केवल एक नारे से आगे बढ़ाकर एक जमीनी हकीकत में परिवर्तित किया है।

आकड़ों का विश्लेषण

'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ' अभियान ने महिला सशक्तिकरण के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण सामाजिक आंदोलन का रूप लिया है। अयोध्या जिले के ग्रामीण क्षेत्रों में किए गए प्राथमिक शोध से यह स्पष्ट होता है कि 2015 में जहाँ बाल लिंगानुपात 910 था, वहीं 2021 में यह बढ़कर 919 हो गया। पांच गाँवों में 80% बालिकाएं नियमित रूप से स्कूल जाती हैं और 70% अभिभावकों ने माना कि अभियान के प्रभाव से उन्होंने बेटियों की शिक्षा को प्राथमिकता दी है। महिला शिक्षकों की नियुक्ति से

उपस्थिति में वृद्धि और किशोरी बालिकाओं के लिए स्वास्थ्य व स्वच्छता पर आधारित जागरूकता सत्र आयोजित किए गए। उत्तर प्रदेश में बाल लिंगानुपात 2011 में 902 से बढ़कर 2021 में 918 हुआ, और ग्रामीण बालिकाओं के नामांकन में 2014 के 86% से बढ़कर 2022 में 96% तक की वृद्धि दर्ज की गई। सर्वेक्षण के अनुसार, 80% अभिभावकों ने अपनी सोच में बदलाव स्वीकारा, 72% महिलाओं ने उपस्थिति में सुधार बताया, और 64% ने बेटियों को लड़कों के समान अवसर देना शुरू किया। इन आँकड़ों से स्पष्ट है कि 'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ' अभियान ने शिक्षा, सामाजिक दृष्टिकोण और महिलाओं की स्थिति में सकारात्मक परिवर्तन लाने में सफलता प्राप्त की है, इस परिवर्तन को टिकाऊ और व्यापक बनाने हेतु निरंतर प्रयास, सामाजिक सहयोग और मानसिकता में बदलाव की आवश्यकता है।

अभियान की सीमाएं

कुछ क्षेत्रों में अभियान केवल प्रचार तक सीमित रहा, जमीनी स्तर पर क्रियान्वयन कमजोर।

रूढ़िवादी सोच और पारंपरिक मूल्य अब भी बाधा बने हुए हैं।

कई ग्रामीण क्षेत्रों में स्कूलों की अधोसंरचना, महिला शिक्षकों की अनुपस्थिति जैसी व्यावहारिक समस्याएं।

निष्कर्ष

'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ' अभियान महिला सशक्तिकरण की दिशा में भारत सरकार की एक दूरदर्शी एवं सार्थक पहल सिद्ध हुई है। इस शोध अध्ययन में उत्तर प्रदेश, विशेषकर अयोध्या जिले के ग्रामीण क्षेत्रों में इस अभियान के प्रभावों का विश्लेषण किया गया, जिसके माध्यम से यह स्पष्ट हुआ कि अभियान ने न केवल नीतिगत स्तर पर बल्कि सामाजिक एवं मानसिक स्तर पर भी गहरा प्रभाव डाला है। बालिकाओं की शिक्षा, लिंगानुपात, अभिभावकों की सोच और सामाजिक दृष्टिकोण में उल्लेखनीय परिवर्तन इस अभियान की सफलता को दर्शाते हैं।

शोध से प्राप्त आँकड़ों से स्पष्ट होता है कि बाल लिंगानुपात में सुधार, स्कूलों में बालिकाओं के नामांकन में वृद्धि और ड्रॉपआउट दर में कमी जैसे बदलाव अभियान की प्रभावशीलता के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अयोध्या जिले के पाँच गाँवों में 80% बालिकाएं नियमित रूप से स्कूल जाती हैं और 70% अभिभावकों ने बेटियों की शिक्षा को प्राथमिकता देना स्वीकार किया है। यह परिवर्तन केवल नीतिगत प्रावधानों से संभव नहीं हुआ, बल्कि यह सामाजिक चेतना, जागरूकता अभियानों और समुदाय की भागीदारी का परिणाम है। महिला प्रतिनिधियों, स्वयं सहायता समूहों और स्थानीय नेतृत्व ने इस दिशा में प्रभावी भूमिका निभाई है।

अभियान के अंतर्गत लागू योजनाओं, जैसे सुकन्या समृद्धि योजना, ने न केवल आर्थिक सुरक्षा प्रदान की, बल्कि बालिकाओं के भविष्य को सुरक्षित कर उनके प्रति माता-पिता की सोच को भी बदला। शैक्षणिक सशक्तिकरण ने किशोरियों को आत्मनिर्भर बनाने की दिशा में कदम बढ़ाए, जिससे वे भविष्य में आर्थिक रूप से भी सक्षम हो सकें। आर्थिक सशक्तिकरण के अंतर्गत महिलाओं और बालिकाओं को वित्तीय साक्षरता से जोड़ना एक सकारात्मक प्रयास रहा है, जिससे ग्रामीण समाज में आत्मनिर्भरता की भावना को बल मिला है। सामाजिक सशक्तिकरण की दृष्टि से देखा जाए तो जागरूकता रैलियाँ, नुक्कड़ नाटक, मीडिया अभियान और पंचायत स्तर पर संवाद जैसे माध्यमों से समाज में बेटियों के प्रति सम्मान और समान अवसरों की भावना को बढ़ावा मिला है। अभिभावकों की मानसिकता में बदलाव, लड़कियों के प्रति चिंता के स्थान पर गर्व की भावना, और लड़कों के समान अवसर देने की सोच ने यह सिद्ध कर दिया है कि 'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ' अभियान एक सामाजिक आंदोलन के रूप में कार्य कर रहा है। जबकि कुछ क्षेत्रों में पारंपरिक सोच, संसाधनों की कमी और सामाजिक रूढ़ियों के चलते अपेक्षित परिणामों में बाधा आई है, परंतु इन चुनौतियों के बावजूद यह अभियान महिला सशक्तिकरण के मार्ग पर एक प्रभावी कदम सिद्ध हुआ है। इस अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ' केवल एक सरकारी योजना नहीं, बल्कि यह सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया का हिस्सा है।

इस अभियान की स्थायित्व और व्यापकता को बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि इसे निरंतरता मिले, स्थानीय स्तर पर समुदाय की भागीदारी को और प्रोत्साहित किया जाए तथा नीति निर्माण में जमीनी वास्तविकताओं को सम्मिलित

किया जाए। जब तक समाज के प्रत्येक वर्ग में बेटियों को समान अधिकार, सम्मान और अवसर नहीं मिलते, तब तक महिला सशक्तिकरण का लक्ष्य अधूरा रहेगा। इसलिए यह आवश्यक है कि इस पहल को केवल सरकारी कार्यक्रम के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक दायित्व के रूप में अपनाया जाए। तभी भारत एक समावेशी, समानता आधारित और सशक्त राष्ट्र के रूप में आगे बढ़ सकेगा।

सुझाव

- पंचायत और ग्राम स्तर पर महिला शिक्षा के लिए विशेष निगरानी समितियों का गठन।
- सोशल मीडिया के माध्यम से सफल कहानियों को उजागर कर प्रेरणा देना।
- स्कूली पाठ्यक्रम में लैंगिक समानता पर आधारित विषयों को शामिल करना।
- आंगनबाड़ी, आशा कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षण देकर अभियान के कार्यान्वयन में शामिल करना।

संदर्भ

1. Ministry of Women and Child Development. (2020). Annual report on Beti Bachao Beti Padhao (2015–2020). Government of India. Retrieved from https://nipccd-earchive.wcd.nic.in/sites/default/files/PDF/Executive%20Summary_HLC_0.pdf
2. Unified District Information System for Education (U-DISE). (2014–2022). Educational statistics reports. Ministry of Education, Government of India. <https://udiseplus.gov.in>
3. Ministry of Health and Family Welfare. (2021). National Family Health Survey (NFHS-5), 2019–21: India Fact Sheet. Retrieved from http://rchiips.org/nfhs/NFHS-5_FCTS/India.pdf
4. Dainik Jagran. (2021–2022). Various news articles on ‘Beti Bachao, Beti Padhao’ campaign in Uttar Pradesh.
5. The Hindu. (2019–2022). Reports on girl child education and gender parity.
6. India Today. (2020). Coverage of ‘Beti Bachao, Beti Padhao’ campaign impact stories.
7. Ministry of Women and Child Development. (n.d.). Beti Bachao, Beti Padhao scheme – Official guidelines and updates. <https://wcd.nic.in/schemes/beti-bachao-beti-padhao-scheme>
8. Office of the Registrar General & Census Commissioner, India. (2011). Primary census abstract – Gender composition. Government of India. <https://censusindia.gov.in>
9. Press Information Bureau. (n.d.). Updates and success stories on BBBP. Government of India. <https://pib.gov.in>
10. Sharma, R. (2019). Grameen Bharat mein Beti Bachao, Beti Padhao Abhiyan ka Prabhav (The impact of Beti Bachao, Beti Padhao campaign in rural India). Haryana: Self-published study.
11. Chaudhary, K. (2022). Mahila sashaktikaran ki disha mein neetigat prayason ki samiksha (Review of policy efforts towards women's empowerment). Delhi: National Policy Research Centre.

‘गदर’ उपन्यास में राष्ट्रीय चेतना और 1857 की क्रांति का चित्रण

हिमांचल*

himanchal98676@gmail.com

सारांश

भारत हमेशा से समृद्ध राष्ट्र रहा है। यहाँ की समृद्धि, धन संपदा देख प्राचीन काल से ही विदेशी आक्रमणकारी हमला करते रहे हैं और यहाँ की सभ्यता संस्कृति को नष्ट करने और लूटने का प्रयास किया है। उसी तरह अंग्रेजी शासन में भी भारत लगभग दो सौ सालों तक गुलाम रहा। जिसकी मुक्ति के लिए स्वाधीनता आंदोलन की लहर गूँजी। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम केवल राजनीतिक आंदोलन नहीं था, यह सांस्कृतिक और साहित्यिक पुनर्जागरण का भी एक महत्वपूर्ण काल था। साहित्य ने इस संघर्ष को शब्द दिए, भावनाएँ दीं और जनता के भीतर राष्ट्रप्रेम की ज्योति प्रज्वलित की। औपनिवेशिक शासन ने जब भारतीय जनमानस में स्वतंत्रता की चेतना को दबाने का प्रयास किया, तब लेखकों ने अपनी लेखनी से उनमें स्वतंत्रता, क्रांति और जन-जागरण की चेतना जगाने का काम किया। ऋषभचरण जैन का उपन्यास ‘गदर’ भी इसी श्रेणी में आता है। जिसका प्रकाशन 1930 में हुआ। यह उपन्यास 1857 के प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम पर आधारित है, जो भारतीय जनमानस के शौर्य, त्याग और बलिदान का दस्तावेज़ बन गया। इस शोधपत्र का लक्ष्य है यह विश्लेषण करना कि गदर नामक उपन्यास किस प्रकार स्वाधीनता संग्राम की चरित्र, संघर्ष, और मानसिकता को साहित्य में प्रतिबिंबित करता है। उपन्यास की संरचना, पात्र-निर्माण, भावों की अभिव्यक्ति, ऐतिहासिकता और साहित्यिक तकनीक के माध्यम से यह अध्ययन किया जाएगा कि कैसे गदर उपन्यास पाठकों को आंदोलन की वास्तविकता से जोड़ता है।

बीज शब्द –

स्वाधीनता आंदोलन, संग्राम, क्रांति, बलिदान, स्वतंत्रता, राष्ट्र, राष्ट्रीय चेतना, औपनिवेशिक

प्रस्तावना

1857 की क्रांति भारतीय इतिहास का वह समय है जिसने गुलामी के अंधकार में पहली बार स्वतंत्रता का दीप जलाया। यह आंदोलन यद्यपि तत्कालीन रूप में असफल रहा, परंतु उसने आने वाले युगों के लिए क्रांति और स्वराज्य का बीज बो दिया। यह वही काल था जब भारतीय समाज में आधुनिक चेतना का संचार हुआ और साहित्य ने इस चेतना को अपनी रचनात्मक भाषा दी।

हिंदी साहित्य में इस काल की अनेक रचनाएँ सेंसरशिप की भेंट चढ़ीं। ब्रिटिश सत्ता ने उन्हें प्रतिबंधित किया क्योंकि वे जनता में स्वतंत्रता की भावना जगाती थीं। ऐसी ही रचनाओं में ऋषभचरण जैन का उपन्यास ‘गदर’ अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह उपन्यास 11 अध्यायों में विभक्त है। यह न केवल 1857 की घटनाओं का पुनर्निर्माण करता है, बल्कि उस समय की राष्ट्रीय चेतना, नारी विमर्श, नैतिक संघर्ष और बलिदान की भावना को साहित्यिक रूप में प्रस्तुत करता है। “उपन्यास में, अंग्रेजों द्वारा दीन-हीन ग्रामीणों, निर्दोष नागरिकों एवं निरपराध सैनिकों पर हुए पाशविक अत्याचारों का, बड़ा मर्मस्पर्शी वर्णन हुआ है। प्रति-हिंसा की अग्नि में जलते हुए अंग्रेजों ने, बड़ी निष्ठुरता के साथ भारतीयों का रक्त बहाया, सहस्रों निर्दोष व्यक्तियों को फाँसी पर लटका कर और उनकी फटी हुई आँखें, निकली हुई देहें देख-देखकर, अच्छी तरह से अपना कलेजा ठंडा किया।”¹

* शोधार्थी, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

‘गदर’ उपन्यास के लेखक ऋषभचरण जैन हिंदी के पुराने और प्रखर देशभक्त लेखक थे। यह उपन्यास जब पहली बार प्रकाशित हुआ, तब ब्रिटिश सरकार ने इसे अपनी नीति के विरुद्ध समझते हुए तुरंत ज़ब्त (प्रतिबंधित) कर लिया। स्वतंत्रता के बाद वर्ष 1952 में इसे पुनः प्रकाशित किया गया। “ऋषभचरण जैन हिंदी के पुराने लेखक हैं। उनका यह उपन्यास आज से प्रायः 20 वर्ष पहले प्रथम बार प्रकाशित हुआ था। परंतु तत्कालीन सरकार ने इसे अपनी नीति के विरुद्ध समझकर प्रकाशित होने के साथ-साथ ही ज़ब्त कर लिया और इसका प्रचार रुक गया। विदेशी शासकों ने क्रांतिकारी तथा 1857 के प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम से संबंधित प्रायः सभी साहित्य को जब तब ज़ब्त कर लेना अपनी एक नीति बना ली थी। इसीकी चपेट में श्री ऋषभचरण जी की अनेक पुस्तकें भी आईं। प्रस्तुत उपन्यास गदर भी उनमें से एक था।”² इस उपन्यास में लेखक ने 1857 की क्रांति के आरंभ, उसके कारणों, क्रांतिकारियों की योजनाओं, उनकी असफलताओं तथा उनके त्याग और बलिदान को अत्यंत भावनात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है।

उपन्यास में नानासाहेब पेशवा, अजीमुल्ला खान, तात्या टोपे, मैना, बाबा भट्ट, टीकम सिंह जैसे पात्र केवल ऐतिहासिक प्रतीक नहीं, बल्कि राष्ट्रप्रेम और जन-चेतना के प्रतीक हैं। जो अपने बलिदान, त्याग और शौर्य से स्वाधीन भारत का सपना लेकर स्वाधीनता आंदोलन में कूद पड़े थे। जिसका मुख्य कारण ‘लैप्स की नीति’, ‘कारतूस प्रकरण’, धार्मिक हस्तक्षेप, आर्थिक शोषण और सांस्कृतिक अपमान ने भारतीय समाज को विद्रोह के लिए विवश कर दिया।

‘गदर’ उपन्यास में ऋषभचरण जैन ने इसी युगीन परिस्थितियों को अपनी कथा का आधार बनाया है। उन्होंने यह दिखाया कि किस प्रकार अंग्रेजी सत्ता की चालाक नीतियों ने भारतीय राजाओं और आम जनता दोनों को अपमानित किया। नानासाहेब पेशवा की पेंशन बंद कर दी जाती है — यह घटना ब्रिटिश नीति के अहंकार और भारतीय आत्मसम्मान के संघर्ष का प्रतीक है।

अजीमुल्ला खान का चरित्र उपन्यास का बौद्धिक और वैचारिक केंद्र है। वे वह व्यक्ति हैं जो विदेशी भूमि पर जाकर यह समझते हैं कि भारत की दुर्दशा का मूल कारण उसका पराधीन होना है। उनके नेतृत्व में ‘गदर दल’ का गठन होता है जिसमें टीकमसिंह, तात्या टोपे, बाबा भट्ट, बलराव आदि देशभक्त शामिल होते हैं। लेखक ने अजीमुल्ला के माध्यम से यह संदेश दिया है कि क्रांति केवल हथियारों से नहीं, विचारों से भी लड़ी जाती है।

अजीमुल्ला खान जब इंग्लैंड जाकर अंग्रेजों का वास्तविक स्वरूप देखते हैं, तो उन्हें यह ज्ञात होता है कि भारत का धन और श्रम यूरोप के युद्धों में अंग्रेजों की शक्ति का आधार है। वहाँ से लौटकर वे भारत की स्वतंत्रता के लिए संकल्प लेते हैं। इस प्रसंग में लेखक ने औपनिवेशिक शोषण की गहराई को बड़ी संवेदनशीलता से दिखाया है।

लेखक ने हर पात्र के माध्यम से यह बताया कि स्वतंत्रता केवल राजनीतिक लक्ष्य नहीं, बल्कि नैतिक और मानवीय आवश्यकता है। अजीमुल्ला खान जब यूरोप से लौटकर भारत में क्रांति की योजना बनाते हैं, तो वे कहते हैं — “भारतवर्ष से आया हुआ करोड़ों मन अनाज संग्राम भूमि में जमा है। उसी के बल पर अंग्रेज फ्रांसीसियों को मानो मोल खरीदे हुए थे। उसी के बल पर रूस की तोपों से मर मरकर भी जी रहे थे, उसी के बल पर वे युद्ध भूमि में अपनी शक्ति अक्षुण्ण बनाए हुए थे और भारतवर्ष से छिनी हुई रोटी के बल पर ही उन्होंने यूरोप में अपना आतंक जमा रखा था।”³ यह वाक्य औपनिवेशिक शोषण के प्रति तीव्र विरोध और आत्मबोध का प्रतीक है। ‘गदर’ के पात्र यह समझ चुके हैं कि अंग्रेज भारत की संपदा और संस्कृति का दोहन कर अपने साम्राज्य को मजबूत कर रहे हैं। इसीलिए वे देश को स्वतंत्र देखने के लिए प्राण देने को भी तैयार हैं।

नानासाहेब पेशवा उपन्यास के प्रमुख पात्रों में से एक हैं। प्रारंभ में वे अंग्रेजों के प्रति विश्वास और श्रद्धा रखते हैं, क्योंकि उन्होंने मुगल शासन की अव्यवस्था और शोषण को देखा था। किंतु जब उन्हें स्वयं अंग्रेजों के छल और अन्याय का अनुभव होता है, तब उनके भीतर विद्रोह की ज्वाला प्रज्वलित हो उठती है। जब अंग्रेज सैनिक मैना के साथ दुर्व्यवहार करता है और उसे कोई डंड नहीं दिया जाता, तब नानासाहेब क्रोध से भर उठते हैं — “फिरंगियों का नाश होगा... सेनापति का गला काटूंगा... चार्ल्स का कलेजा फाड़ेगा।”³ यह संवाद उस समय के भारतीय समाज के भीतर सुलग रही असंतोष की भावना का प्रतिनिधित्व करता है। नानासाहेब का यह परिवर्तन ‘राजा से क्रांतिकारी’ बनने की प्रक्रिया है, जो 1857 की क्रांति के ऐतिहासिक चरित्रों के अनुरूप है। उनके भीतर का संघर्ष राष्ट्रप्रेम, त्याग और कर्तव्य का उदाहरण है।

उपन्यास में मैना नारी चेतना और राष्ट्रप्रेम का प्रतीक है उपन्यास का सबसे जीवंत और भावनात्मक पक्ष है – मैना का चरित्र वह नानासाहेब की पुत्री है, जिसमें भारतीय नारी की सौम्यता, सच्चाई, प्रेम और त्याग की अद्भुत शक्ति है। मैना अजीमुल्ला खान से प्रेम करती है, परंतु जब उसे समझ में आता है कि उनका राष्ट्रप्रेम उससे भी बड़ा है, तो वह स्वयं अपने प्रेम का बलिदान कर देती है। मैना कहती है “जिस दिन तुम भारत-वसुंधरा को विदेशियों के शासन से मुक्त करोगे, उसी दिन मुझे पाओगे।”⁴ यह वाक्य न केवल व्यक्तिगत प्रेम का त्याग है, बल्कि राष्ट्र के प्रति नारी की समर्पण भावना का उत्कट उदाहरण है। मैना का प्रेम एक आदर्श प्रेम तो है ही साथ ही देशभक्त भी है। इसका उदाहरण अपने प्रेमी को पत्र में स्वाधीन भारत के लक्ष्य पर दृढ़ रहने को कहती है – “तुम प्राण प्रण से मातृ-भूमि का उद्धार करने में लगे रहना। आखिरी सांस तक दुश्मनों को आत्मसमर्पण न करना। जब तक जीवित रहो, भारत भूमि से फिरंगियों का लोप करने में संलग्न रहना।”⁵ यह बात मैना की अपने प्रेम से बढ़कर देश प्रेम और उसके प्रति कर्तव्य को दिखाता है।

मैना और मालती के वार्तालाप कहना कि-“कैसी दुर्दशा है? कैसी विडंबना है? रियासत छिनी, गद्दी छिनी, पेंशन छिनी, अब रहे-सहे को भी ये पापी फिरंगी हड़प लिया जा रहे हैं।”⁶ मैना का यह कथन विदेशी शासन ने किस प्रकार से भारतवर्ष को पराधीन कर खोखला कर दिया गया है; को संकेतित करता है, वही उसके भारतीय नारी के उदात्त चरित्र की सृष्टि करता है। मैना के माध्यम से लेखक ने यह दिखाया है कि स्वतंत्रता आंदोलन केवल पुरुषों का नहीं, बल्कि स्त्रियों की त्यागमयी चेतना का भी परिणाम था। मैना अंततः अपने प्राणों की आहुति देती है, जो राष्ट्र के लिए आत्मबलिदान का प्रतीक बन जाती है।

उपन्यास में सेनापति वहीलर की आत्महत्या के बाद हैवलॉक हिन्दुस्तानियों पर अत्याचार करता है उपन्यास में देख सकते हैं- “हिन्दुस्तानियों के गिरोह के गिरोह फाँसी पर चढ़ गए। सबसे पहले गोरे और सिक्ख सिपाहियों को नगर लूटने की आज्ञा दी गई। इसके बाद फाँसियों का बाजार गर्म हुआ। लिखा है-कि बीबीगढ़ की जमीन के ऊपर खून का एक बड़ा धब्बा था। सन्देह था कि यह खून गोरी मेमों और बच्चों का है। शहर के अनेक ब्राह्मणों को लाकर जिन पर ‘सन्देह था’ कि उन्होंने विप्लव में भाग लिया है उन्हें उस खून को जबान से चाटने और फिर झाड़ से घोंकर साफ करने की आज्ञा दी गई। इसके बाद उन लोगों को फाँसी दे दी गई इससे स्पष्ट है कि अंग्रेज शासक बाद में थे, नर-पिशाच पहले।”⁷

‘गदर’ में लेखक ने यह स्पष्ट किया है कि 1857 की क्रांति की असफलता के पीछे कई कारण थे — संगठन का अभाव, नेतृत्व की कमी, सीमित संसाधन, मध्यवर्ग की निष्क्रियता आदि। फिर भी यह संग्राम भारतीय इतिहास में स्वतंत्रता की चेतना का प्रथम संगठित प्रयास था। उपन्यास के अंत में जब नानासाहेब की सेना पराजित होती है और अजीमुल्ला खान आत्मबलिदान करते हैं, तब लेखक यह दिखाते हैं कि यद्यपि शरीर नष्ट हो गए, परंतु ‘गदर की आत्मा’ अमर रही। लेखक लिखते हैं – “17 जुलाई को हजारों असफल देशभक्तों का नाम-निशान मिट गया, पर जनरल हैवलॉक का अत्याचार इतिहास में अमर हो गया।”⁸ इस वाक्य में एक गहरी व्यंग्यात्मक करुणा है। यह बताता है कि इतिहास भले विजेताओं का लिखा जाता है, किंतु सत्य सदैव पराधीनों की आह से गूँजता रहता है।

व्यक्ति को किसी भी परिस्थिति में स्वाधीनता के लिए आत्मविश्वास बनाए रखने और आशा की किरण जगाए रखने के लिए आह्वान किया गया है, हमें हार नहीं माननी चाहिए जैसे उपन्यास में हमीद जैसे सेनानी को हताश देख कर उसका उत्साह बढ़ाया गया है। “क्यों रोते हो? रोना भी कोई वीरता है? आदमी परिश्रम करता है, सफलता असफलता, दोनों में से कोई एक मिलती है। अगर सब कामों में सफलता अनिवार्य हो जाए, तो सफलता का मूल्य ही क्या रह जाएगा, शांति धारण करो, फौलाद की तरह दृढ़ हो जाओ।”⁹ ऋषभ जी यहां उस समय स्वाधीनता आंदोलन को किसी में परिस्थिति में कमजोर न पड़ने के लिए प्रेरित करते हैं। ताकि फिर से आंदोलन जारी रहे और एक दिन हमारा राष्ट्र अवश्य आजाद होगा अजीमुल्ला खान युवक को समझाते हुए कहता है कि-“घबराओ नहीं बिरादर, हिंदोस्तान आजाद होगा और होगा।”¹⁰

उपन्यास में लेखक ने 1857 की घटनाओं को यथार्थ और कल्पना के संगम से जीवंत किया है। पाठक को ऐसा प्रतीत होता है मानो वह स्वयं उस क्रांति का साक्षी हो। यह उपन्यास भारत के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम का भावनात्मक इतिहास है, जिसमें राष्ट्रप्रेम, आत्मसम्मान और स्वतंत्रता की आकांक्षा स्पष्ट झलकती है। ब्रिटिश सरकार द्वारा इसका प्रतिबंधित किया जाना इस बात का प्रमाण है कि यह रचना सत्ता के लिए खतरा थी। यह केवल साहित्य नहीं, बल्कि विचार की क्रांति थी। उपन्यास की भाषा भावनात्मक, आक्रोशपूर्ण और ओजस्वी है। संवादों में राष्ट्रप्रेम की तीव्रता और आक्रोश दोनों झलकते हैं।

निष्कर्ष

‘गदर’ केवल अतीत की कथा नहीं, बल्कि भविष्य के लिए प्रेरणा है। इस उपन्यास ने उस दौर में यह विश्वास जगाया कि कलम की शक्ति तलवार से कम नहीं होती। भारत के स्वतंत्रता संग्राम में ऐसे साहित्य ने जनता के भीतर अदम्य साहस भरा। देशभक्ति केवल युद्धभूमि में नहीं, बल्कि मन और विचारों में भी राष्ट्रीय चेतना होनी चाहिए। स्वतंत्रता की लड़ाई में नैतिकता, त्याग, और प्रेम का बल सबसे बड़ा होता है। कोई भी अन्याय हमेशा के लिए स्थायी नहीं हो सकता; सत्य और स्वाधीनता अंततः विजयी होते हैं। ऐतिहासिक घटनाओं और राजनीतिक संघर्ष को साहित्यात्मक रूप से जीवंत करता है। राष्ट्रीय चेतना, देशभक्ति, त्याग, मानवावस्था की भावनाएँ प्रस्तुत करता है। आंदोलन की जटिलता (घुसपैठ, डर, संघर्ष, सामाजिक प्रतिबंध) को मानव दृष्टिकोण से दर्शाता है। लेकिन साथ ही इसे सीमाएँ भी हैं। सामाजिक विविधता की पूर्ण अभिव्यक्ति, स्त्री या द्वितीय-स्तरीय वर्गों की आवाज़, और विद्यमान स्रोतों की तुलना में शोध-आधारित ऐतिहासिक तथ्य-प्रदर्शन। आखिरकार, गदर उपन्यास भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के साहित्यिक प्रतिफलन का एक अमूल्य स्रोत है—जो हमारी आज की समझ को प्रगाढ़ करता है, इतिहास को पुनर्जीवित करता है, और भावनात्मक एवं बौद्धिक जागृति के लिए प्रेरित करता है। ‘गदर’ उपन्यास हिंदी साहित्य में राष्ट्रीय चेतना, ऐतिहासिक पुनर्निर्माण और नारी-बलिदान की त्रिवेणी है। यह उपन्यास 1857 की क्रांति का केवल इतिहास नहीं बताता, बल्कि उस युग की आत्मा को जीवित करता है। अजीमुल्ला खान, नानासाहेब और मैना जैसे पात्र भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की विचारधारा का मूर्त रूप हैं। अंग्रेजी सत्ता ने इस रचना को प्रतिबंधित किया, क्योंकि इसमें स्वराज्य का उद्घोष था। ‘गदर’ यह सिखाता है कि स्वतंत्रता के लिए किया गया प्रत्येक प्रयास, चाहे वह तत्काल असफल क्यों न हो, आने वाले युगों की नींव बनता है। अतः ‘गदर’ केवल एक उपन्यास नहीं, बल्कि भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की वैचारिक ज्वाला है जिसने आने वाली पीढ़ियों को यह संदेश दिया कि राष्ट्रहित के लिए हमें हमेशा तत्पर रहना चाहिए। “देशप्रेम सर्वोच्च धर्म है, और स्वतंत्रता उसका सर्वोत्तम वरदान।”

संदर्भ :

1. रत्नाकर, मोहनलाल. *प्रेमचंद युग का हिंदी उपन्यास*. ऋषभचरण जैन एवं संतति, प्रथम संस्करण, 1979, पृ. 158.
2. जैन, ऋषभचरण. *गदर*. ज्ञान पब्लिकेशन, 1952, “प्रकाशकीय भूमिका”.
3. जैन, ऋषभचरण. *गदर*. ज्ञान पब्लिकेशन, 1952, पृ. 32.
4. जैन, ऋषभचरण. *गदर*. ज्ञान पब्लिकेशन, 1952, पृ. 59–60.
5. जैन, ऋषभचरण. *गदर*. ज्ञान पब्लिकेशन, 1952, पृ. 96.
6. जैन, ऋषभचरण. *गदर*. ज्ञान पब्लिकेशन, 1952, पृ. 50–51.
7. जैन, ऋषभचरण. *गदर*. ज्ञान पब्लिकेशन, 1952, पृ. 135.
8. जैन, ऋषभचरण. *गदर*. ज्ञान पब्लिकेशन, 1952, पृ. 135.
9. जैन, ऋषभचरण. *गदर*. ज्ञान पब्लिकेशन, 1952, पृ. 49.
10. जैन, ऋषभचरण. *गदर*. ज्ञान पब्लिकेशन, 1952, पृ. 43.

The Theatre of Kavalam Narayana Panikkar: An Overview

Darshan Satishchandra Purohit*
ds-dramatics@msubaroda.ac.in

Abstract

Late Shri Kavalam Narayana Panikkar holds a unique place in the post-Independence Sanskrit Theatre by virtue of connecting the regional artistic practices of Kerala with the productions of Sanskrit classical plays. He was instrumental in revitalizing the tradition of Natyashastric Play Production in the contemporary epoch.

The present paper seeks to overview Panikkar's productions of Mahakavi Bhasa's plays, all the plays of Kalidasa as also the production of Bhavabhuti's Uttara Ramacharitam and gives an idea how the dramatic text gets transformed into the performance text, in his theatre.

Key Words

Panikkar, Sanskrit Theatre, Natyashastric Tradition, Bhasa, Kalidasa, Bhavabhuti, Dramatic Text, Performance Text.

Introduction

Late Shri Kavalam Narayana Panikkar was one of the finest theatre directors of our times who had connected the Sanskrit theatre to the regional artistic practices of Kerala and thus had brought new energy to Sanskrit theatre practice. Hence Panikkar's theatre is also seen as the revitalisation of Sanskrit theatre.

Panikkar's theatre was simultaneously classical and contemporary. Fold traditions and classical conventions had merged in his work in a unique and intense manner making the categories of classical, fold and contemporary seem inadequate in describing his work. It is quite sad that the present day theatre criticism has not developed concepts and strategies to analyse, understand and evaluate Panikkar's theatre. This paper is an humble attempt to provide an overall insights into the structures, theatrical devices, vision and struggles of Panikkar's unique theatre. It also aims at engaging in re-viewing and re-analysing the process and performances of Panikkar thereby seriously evaluating the birth, evolution, success and limitations of the Panikkar phenomenon in modern Indian theatre especially in the context of Sanskrit play production.

Panikkar has directed many plays of Mahakavi Bhasa, all the plays of Kalidasa, Bhavabhuti's 'Uttar Ramachartim', Bodhayana's 'Bhagvadajjukiyam', M.V. Varman's Mattavitasam, Shaktibhadra's

* Associate Professor and Head, Department of Dramatics, Faculty of Performing Arts, The Maharaja Sayajirao University of Baroda, Vadodara – 390001, Gujarat

‘Maya Sita Ankam’ etc. creating his own performance text which he calls ध्वनि पाठ or sub-text, following Vyangyavyakhyā or the aesthetics of dhvani in Theatre. The project would also critically analyse and evaluate the performance text created by Panikkar while comparing it with the original dramatic text of the playwright.

Panikkar’s Production of Bhasa’s Plays

(a) Mahabharata Plays

According to Panikkar when the epic like Mahabharata transforms into performance of any kind, the theme undergoes a rebirth, which involves a total reassessment of the thought process. The performance has an interpretative function which is different from that which the epic envisages. Hence Bhasa is taken here as the archetypal playwright and Vyasa as the archetypal narrator. The nearer to Vyasa is more of narration, and the more of action is nearer to Bhasa. The macro-text vs the micro-text, साहित्य vs, अभिनय, narration vs action, event vs character and वाच्य vs सूच्य – this scheme is applicable for the evaluation of any dramatized text, whether it is from oral or from written source material observes Panikkar in his article on ‘Mahabharata reflected in Performance.’

(i) Madhyama Vyayoga

In ‘Madhyama Vyayoga’ Panikkar finds Bhasa critically analysing the subtle righteousness or otherwise (धर्म or अधर्म) involves in the character of Ghatotkacha who is described as the hater of the Brahmanas and of sacrifices and a sinner and as such Krishna rejoices when the demon is killed by Karna in battle. What we find in ‘Madhyama Vyayoga’ is a totally different picture. The stress of the spirit of morality in the character of Ghatotkacha is of significance in the play. The texture of this character and its visual impact provide a highly imaginative basic material for acting in Theatre, observes Panikkar.

With the staging of the ‘Madhyama Vyayoga’ (1980) directed by K.N. Panikkar, a new phase of the Sanskrit theatre began, not only at the Kalidasa Festival at Ujjain, but elsewhere in the country, too. Panikkar relied on the ‘tauryatrikam-nrtya, gita and vadya’ which became integral to the production reflecting the natya tradition and yet marked by his stamp of individuality. For his inspiration he learned heavily on the regional classical forms, borrowing elements from Kathakali, such as, dance movements, postures and hand-gestures as well as speech from Kutiyattam. And this opened up the doors to regional popular dramatic traditions which also were neglected by the urban elite as they had done in the case of the Sanskrit drama.

(ii) Dootavakyama

As observed by Panikkar, in this play Bhasa compresses the story of Krishna’s visit into a single Act. The wickedness of Duryodhana is emphasised and so is the divine power of Krishna. The old king appears only at the end to entreat Krishna’s forgiveness. Before that, Duryodhana appears as the actual ruler, and he is represented as threatening of fine the princes if they rise to honour Krishna. The introduction of the painted scroll as part of the plan to insult the envoy is an invention of the dramatist. In the epic Krishna reveals his true form. In the play he is definitely identified with Vasudeva, Narayana and the discus speaks at length about the others. There is nothing of this in the

epic. The passage describing Vishnu's weapons is by a later hand. An interesting feature of this play is the way in which all the Kuru assembly is played by one actor – at least one man does all the talking, the rest could be imagined or indicated by a few supers. In his production Panikkar had presented the characters painted in the 'chitrapata' depicting Draupadi's vastrapharana. He also presented the weapons of Krishna as characters as they have all something to contribute to the subtext.

(iii) Karnabharam

Panikkar finds Karna as the victim of a universal conspiracy of the celestial. Surya the father of Karna and Indra the father of Arjuna represent the basic sources of conflict, a phenomenon of universal dimension, reflecting and reacting on a single individual, whose destiny is put to a rigorous test, the consequences of which could not be borne by the fragile mortal frame of the man. Hence when the Brahmin begs the kavacha, Panikkar presents Indra behind and makes it clear to the audience that he is the father of Arjuna in disguise anxious to save his son. The love and care of the disciple to his guru is evident in the Parshurama incident. Karna is an ideal disciple, ironically Parshurama is not the model of a preceptor. Kunti vails, but there is an element of selfishness in her new fondness towards the eldest son. The common factor in all the three incidents is cheating. Mother cheats her son, guru his disciple and the God the foe of his son. Parshurama can rise a feeble justification that he was cheated. There too the blame does not fall on the student. The insect – Indra himself in disguise – was a case of external intervention. However, Karna was at the receiving end in all these cases. None helped him nor understand his nobility. This interpretation instills new life to Karna. One leaves the hall believing that honor does not lie in victory, defeat too is great, perhaps more rewarding.

(iv) Urubhangam

Duryodhana is an embodiment of all that is evil in the epic. Bhasa presented him as an ideal king in one of this plays – the Pancharatra. His mother calls him only as Suyodhana – one who fights well. The ill-fight, here also, was not from his part. It was from the part of his adversary. So, who actually is the Kuru hero? Kavalam, raises this question. He finds out the answer. The Kaurava king as may be thought is not one. He is two – Duryodhana and Suyodhana, mutually contradictory. Yet complementary Panikkar says in his Director's note, "In this production, it is attempted to recreate, the fury and tragedy by creating two Duryodhanas. One, the warmonger and the other his Theyyam, which we may call Suyodhana, suggesting the good qualities in him which spring out from at the ultimate moment his thighs are fatally broken by Bhimasena. Of the two-fold aspect of the hero, the mundane one is the mortal existence of the Duryodhana struggling under the pangs of death. The other is his spirit, which unveils a supernatural dimension and is projected as his theyyam. Theyyam literally means daivam or godhead. It can be his death itself. It is the spirit half-released from the wounded Duryodhana, on its way towards 'moksha' or salvation, his own conscience advocating all his virtues." Panikkar presents a split person on stage through the creative use of the fold tradition of Malabar – Theyyam (Daivam – Deva). The broken body is Duryodhana, his goodness raises from it as in the form of Theyyam. There are no better instances to show the use of indigenous myths and traditions to explain a classical drama.

(b) Ramayana Plays**(i) Pratima Natakam**

Panikkar had picked up some of the subtle images in the text for his production and these threads were traced throughout the script to its logical and aesthetic completion. The first one is the use of वल्कल which Sita wears throughout the first scene, for apparently no reason whatsoever Sita and Rama develop an affinity towards it. The stage property is used to foreshadow the course of events that follow. Second, the concept of Pratima Dasharath's death is shown by his transformation into Pratima to keep his memories alive and intact forever to his successors. This idea is taken to a different dimension that they even play a vital role in the earthly matters. They guide Bharata to the प्रतिमागृह from where he comes to know about his father's death. They also inform Rama that his father has joined his ancestors. A non-textual text has been taken from the original Ramayana. "मातरम् रक्ष कैकेयीम् – माँ रोषम् कुरु ताम् प्रति" Rama gives this advice to Bharata which reverberates to the end through the Pratimas. The word 'Pratima' has another connotation also. It also carries the meaning of 'प्रति-मा' i.e. towards mother thereby suggesting Bharata's whole heartedly moving towards Kaikeyi after learning about the curse of a sage upon Dashratha from her.

(c) Legendary Plays**(i) Charudatta**

'Charudatta' was construed by Panikkar as an अवस्था – a state of being. It is believed that the text is a fragment and not a complete play. But Panikkar did not take it as a weak point, rather he made it a forte, as the image and suggestions, which occur in the text, provide contextual inputs for a virtual completion of a thought process. It was visualized that the unfinished story line can suggest its never-ending quality also. There is no denouement envisaged in the young courtesan's love for Charudatta, but it remains pervading and keeps as fresh as at its emanant point of love at first sight and as a result the character goes through her firm belief that her blemish of being a courtesan will be got rid off by the intense love for an impoverished man like Charudatta. In the end she sets out on a journey in search of her cherished dream - a search which keeps her always suffer the pangs of separations in love.

(ii) Swapna Katha

Basically inspired by the fifth Act of 'Svapnavasavadattam' a concept of dream in its theatrical and ideological level is discussed by Panikkar in the subtext against the background of the experience of Udayana. The territorial division of the performance space into स्वप्न कक्ष्या and सत्य कक्ष्या suggest the multi layer dimensions of interpretation of Bhasa's imagery and symbolism. The घोषवती वीणा thus gains a double significance as a musical instrument turned into a weapon. Same way the image of the elephant is also derived from Bhasa to represent kamamada – passion, turned into strength. The added image of lion is designed to defeat kamamada (passion) as it is found by Yaugandharayana, the faithful and intelligent minister of Udayana, an obstacle in obtaining the ultimate goal, namely, regaining his lost territory of Kausambi – observes Panikkar in his Director's note.

Panikkar's Production of Kalidasa's Plays**(i) Malavikagnimitram**

Panikkar reduces the plot of Kalidasa's 'Malavikagnimitram', a play which deals with a highly romantic theme of love between the king and a princess in the harem whom the queen keeps away from his sight, from five acts to two. Here, the action centres round a single metaphor – Ashoka tree. How the तपनीय – अशोक becomes कुसुमित – अशोक? Panikkar himself explains, "Malavikagnimitra is widely acknowledged and accepted as a romantic play having शृंगार as its main rasa. However, this production is reinterpreted as combination of शृंगार, करुण, वीर and हास्य rasas, which are woven around the अशोक वृक्ष. Ashoka is not only a reference tree to establish the chastity of Malavika, but also a symbol of the aspirations of the country. Ashoka becomes 'shoka' when it does not blossom within a natural cycle and hence becomes the main cause of the sorrow – शोक for the whole society. All incidents and characters of the play are supportive of अशोक. That is why the Ashoka plays a significant role in this production and is depicted as a living character, instead of being just a tree. The myth of Ashoka tree is established by Malavika, supported by Agnimitra and Kaushiki."

(ii) Vikramorvashiyam

Love, as the 'mangalacharan' of Kavalam's 'Vikramorvashiyam' seems to suggest is to invoking the प्रकृति in all its meanings within oneself. The refore love of Pururava for Urvashi is an attempt of his to find the external nature प्रकृति and internal nature स्वभाव within himself. As a result of the नाट्यधर्मी or मार्गी imagination of Kavalam the ashoka tree comes into the centre of the 'Malavikagnimitram' and in 'Vikramorvashiyam' Urvashi becomes one with the forest where she disappears she makes her individual appearance against only when Pururava is able to internalise the forest and is able to see the forest as the description of Urvashi, not as आहार्य of Urvashi but as her आंगिक. In Panikkar's theatre 'Malvika and Agnimitra' as well as 'Urvashi and Pururava' are the embodiment of and Malavika and Urvashi are the embodiment of प्रकृति and Agnimitra and Pururava are पुरुष embodied. Kavalam reinterpretes the सांख्य notion of पुरुष-प्रकृति. For him in the light of love, पुरुष and प्रकृति become lover and the beloved and then he adds another dimension to प्रकृति, in his theatre it becomes not only the loved one but also the embodiment of nature. Thus a completely new Malavika and Urvashi come into being and take the centre stage in his presentation of these plays.

(iii) Abhijnana-Shakuntalam

In 'Abhijnana-Shakuntalam', Panikkar combines two textual references मृगया विहारी पार्थिवो दुध्यन्तः and 'प्रकृति हिताय पार्थिव' to bring out an interpretative meaning for the production 'मृगया विहारी' clearly indicates the king's disposition and the reaction of his subjects on his hunt of different stages. It is evident from the dramatic text that Dushyanta's hunt which started with a hunt for the animal, has ultimately culminated in the hunt of the poor girl Shakuntala, who is also another deer of the forest, the textual words lead to the contextual acting by which Shakuntala represents nothing but nature. The play is also about an interaction between the group and the individual – the king and people at large – one complimentary to the other. 'प्रकृति हित' is 'प्रजा हित' – welfare of the people – to which the king is bound by duty. According to Panikkar the dramatic text emphasizes the fact in a very subtle manner that the limit of one's own rights irrespective of whether one is the ruler or the ruled has to

be prescribed by some super imposed sanction, lest the social equilibrium would be disturbed. Whichever age we belong to, the problem repeats in different contemporary dimensions.

Panikkar's Production of Bhavabhuti's Play

Uttararamacharitam

The performance text of Bhavabhuti's 'Uttararamacharitam' as evolved by Panikkar presents in its protagonist, two Ramas. In bhava rasa parlance one can feel the presence of Karuna Rama, the human being that essentially he is, always superceded by Raja Rama, the heroic presence with an upsurge of exuberance. The internal conflict caused due to confusion in identity is a common phenomenon for any upright human being committed in a socially bound context which is, according to Panikkar, a matter concerning 'Dharma' – a global ethics.

Transformation of Dramatic Text into Performance Text in Panikkar's Theatre

Panikkar 'decolonized' the theatre by challenging the colonial construction of theatre as a text-based phenomenon through (re) turning to indigenous performance – driven theatre. Panikkar redefined modern Indian theatre by creating which he calls 'Thanathunatakavedi' i.e. 'our own theatre.' He combined the dramaturgical structure of Kutiyattam, the actor training methods of Kathakali, the physical training of Kalarippayattu and aesthetic theory from the 'Natyashastra' and 'Abhinava Bharati' with staging patterns dictated by the perspectival requirements of the proscenium stage in a relatively fixed, repeatable production.

In rehearsal and production, Panikkar treats the dramatic text the way Kutiyattam performer does : as a framework for a series of elaborations. Plays in the Kutiyattam repertoire, like plays in the Kathakali repertoire, are valued for their literary qualities, but even more for their ability to stimulate the performer's imagination to create interesting improvisations on the text. Similarly, what Panikkar values in the plays he directs is their ability to evoke visual and aural images that can be realized on stage, creating multiple ways of experiencing and processing the themes of the play. The structure of Panikkar's productions is modelled on the performance structure of Kutiyattam, which allows for multiple interpretations of the events in the dramatic text on the part of the director, actor and spectator, through elaboration which challenges the notion that ultimate authority lies in the dramatic text and with the playwright and places creative authority with the director, actors and spectators.

References

Director's notes from play brochures.

Mee, Erin B. *Theatre of Roots: Redirecting the Modern Indian Stage*. Enactments Series, Seagull Books, 2008.

Vajpeyi, Udayan, editor. *K. N. Panikkar: The Theatre of Rasa*. Natarang Pratishthan Series on Modern Indian Theatre, Niyogi Books, 2012.

गुन्देचा, संगीता. *कावालम नारायण पणिक्कर : परम्परा और समकालीनता*. प्रथम संस्करण, वाणी प्रकाशन, 2014.

A Study on Role and Challenges of Medical Social Service Officer in Pediatrics Department of Tertiary Health Setting

Vikas Bajpai*
vikasbajpai167@gmail.com

Abstract

The Pediatrics Department in tertiary healthcare institutions is responsible for the treatment and management of infants, children, and adolescents suffering from acute, chronic, congenital, developmental, and life-threatening illnesses. In such healthcare settings, the role of the Medical Social Service Officer (MSSO) becomes highly significant in addressing the psychosocial, emotional, financial, and environmental needs of pediatric patients and their families. The present study is based on secondary data and aims to examine the role and challenges of Medical Social Service Officers in pediatric departments of tertiary healthcare settings. Data for the study were collected from books, peer-reviewed journals, government reports, WHO and UNICEF publications, healthcare policy documents, and academic research articles. The study reveals that MSSOs play a vital role in psychosocial counseling, rehabilitation services, child protection, financial assistance, healthcare coordination, discharge planning, and family support services. However, MSSOs continue to face several institutional and professional challenges, including excessive workload, shortage of trained personnel, inadequate infrastructure, emotional burnout, communication barriers, and lack of professional recognition within multidisciplinary healthcare systems. The study concludes that strengthening medical social work services in pediatric healthcare settings is essential for ensuring holistic healthcare delivery, improving treatment compliance, enhancing rehabilitation outcomes, and promoting child-centered healthcare practices in tertiary hospitals.

Keywords:

Medical Social Service Officer, Pediatrics Department, Tertiary Healthcare, Medical Social Work, Child Health, Psychosocial Care

Introduction

Health is a multidimensional concept that encompasses physical, mental, emotional, and social well-being. In tertiary healthcare institutions, treatment of pediatric patients requires not only medical intervention but also psychosocial, emotional, and environmental support for children and their caregivers. Children suffering from chronic illnesses, congenital disorders, cancer, disabilities, infectious diseases, trauma, and developmental disorders frequently experience psychological stress,

*** Research Scholar, Department of Social Work, Mahatma Gandhi Kashi Vidyapith, Varanasi**

fear, anxiety, and social disturbances. Simultaneously, their families encounter emotional distress, financial burden, social isolation, uncertainty, and care giving challenges during hospitalization and treatment.

Medical Social Work is an important component of hospital-based healthcare services that addresses psychosocial issues associated with illness, hospitalization, rehabilitation, and healthcare accessibility. Medical Social Service Officers (MSSOs) function as a bridge between patients, caregivers, healthcare professionals, welfare agencies, and community support systems. Within pediatric healthcare settings, MSSOs provide counseling services, psychosocial assessment, rehabilitation planning, child protection interventions, financial guidance, discharge planning, and community linkage services to ensure continuity of care and holistic healthcare management.

The increasing burden of childhood illnesses, growing complexity of healthcare systems, rising healthcare expenditure, and expansion of tertiary healthcare institutions have further enhanced the importance of Medical Social Work services. Research studies indicate that psychosocial support significantly improves treatment adherence, emotional adjustment, caregiver participation, healthcare accessibility, rehabilitation outcomes, and patient satisfaction among pediatric populations.

Despite their significant contribution to healthcare delivery, MSSOs continue to face multiple professional and institutional challenges. Shortage of trained healthcare personnel, excessive workload, lack of infrastructural facilities, emotional stress, communication barriers, inadequate institutional support, and limited professional recognition adversely affect their efficiency and quality of service delivery within pediatric healthcare settings.

Therefore, the present study attempts to examine the role and challenges of Medical Social Service Officers in pediatric departments of tertiary healthcare institutions and suggest measures for strengthening medical social work services within pediatric healthcare systems.

Need of the Study

Pediatric healthcare requires a holistic and multidisciplinary approach that addresses both medical and psychosocial dimensions of illness. Hospitalization of children often creates emotional trauma, social stress, economic burden, and psychological disturbances among family members and caregivers. Many families experience financial crises, social isolation, uncertainty regarding treatment outcomes, and difficulty in managing long-term rehabilitation needs during hospitalization of children in tertiary healthcare institutions.

Medical Social Service Officers play a significant role in helping families cope with these psychosocial challenges through counseling, financial guidance, rehabilitation support, and healthcare coordination. However, limited research has been conducted regarding the specific role and challenges of MSSOs in pediatric healthcare settings, particularly within the Indian context. Existing studies largely focus on general hospital social work rather than department-specific psychosocial interventions in pediatric healthcare services.

Therefore, the present study is important for understanding the contribution of MSSOs in pediatric departments, identifying institutional and professional challenges affecting their service delivery,

and suggesting measures for strengthening Medical Social Work services in tertiary healthcare institutions.

Objectives of the Study

Major Objective: To examine the roles and challenges of Medical Social Service Officers (MSSOs) in pediatric departments of tertiary healthcare settings.

Specific Objectives:

1. To examine the psychosocial services provided by MSSOs to pediatric patients and their families.
2. To identify the major professional and institutional challenges faced by MSSOs in pediatric healthcare settings.
3. To study the importance of multidisciplinary collaboration in pediatric healthcare management.
4. To analyze the contribution of MSSOs toward rehabilitation and continuity of care.
5. To suggest measures for strengthening Medical Social Work services in tertiary healthcare institutions.

Research Methodology

The present study is based on secondary data analysis. Information for the study was collected from books, peer-reviewed journals, research articles, government healthcare reports, WHO publications, UNICEF reports, healthcare policy documents, and online academic databases related to pediatric healthcare and Medical Social Work. The collected information was analyzed descriptively and thematically to understand the role, functions, and challenges of Medical Social Service Officers in pediatric healthcare settings. No primary data collection (surveys, interviews, or observations) was conducted. The study synthesizes existing evidence to provide a comprehensive overview of MSSO roles and challenges in pediatric tertiary care, with a focus on the Indian context while also drawing on international insights where relevant.

Review of Literature

Gupta et al. (2020) highlighted the contribution of Medical Social Service Officers during the COVID-19 pandemic and emphasized that MSSOs played a crucial role in providing psychosocial support, healthcare coordination, welfare linkage, and emergency resource mobilization for vulnerable patients and families.

Savarkar (2026), in a study on medical social work practice within India's public healthcare system, observed that MSSOs play a significant role in safeguarding patient dignity, facilitating healthcare accessibility, and addressing structural inequalities affecting vulnerable populations.

Arokiasamy discussed the problems and challenges associated with Medical Social Work practice in hospital settings and identified excessive workload, inadequate staffing, infrastructural limitations, and lack of institutional recognition as major barriers affecting effective psychosocial service delivery.

A systematic review published in *Children and Youth Services Review* (2024) emphasized the importance of medical social workers in pediatric wards and highlighted the need for psychosocial support services for hospitalized children and caregivers. The review indicated that psychosocial interventions improve emotional adjustment, treatment adherence, rehabilitation participation, and caregiver coping mechanisms.

Alfandari and Taylor (2023) studied multidisciplinary child protection decision-making in hospital settings and highlighted the critical role of medical social workers in identifying cases of child abuse, neglect, domestic violence, abandonment, and safeguarding concerns.

Mehta et al. (2024), in a scoping review on healthcare workforce shortages in India, identified inadequate infrastructure, shortage of trained healthcare professionals, excessive patient burden, and insufficient professional training as major barriers affecting healthcare service delivery within tertiary institutions.

Park (2021), in *Textbook of Preventive and Social Medicine*, explained that healthcare services must address not only physical illness but also emotional, environmental, and social determinants affecting health outcomes and healthcare accessibility.

Sharma (2019), in *Medical and Psychiatric Social Work*, highlighted the significance of psychosocial interventions in pediatric healthcare settings and emphasized that children require specialized emotional support because of their psychological dependency on caregivers and family environments.

Rao (2020) examined the role of Medical Social Work within hospital administration and observed that MSSOs significantly contribute toward discharge planning, rehabilitation services, healthcare coordination, counseling, welfare linkage, and continuity of care.

Bhattacharya (2021) emphasized that medical social workers play an important role in reducing healthcare inequalities and improving healthcare accessibility among economically weaker and marginalized populations through advocacy and psychosocial interventions.

UNICEF India (2022) highlighted that children suffering from malnutrition, chronic illnesses, disabilities, developmental disorders, and social vulnerabilities require integrated healthcare and psychosocial support services for effective rehabilitation and social inclusion.

WHO (2023) stressed the importance of child-centered and family-centered healthcare approaches in pediatric healthcare systems. The report recommended integration of psychosocial support services, rehabilitation programs, and family counseling within healthcare institutions to improve treatment outcomes and emotional well-being of children.

Verma (2021) studied occupational stress among healthcare social workers and found that continuous exposure to critically ill patients; emotional trauma, death-related situations, and excessive workload significantly contribute toward professional burnout among healthcare social workers.

Kumar (2020) examined communication barriers within healthcare systems and observed that low literacy levels, language diversity, socio-cultural differences, and inadequate communication practices create barriers between healthcare providers and patient families.

The review of literature clearly indicates that Medical Social Service Officers play a crucial role in pediatric healthcare by providing psychosocial support, counseling services, healthcare coordination, rehabilitation assistance, child protection interventions, and financial guidance. However, the literature also reveals that MSSOs face significant professional and institutional challenges that adversely affect their efficiency and psychosocial service delivery within tertiary healthcare institutions.

Findings and Discussion

The secondary data analysis reveals several key themes regarding the roles and challenges of MSSOs in pediatric departments of tertiary healthcare settings. These themes correspond to the specific objectives of the study.

1. Psychosocial Services Provided by MSSOs

MSSOs in pediatric departments provide a wide range of psychosocial services that are integral to holistic care:

- **Psychosocial assessment and counseling:** MSSOs conduct structured assessments of children and families to identify emotional distress, anxiety, fear, family conflict, and coping difficulties. They provide individual and family counseling to help children and caregivers manage the psychological impact of illness, hospitalization, and treatment.
- **Emotional support and coping facilitation:** Children with chronic or life-threatening conditions often experience fear, regression, and behavioral disturbances. MSSOs use age-appropriate interventions, play-based techniques, and family-mediated strategies to support emotional adjustment and reduce hospital-related trauma.
- **Caregiver support:** Parents and other caregivers face significant emotional and psychological stress. MSSOs provide counseling, stress management guidance, and peer support linkage to help caregivers cope with uncertainty, grief, and long-term caregiving demands.
- **Health education and communication:** MSSOs bridge communication gaps between medical teams and families by explaining diagnosis, treatment plans, and prognosis in understandable terms. They help families navigate complex healthcare systems and make informed decisions.

These services align with the broader understanding that health includes mental and social well-being, not merely absence of disease.

2. Major Professional and Institutional Challenges

The study identifies several persistent challenges faced by MSSOs in pediatric settings:

- **Excessive workload and staffing shortages:** MSSOs often manage large caseloads with limited staff, leading to time pressure and reduced quality of psychosocial interventions. Mehta et al. (2024) note that workforce shortages in India's health sector, including social work, are a major barrier to effective service delivery.

- **Inadequate infrastructure and resources:** Many tertiary hospitals lack dedicated social work offices, private counseling spaces, and systematic documentation systems. This limits the effectiveness and confidentiality of psychosocial services.
- **Emotional burnout and occupational stress:** Continuous exposure to critically ill children, death, family distress, and complex ethical dilemmas contributes to emotional exhaustion and burnout among MSSOs. Verma (2021) emphasizes that such stressors significantly affect professional well-being and service quality.
- **Communication barriers:** Differences in language, low literacy levels, and socio-cultural diversity can hinder effective communication between MSSOs, medical staff, and families. These barriers reduce the impact of counseling and care planning.
- **Lack of professional recognition:** In many multidisciplinary teams, MSSOs are not fully recognized as essential team members. Their contributions are often undervalued compared to medical and nursing staff, affecting decision-making power and resource allocation.

These challenges limit the scope and effectiveness of medical social work in pediatric departments, despite its clear benefits.

3. Importance of Multidisciplinary Collaboration

Pediatric healthcare management is inherently multidisciplinary, involving pediatricians, nurses, psychologists, nutritionists, physiotherapists, and social workers. The literature underscores the critical role of MSSOs in this collaborative framework:

- **Child protection and safeguarding:** MSSOs play a central role in identifying and managing cases of child abuse, neglect, abandonment, and domestic violence. They collaborate with medical teams, legal authorities, and child protection agencies to ensure child safety and legal compliance.
- **Care coordination:** MSSOs coordinate between various departments and external agencies to ensure continuity of care, especially for children requiring long-term treatment, rehabilitation, or follow-up. **Discharge planning:** MSSOs contribute significantly to discharge planning by assessing home environments, arranging follow-up services, linking families to community resources, and ensuring that vulnerable children do not face abrupt discontinuation of care.
- **Advocacy and equity:** MSSOs advocate for economically weaker and marginalized families, helping them access financial assistance, welfare schemes, and entitlements. This reduces healthcare inequalities and improves access for vulnerable populations.

Multidisciplinary collaboration enhances the comprehensiveness of pediatric care and ensures that psychosocial dimensions are not overlooked.

4. Contribution of MSSOs to Rehabilitation and Continuity of Care

MSSOs contribute significantly to rehabilitation and continuity of care in several ways:

- **Rehabilitation planning:** MSSOs assess family and community resources, coordinate with rehabilitation professionals, and develop individualized plans that address physical, emotional, educational, and social needs of children with chronic conditions or disabilities.
- **Continuity of care:** By linking families to community-based services, outpatient follow-up programs, and support groups, MSSOs help ensure that children continue to receive necessary care after discharge. This is particularly important for children with long-term conditions requiring ongoing management.
- **Family-centered and child-centered approaches:** WHO (2023) and UNICEF (2022) emphasize child-centered and family-centered care models, in which MSSOs are key facilitators. These approaches improve treatment outcomes, emotional well-being, and social inclusion.

The systematic review in *Children and Youth Services Review* (2024) confirms that psychosocial interventions by medical social workers improve treatment adherence, emotional adjustment, and caregiver coping, thereby enhancing rehabilitation outcomes.

5. Measures for Strengthening Medical Social Work Services

Based on the findings, the following measures are recommended to strengthen Medical Social Work services in tertiary healthcare institutions:

- **Increased staffing and reduced caseloads:** Institutions should recruit sufficient numbers of trained MSSOs to ensure manageable caseloads and high-quality psychosocial interventions. This addresses the workforce shortage identified by Mehta et al. (2024).
- **Specialized training and capacity building:** MSSOs should receive specialized training in pediatric social work, child development, trauma-informed care, child protection, and communication skills. Training programs should be integrated into postgraduate social work curricula and continuing professional development.
- **Infrastructure development:** Hospitals should provide dedicated social work offices, private counseling rooms, and systematic documentation systems to ensure confidentiality and effective service delivery.
- **Institutional recognition and policy support:** Medical social work should be formally recognized as an essential component of multidisciplinary pediatric care in hospital policies and accreditation standards. This would enhance professional status and resource allocation.
- **Strengthening multidisciplinary collaboration:** Regular case conferences, integrated care teams, and clear referral mechanisms should be established to ensure effective collaboration between MSSOs, medical staff, and other professionals.
- **Mental health support for MSSOs:** Institutions should provide supervision, peer support groups, and mental health services to address occupational stress and prevent burnout among MSSOs.

- **Integration of psychosocial services into routine care:** Psychosocial assessment and counseling should be integrated into standard pediatric care protocols, not treated as optional or supplementary services.

These measures, if implemented, would significantly improve the effectiveness and reach of medical social work in pediatric tertiary care.

Implications

The study has several practical and policy implications:

- **For hospital administrators:** Recognizing and strengthening medical social work services can improve overall pediatric care quality, treatment compliance, and patient/family satisfaction.
- **For policymakers:** Including medical social work in national health policies, accreditation standards, and workforce planning can ensure systematic integration of psychosocial services in pediatric care.
- **For social work educators:** Curricula should emphasize pediatric social work, child development, child protection, and interdisciplinary collaboration to prepare MSSOs for tertiary care settings.
- **For practitioners:** MSSOs should continue to advocate for their role, document outcomes, and engage in research to strengthen the evidence base for medical social work in pediatric care.

Limitations

The present study has some limitations:

- It is based solely on secondary data; no primary data from MSSOs, pediatric patients, or families were collected.
- The study does not provide quantitative measures of service outcomes or workload.
- The geographical focus is primarily on India, with some international references; findings may not be fully generalizable to all contexts.
- Some references are older or lack full publication details; future studies should incorporate more recent, peer-reviewed, and empirically robust studies.

These limitations suggest the need for future primary research, including surveys, interviews, and outcome evaluations of MSSO interventions in pediatric departments.

Conclusion

Medical Social Service Officers play a vital role in pediatric healthcare settings by addressing psychosocial, emotional, economic, and rehabilitation-related needs of children and their families. Their contribution is essential for ensuring holistic healthcare delivery within tertiary healthcare institutions. MSSOs help families cope with emotional stress, arrange financial assistance,

strengthen rehabilitation support, ensure continuity of care, and improve healthcare accessibility among vulnerable populations.

However, MSSOs continue to face several institutional and professional challenges, including excessive workload, shortage of trained personnel, emotional burnout, inadequate infrastructure, communication barriers, and limited professional recognition. These barriers restrict the effectiveness of psychosocial interventions and reduce the overall efficiency of Medical Social Work services within healthcare institutions.

Therefore, strengthening Medical Social Work services through increased staffing, institutional support, specialized training, infrastructure development, and multidisciplinary collaboration is essential for improving pediatric healthcare outcomes and promoting child-centered healthcare practices in tertiary healthcare settings.

References

- Alfandari, R., & Taylor, B. J. (2023). Multi-professional child protection decision making in hospital settings.
- Arokiasamy, P. Medical social work in hospital settings: Problems and challenges. *Think India Journal*.
- Barker, R. L. (2014). *The social work dictionary* (6th ed.). NASW Press.
- Bhattacharya, S. (2021). *Social work intervention in healthcare*. Routledge.
- Children and Youth Services Review. (2024). Need for medical social workers in pediatric wards.
- Friedlander, W. A. (1958). *Concepts and methods of social work*. Prentice-Hall.
- Gehlert, S., & Browne, T. A. (2019). *Handbook of health social work* (3rd ed.). Wiley-Blackwell.
- Government of India. (1946). *Report of the Health Survey and Development Committee (Bhore Committee Report)*. Ministry of Health.
- Gupta, A., Sodhi, J., Shekhar, B. R., & Sharma, D. K. (2020). Medical Social Service Officers and their contribution in COVID-19 pandemic. *Indian Journal of Community Health*.
- Kumar, M. (2019). Hospital social work in India: An overview. *Indian Journal of Social Research*.
- Kumar, S. (2020). Communication barriers in healthcare services. *Journal of Health Communication*.
- Mehta, V., et al. (2024). Human resource shortage in India's health sector: A scoping review. *BMC Public Health*.
- National Medical Commission. (2020). *Guidelines for medical colleges and healthcare institutions*. Government of India.

- Ottosen, M. H. (2021). Long-term medical conditions and family impact on child wellbeing. *International Journal of Child and Family Welfare*.
- Park, K. (2021). *Textbook of preventive and social medicine*. Banarsidas Bhanot.
- Rao, P. (2020). *Medical social work and hospital administration*. Sage Publications.
- Savarkar, T. (2026). Between duty and dignity: Navigating medical social work practice in India's public healthcare system. *Social Work in Health Care*.
- Sharma, R. C. (2019). *Medical and psychiatric social work*. Atlantic Publishers.
- SidiqPandit, S. (2019). Medical social workers' intervention in patients' post-diagnosis period. *International Journal of Advanced Research*.
- Stroup, H. H. (1948). *Social work: An introduction to the field*. American Book Company.
- UNICEF India. (2022). *Child healthcare and protection report*. UNICEF.
- Verma, P. (2021). Occupational stress among healthcare social workers. *Indian Journal of Social Research*.
- World Health Organization. (2022). *Social determinants of health*. WHO Publications.
- World Health Organization. (2023). *Child health and development report*. WHO Publications.
- Yatheesh Bharadwaj, H. S., Koujalgi, S. R., & Kori, A. (2024). Exploring the role of medical social workers in teaching and non-teaching hospitals. *International Journal of Social Health*, 3(4), 296–302.

A Study on Role and Challenges of Medical Social Service Officers in The Department of Obstetrics & Gynecology

Dr. Deepika Chauhan*

deepimsw@gmail.com

ABSTRACT

Medical Social Service Officers (MSSOs) play an essential role in bridging the gap between medical treatment and psychosocial care within healthcare institutions. In the Department of Obstetrics and Gynecology, patients often experience emotional distress, social stigma, financial hardship, family conflicts, and psychological trauma associated with pregnancy, childbirth, infertility, gynecological disorders, and reproductive health complications. MSSOs contribute significantly to holistic healthcare delivery through psychosocial counseling, crisis intervention, financial assistance facilitation, patient advocacy, rehabilitation planning, and community linkage services.¹

The present study examines the role and challenges of Medical Social Service Officers working in Obstetrics and Gynecology departments in tertiary healthcare settings in India. The study is based on secondary data collected from books, research journals, institutional reports, government guidelines, and published literature related to medical social work and maternal healthcare. The findings reveal that MSSOs perform diverse responsibilities including psychosocial assessment, counseling, welfare scheme facilitation, discharge planning, crisis management, rehabilitation services, and interdisciplinary coordination.²

The study also identifies several professional and institutional challenges faced by MSSOs such as inadequate staffing, excessive workload, lack of professional recognition, insufficient specialized training, emotional burnout, poor infrastructure, and absence of standardized psychosocial intervention protocols.³ Policy-level and administrative barriers further limit the effectiveness of medical social work services in healthcare institutions.

The study recommends establishment of independent Departments of Medical Social Work, increased recruitment of MSSOs, specialized training programs focusing on obstetric and gynecological psychosocial care, development of standardized intervention protocols, strengthening of interdisciplinary collaboration, and enhanced institutional support systems. Strengthening the role of MSSOs can significantly improve psychosocial care, maternal health outcomes, healthcare accessibility, and patient satisfaction among vulnerable populations.

Keywords –

Medical Social Service Officer, MSSO, Obstetrics and Gynecology, Hospital Social Work, Maternal Health, Psychosocial Care, Healthcare Delivery, India.

*** Medical Social Service Officer, Department of Obstetrics & Gynecology**

Uttar Pradesh University of Medical Sciences (UPUMS), Saifai, Uttar Pradesh, India

INTRODUCTION

Healthcare is a multidimensional concept encompassing physical, psychological, emotional, social, and economic well-being. Modern healthcare systems increasingly recognize that medical treatment alone is insufficient to ensure comprehensive patient care. Social determinants such as poverty, illiteracy, gender discrimination, domestic violence, family instability, and lack of social support significantly influence health outcomes and healthcare utilization.⁵ Therefore, integration of psychosocial services within healthcare institutions has become essential for holistic healthcare delivery.

Medical Social Work is a specialized branch of professional social work that focuses on addressing psychosocial issues associated with illness, hospitalization, rehabilitation, and recovery. Medical Social Service Officers (MSSOs) function as a bridge between healthcare providers, patients, families, and community resources. Their role becomes particularly significant within Obstetrics and Gynecology departments where patients frequently encounter emotionally sensitive and socially complex situations related to pregnancy, childbirth, infertility, abortion, gynecological disorders, reproductive health issues, stillbirth, neonatal death, maternal complications, and gynecological cancers.⁶

Women receiving obstetric and gynecological services often face emotional stress, financial insecurity, social stigma, family conflicts, and psychological trauma. MSSOs provide psychosocial counseling, emotional support, crisis intervention, patient advocacy, financial assistance facilitation, and rehabilitation services to support women and their families during difficult circumstances. Their interventions contribute to improved treatment adherence, increased institutional delivery utilization, reduced patient anxiety, and better maternal healthcare outcomes.

Historically, Medical Social Work in India evolved following the recommendations of the Bhore Committee (1946), which emphasized the integration of social workers within healthcare institutions to address environmental and social determinants affecting patient health.⁸ The appointment of the first Medical Social Worker at Sir J.J. Hospital, Bombay, in 1946 marked the beginning of professional hospital social work practice in India.⁹ Subsequently, institutions such as the Tata Institute of Social Sciences (TISS), Mumbai, played an important role in developing professional training programs in Medical and Psychiatric Social Work.

The Medical Council of India (MCI), presently replaced by the National Medical Commission (NMC), recognized the importance of Medical Social Workers and recommended their appointment in major healthcare departments including Obstetrics and Gynecology.¹⁰ Despite these regulatory provisions, many healthcare institutions continue to experience shortages of MSSOs, lack of infrastructure, and inadequate institutional support systems.

MSSOs working in Obstetrics and Gynecology departments encounter multiple challenges including excessive workload, emotional burnout, insufficient staffing, lack of recognition, inadequate specialized training, and absence of standardized psychosocial intervention protocols.¹¹ Despite their significant contribution to holistic healthcare delivery, their role often remains under-recognized within healthcare systems.

Therefore, the present study aims to examine the roles and challenges of Medical Social Service Officers in Obstetrics and Gynecology departments and suggest recommendations for strengthening medical social work services in tertiary healthcare institutions.

OBJECTIVES OF THE STUDY

Primary Objective

To examine the role and challenges of Medical Social Service Officers (MSSOs) in the Department of Obstetrics and Gynecology in tertiary healthcare settings, with special reference to psychosocial care, patient support services, healthcare accessibility, interdisciplinary coordination, and institutional barriers affecting professional practice.

Specific Objectives-

1. To identify the major roles and responsibilities of MSSOs in OB/GYN departments.
2. To analyze the challenges faced by MSSOs during service delivery.
3. To assess the contribution of MSSOs toward patient care and healthcare accessibility.
4. To examine institutional support systems available for MSSOs.
5. To suggest recommendations for strengthening medical social work services in maternal healthcare settings.

RESEARCH QUESTIONS-

1. What are the primary roles and responsibilities of MSSOs in Obstetrics and Gynecology departments?
2. What challenges do MSSOs face while delivering psychosocial services?
3. How do institutional factors influence MSSO effectiveness?
4. What measures can improve medical social work services in OB/GYN settings?

SIGNIFICANCE OF THE STUDY

The present study is significant because it highlights the indispensable contribution of MSSOs in maternal and reproductive healthcare services. The findings may help hospital administrators strengthen psychosocial services and improve multidisciplinary healthcare coordination. The study may also assist policymakers in developing supportive policies for medical social work services within healthcare institutions.

Additionally, the research contributes to the limited academic literature available on Medical Social Work in India, particularly within Obstetrics and Gynecology settings. The study further emphasizes the importance of psychosocial care in improving maternal health outcomes and promoting health equity among vulnerable populations.

REVIEW OF LITERATURE

Friedlander defined Social Work as a professional service based on scientific knowledge and human relations skills that assists individuals and groups in achieving social adjustment and personal

satisfaction.⁶ Stroup described social work as an organized process of mobilizing social resources to help individuals solve personal and social problems through self-help methods.⁷

Medical Social Work developed as a specialized branch of social work practice focusing on psychosocial aspects of illness and healthcare. Medical Social Workers assist patients and families in coping with emotional stress, financial burden, rehabilitation difficulties, and social adjustment problems arising from illness and hospitalization.

Acharya examined the historical evolution of Medical Social Work in India and highlighted the contribution of MSSOs in addressing patient-related social and emotional problems within healthcare institutions.³ The study emphasized the need for strengthening institutional support systems and improving professional recognition of Medical Social Workers.

Kumar analyzed the development of Hospital Social Work in India and noted that Medical Social Workers perform critical functions including psychosocial counseling, welfare service coordination, rehabilitation planning, and healthcare accessibility support for economically weaker populations.²

Yatheesh Bharadwaj et al. explored the role of Medical Social Workers in teaching and non-teaching hospitals and emphasized the urgent need for establishing independent Departments of Medical Social Work in healthcare institutions.⁴ The study found that many hospitals lacked adequate staffing, infrastructure, and administrative support for Medical Social Work services.

Research conducted by Kumar on cadaver organ donation and transplant coordination demonstrated the important role of professionally trained social workers in counseling, public awareness, healthcare coordination, and family support during organ donation processes.¹⁵

B.R. Kumar documented the contribution of MSSOs during the COVID-19 pandemic and highlighted their involvement in psychosocial counseling, emergency response coordination, patient welfare services, and resource mobilization during healthcare crises.¹¹

According to Gehlert and Browne, Health Social Work focuses on addressing social determinants of health and improving healthcare accessibility through psychosocial interventions and community support systems.¹

A systematic review published in **BMC Pregnancy and Childbirth** identified major barriers affecting utilization of obstetric healthcare services in India, including poverty, illiteracy, social stigma, transportation barriers, and inadequate healthcare infrastructure.¹⁶ MSSOs play a crucial role in reducing these barriers through counseling, welfare linkage, and community mobilization activities.

Studies related to maternal mental health indicate that women experiencing pregnancy complications, infertility, stillbirth, and gynecological disorders are at increased risk of anxiety, depression, emotional distress, and social isolation. MSSOs contribute significantly toward providing emotional support, counseling, and crisis intervention services for such patients.¹²

Research on hospital social work practice also highlights that Medical Social Workers contribute to reducing treatment discontinuation, improving patient satisfaction, enhancing healthcare communication, and facilitating rehabilitation services. However, many studies have reported

challenges such as inadequate staffing, lack of institutional recognition, poor infrastructure, and limited policy support for Medical Social Work services.¹³

Despite increasing recognition of psychosocial healthcare needs, there remains limited research specifically examining the role and challenges of MSSOs in Obstetrics and Gynecology departments in India. Most available literature focuses on general hospital social work rather than department-specific psychosocial interventions and maternal healthcare services.

Therefore, the present study attempts to address this gap by focusing specifically on the experiences, roles, and challenges of MSSOs working within OB/GYN departments in tertiary healthcare institutions

RESEARCH GAP

1. Existing literature primarily focuses on general hospital social work rather than department-specific psychosocial interventions in Obstetrics and Gynecology departments.
2. Limited studies have examined the role of MSSOs in maternal mental health support and reproductive healthcare counseling.
3. Very few studies have explored occupational stress and emotional burnout among MSSOs working in OB/GYN settings.
4. Research regarding institutional support systems and interdisciplinary collaboration for MSSOs remains inadequate.
5. There is a lack of empirical studies focusing specifically on tertiary healthcare institutions in rural and semi-urban India such as UPUMS Saifai.

RESEARCH METHODOLOGY

The present study is descriptive and analytical in nature and is based on secondary data analysis. Data were collected from published books, research journals, government reports, institutional documents, WHO reports and academic literature related to Medical Social Work and maternal healthcare services.

The study was conducted with institutional reference to Uttar Pradesh University of Medical Sciences (UPUMS), Saifai. The contextual framework included Medical Social Service Officers working within Obstetrics and Gynecology departments in tertiary healthcare settings.

The collected data were systematically reviewed, categorized, interpreted, and analyzed qualitatively to examine the role and challenges of MSSOs in maternal healthcare settings.

ROLES AND RESPONSIBILITIES OF MSSOs IN OBS/GYN DEPARTMENTS

Medical Social Service Officers perform multiple responsibilities within Obstetrics and Gynecology departments. Their work extends beyond routine counseling and includes psychosocial assessment, crisis intervention, patient advocacy, rehabilitation planning, welfare facilitation, discharge planning, and community linkage services.

One of the primary responsibilities of MSSOs is psychosocial assessment. MSSOs assess the emotional condition, family environment, economic background, support systems, and social circumstances affecting treatment and recovery. Such assessments assist healthcare teams in developing holistic treatment plans tailored to patient needs.

MSSOs also provide counseling services for women experiencing high-risk pregnancies, infertility, pregnancy loss, gynecological disorders, domestic violence, reproductive health complications, and maternal mental health issues. Counseling helps patients cope with anxiety, depression, grief, fear, and emotional distress associated with maternal healthcare conditions.

Financial assistance facilitation is another major responsibility. MSSOs identify economically vulnerable patients and connect them with government welfare schemes such as Janani Suraksha Yojana (JSY), Janani Shishu Suraksha Karyakram (JSSK), and Pradhan Mantri Matru Vandana Yojana (PMMVY). They also coordinate with charitable organizations and hospital welfare funds to support financially disadvantaged patients.

MSSOs serve as patient advocates by ensuring that patients understand treatment procedures, consent processes, and healthcare rights. They facilitate communication between patients, families, and healthcare professionals to reduce misunderstandings and improve healthcare coordination.

Crisis intervention is especially important in Obstetrics and Gynecology settings where patients may experience stillbirth, maternal complications, emergency surgeries, neonatal death, or gynecological cancer diagnoses. MSSOs provide immediate emotional support and assist families in coping with traumatic situations.

Community linkage and rehabilitation planning also form important aspects of MSSO responsibilities. They connect patients with community health services, rehabilitation facilities, nutrition programs, self-help groups, and support organizations for continued care after discharge.

Additionally, MSSOs participate in health education programs related to antenatal care, postnatal care, nutrition, breastfeeding, reproductive health awareness, family planning, and institutional delivery promotion. These activities contribute toward preventive healthcare and maternal health promotion.

CHALLENGES FACED BY MSSOs IN OB/GYN SETTINGS

Despite their significant contribution, MSSOs face numerous professional and institutional challenges within healthcare settings.

One of the major challenges is inadequate recognition within multidisciplinary healthcare teams. MSSOs are often perceived as auxiliary staff rather than essential healthcare professionals, which limits their participation in clinical decision-making processes.

Insufficient staffing is another serious concern. In many tertiary hospitals, one MSSO is responsible for multiple departments, resulting in excessive workload and limited time for individualized patient care. High patient load reduces the effectiveness of psychosocial interventions and increases professional burnout.

Limited specialized training in obstetric and gynecological psychosocial care also affects service quality. Many MSSOs lack advanced training in reproductive health counseling, maternal mental health, trauma-informed care, domestic violence intervention, and grief counseling.

Resource constraints create additional barriers. Lack of private counseling spaces, inadequate office infrastructure, insufficient welfare funds, and bureaucratic delays in financial assistance schemes hinder effective service delivery.

Emotional burnout is another major occupational challenge. Continuous exposure to maternal death, stillbirth, infertility distress, domestic violence, and cancer-related suffering affects the emotional well-being of MSSOs. Limited opportunities for supervision and mental health support further increase occupational stress.

The absence of standardized psychosocial intervention protocols in OB/GYN settings also creates inconsistencies in service delivery. Different institutions follow varying practices without clear guidelines for counseling, crisis management, referral systems, or documentation procedures.

Institutional and policy-level barriers such as inadequate budget allocation, poor implementation of NMC guidelines, and lack of dedicated Departments of Medical Social Work further weaken the professional status of MSSOs within healthcare institutions.

FINDINGS OF THE STUDY

1. MSSOs play a multidimensional role in Obstetrics and Gynecology departments through psychosocial counseling, crisis intervention, welfare facilitation, and rehabilitation services.
2. MSSOs significantly contribute toward improving maternal healthcare accessibility and psychosocial support systems for vulnerable women.
3. High patient load and inadequate staffing adversely affect the quality of psychosocial care delivery.
4. Lack of institutional recognition and limited professional support systems negatively influence MSSO effectiveness.
5. Emotional burnout and occupational stress are common among MSSOs working in maternal healthcare settings.
6. Institutional reforms and specialized training programs are essential for strengthening medical social work services.

RECOMMENDATIONS

The study recommends the establishment of independent Departments of Medical Social Work within tertiary healthcare institutions to strengthen professional identity, improve coordination, and enhance psychosocial service delivery. Healthcare institutions should increase the recruitment of Medical Social Service Officers (MSSOs) and maintain appropriate staff-to-patient ratios, particularly in high-burden departments such as Obstetrics and Gynecology. Specialized training programs focusing on maternal mental health, reproductive health counseling, trauma-informed

care, domestic violence intervention, grief counseling, and crisis management should be introduced to enhance the professional competencies of MSSOs and improve the quality of psychosocial care services. Standardized intervention protocols for psychosocial assessment, counseling, crisis intervention, referral systems, and documentation should be developed at both institutional and national levels. Regular supervision, peer support mechanisms, stress management programs, and professional counseling services should also be provided to prevent emotional burnout among MSSOs. Furthermore, government authorities and healthcare policymakers should strengthen the implementation of National Medical Commission (NMC) guidelines regarding Medical Social Worker appointments and allocate dedicated financial resources for Medical Social Work services. Interdisciplinary collaboration among doctors, nurses, psychologists, and MSSOs should be encouraged to promote holistic healthcare delivery and improve maternal health outcomes.

CONCLUSION

Medical Social Service Officers (MSSOs) play a crucial role in ensuring holistic healthcare delivery within Obstetrics and Gynecology departments. Their contributions extend beyond psychosocial counseling to include crisis intervention, patient advocacy, welfare linkage, rehabilitation planning, health education, and community coordination. MSSOs significantly improve healthcare accessibility, strengthen patient support systems, enhance treatment adherence, and promote maternal healthcare utilization. However, MSSOs continue to face multiple professional, institutional, and emotional challenges, including inadequate recognition, excessive workload, insufficient staffing, lack of specialized training, poor infrastructure, emotional burnout, and limited policy support. These barriers reduce the effectiveness of psychosocial interventions and restrict the full potential of Medical Social Work services within healthcare institutions. Therefore, strengthening Medical Social Work services through institutional reforms, policy support, specialized training programs, standardized intervention protocols, and increased staffing is essential for improving maternal healthcare outcomes and promoting patient-centered healthcare delivery. The study concludes that MSSOs are indispensable members of multidisciplinary healthcare teams in Obstetrics and Gynecology departments and should receive greater professional recognition, institutional support, and opportunities for professional development to effectively address the psychosocial needs of women and families within healthcare settings.

REFERENCES

1. Gehlert, S., & Browne, T. (2019). "Handbook of health social work". American Medical Association.
2. Kumar, M. (2019). Hospital social work in India: An overview. "Indian Journal of Social Research".
3. Acharya, S. (2018). Medical social worker evolution in India. "Acta Scientific Medical Sciences, 2"(6).
4. Yatheesh Bharadwaj, H. S., Koujalgi, S. R., & Kori, A. (2024). Exploring the role of medical social workers in teaching and non-teaching hospitals. "International Journal of Social Health, 3"(4), 296–302.

5. World Health Organization. (2022). "Social determinants of health". WHO.
6. Friedlander, W. A. (1958). "Concepts and methods of social work". Prentice-Hall.
7. Stroup, H. H. (1948). "Social work: An introduction to the field". American Book Company.
8. Bhore Committee. (1946). "Report of the Health Survey and Planning Committee". Government of India.
9. Duggal, R. (1991). Bhore Committee and its relevance today. "Indian Journal of Pediatrics, 58", 395–406.
10. National Medical Commission. (2020). "Guidelines for medical colleges". Government of India.
11. Kumar, B. R. (2020). Medical Social Service Officers and their contribution in COVID-19 pandemic. "Indian Journal of Community Health, 32"(3).
12. SidiqPandit, S. (2019). Medical social workers intervention in patients post-diagnosis period. "International Journal of Advanced Research".
13. Ottosen, M. (2021). "Long-term medical conditions and family impact".
14. Indian Association of Preventive and Social Medicine. (2018). "Technical and operational guidelines for rural and urban health training centre".
15. Kumar, M. (2013). Role of social worker in cadaver organ donation and transplant coordination. "International Journal of Social Work and Human Services Practice, 1"(2), 101–104.
16. Barriers in utilization and provisioning of obstetric care services in India. (2024). "BMC Pregnancy and Childbirth, 24"(1), 16.
17. All India Institute of Medical Sciences. (2023). "AIIMS annual report 2022–23". AIIMS, New Delhi.
18. All India Institute of Medical Sciences. (2015). "AIIMS annual report 2014–15". AIIMS, New Delhi.

NOTES FOR AUTHORS

PADCHINHA: A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal

1. Submissions

Authors should send all submissions and resubmissions to padchinha@muditeducation.com some articles are dealt with by the editor immediately, but most are read by outside referees. For submissions that are sent to referees, we try to complete the evaluation process within one month. As a general rule, Padchinha operates a double-blind peer review process in which the reviewer's name is withheld from the author and the author's name is withheld from the reviewer. Reviewers may at their own discretion opt to reveal their name to the author in their review, but our standard policy is for both identities to remain concealed.

Absolute technical requirements in the first round are: ample line spacing throughout (1.5), an abstract, adequate documentation using the author-date citation system and an alphabetical reference list and a word count on the front page (include all elements in the word count). Regular articles are restricted to an absolute maximum of 8,000 words, including all elements (title page, abstract, notes, references, tables, biographical statement, etc.).

2. Types of articles

In addition to Regular Articles, Padchinha publishes the Viewpoint column with research-based policy articles, Review Essays, Book Review and Special Data Features.

3. The manuscript

The final version of the manuscript should contain, in this order:

- (a) title page with name(s) of the author(s), affiliation and Email
- (b) Abstract
- (c) Main text
- (d) List of references
- (e) Biographical statement(s)
- (f) Tables and figures in separate documents
- (g) Notes (either footnotes or endnotes are acceptable)

Authors must check the final version of their manuscripts against these notes before sending it to us.

The text should be left justified, with an ample left margin. Avoid hyphenation. Throughout the manuscripts, set line spacing to 1.5.

The final manuscript should be submitted in MS Word for Windows.

4. Language

Padchinha is a Bilingual Journal, i.e. English and हिंदी. The main objective of an academic journal is to communicate clearly with an international audience.

Elegance in style is a secondary aim: the basic criterion should be clarity of expression. We allow UK as well as US spelling, as long as there is consistency within the article. You are welcome to indicate on the front page whether you prefer UK or US spelling.

5. The abstract

The abstract should be in the range of 200-300 words. For very short articles, a shorter abstract may suffice. The abstract is an important part of the article. It should summarize the actual content of the article, rather than merely relate what subject the article deals with. It is more important to state an interesting finding than to detail the kind of data used: instead of 'the hypothesis was tested', the outcome of the test should be stated. Abstracts should be written

in the present tense and in the third person (This article deals with...) or passive (... is discussed and rejected). Please consider carefully what terms to include in order increasing the visibility of the abstract in electronic searches.

6. Title and headings

The main title of the article should appear at the top of pg. 1, followed by the author's name and institutional affiliation. The title should be short, but informative. All sections of the article (including the introduction) should have principal subheads. The sections are not numbered. This makes it all the more important to distinguish between levels of subheads in the manuscripts – preferably by typographical means.

7. Notes

Notes should be used only where substantive information is conveyed to the reader. Mere literature references should normally not necessitate separate notes; see the section on references below. Notes are numbered with Arabic numerals. Authors should insert notes by using the footnote/endnote function in MS Word.

8. Tables

Each Table should be self-explanatory as far as possible. The heading should be fairly brief, but additional explanatory material may be added in notes which will appear immediately below the Table. Such notes should be clearly set off from the rest of the text. The table should be numbered with a Roman numeral, and printed on a separate page.

9. Figures

The same comments apply, except that Figures are numbered with Arabic numerals. Figure headings are also placed below the Figure. Example: Figure 1.

10. References

References should be in a separate alphabetical list; they should not be incorporated in the notes. Use the APA form of reference.

11. Biographical statement

The biosketch in Padchinha appears immediately after the references. It should be brief and include year of birth, highest academic degree, year achieved, where obtained, position and current institutional affiliation. In addition authors may indicate their present main research interest or recent (co-)authored or edited books as well as other institutional affiliations which have occupied a major portion of their professional lives. But we are not asking for a complete CV.

12. Proofs and reprints

Author's proofs will be e-mailed directly from the publishers, in pdf format. If the article is co-authored, the proofs will normally be sent to the author who submitted the manuscripts. (Corresponding author). If the e-mail address of the corresponding author is likely to change within the next 6–9 months, it is in the author's own interest (as well as ours) to inform us: editor's queries, proofs and pdf reprints will be sent to this e-mail address. All authors (corresponding authors and their co-authors) will receive one PDF copy of their article by email.

13. Copyright

The responsibility for not violating copyright in the quotations of a published article rests with the author(s). It is not necessary to obtain permission for a brief quote from an academic article or book. However, with a long quote or a Figure or a Table, written permission must be obtained. The author must consult the original source to find out whether the copyright is held by the author, the journal or the publisher, and contact the appropriate person or institution. In the event that reprinting requires a fee, we must have written confirmation that the author is prepared to cover the expense. With literary quotations, conditions are much stricter. Even a single verse from a poem may require permission.



भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली द्वारा आयोजित तथा महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वार्धा द्वारा आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी (24-25 फरवरी 2025) में प्रस्तुत शोध-पत्रों का संकलन 'पदचिन्ह' पत्रिका के विशेषांक में प्रकाशित हुआ। इस विशेषांक का लोकार्पण संगोष्ठी के समापन सत्र में सम्पन्न हुआ।



महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वार्धा द्वारा आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी (अक्टूबर 2024) में प्रस्तुत शोध-पत्रों का संकलन 'पदचिन्ह' पत्रिका में प्रकाशित हुआ, जिसका लोकार्पण संगोष्ठी के उद्घाटन सत्र में किया गया।



के. एल. ई. संस्था, कर्नाटक द्वारा 10 जुलाई 2024 को आयोजित संगोष्ठी में प्रस्तुत शोध-पत्रों का संकलन 'पदचिन्ह' पत्रिका के विशेषांक में प्रकाशित किया गया, जिसका लोकार्पण संगोष्ठी के उद्घाटन सत्र में सम्पन्न हुआ।

पदचिन्ह के लिए प्रकाशक अजय परमार, बी. 30/239, नगवां,
लंका वाराणसी द्वारा प्रकाशित और सूर्या आफसेट, 30,
विवेकानंद कालोनी, मलदहिया, वाराणसी में मुद्रित।

संपादक : अजय परमार | सह-संपादक : पंकज कुमार सिंह - 9823696685